डा. ज़ाकिर हुसैन

राष्ट्रीय जीवन-चरित माला

डा. ज़ाकिर हुसैन

एक जीवनी

एम. मुजीब

अनुवादक

सुमगल प्रकाश

नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया

ISBN 81-237-0307-4

प्रथम संस्करण 1974 (शक 1896)
प्रथम आवृत्ति 1993 (शक 1914)

Dr. Zakir Husain *(Hindi)*

रु. 35.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क,
नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

प्रस्तावना

इस जीवनचरित को लिखने का काम ज़ाकिर हुसैन स्मारक समिति ने तत्कालीन शिक्षा-मंत्री डा. वी. के. आर. वी. राव के सुझाव पर मुझे सौपा था। डा. ज़ाकिर हुसैन के दामाद खुरशीद आलम खां से मुझे पता चला था कि उन्होने खुद भी यह उम्मीद की थी, बल्कि वह यह मान ही बैठे थे, कि मैं यह जीवनचरित लिखूंगा ही। यदि इस किताब को सामयिक महत्व वाली ही एक किताब होकर रह जाना था, तो इसे लिखने में मैंने जरूरत से ज्यादा ही वक्त ले लिया है। अच्छा होता की इसे किसी और ने ही लिखा होता, जिसने इसे लिखने की मुझसे ज्यादा तैयारी की होती, या जो इसके लिए मेरे मुकाबले ज्यादा वक्त दे सकता। अब तो मै इतना ही कह सकता हूं कि मुझे जो इज्जत बख्शी गई है, उसका मुझे पूरी तरह भान है और अपने को इस काम के बिलकुल ही अयोग्य न सिद्ध करने के लिए मैंने कुछ उठा नहीं रखा।

मेरा यह दावा नहीं है कि औरों के मुकाबले मैं डा. ज़ाकिर हुसैन के ज्यादा नजदीक था। बहुत बार उन्होंने मुझ पर यह दोष लगाया कि मैं उनसे दूर ही दूर रहने की कोशिश करता हूं, और बात गलत भी नहीं थी। बातचीत करने का उनका स्तर इतना ऊंचा था, छोटी से छोटी बातों तक में आश्चर्यजनक रूप से इतनी जानदार दिलचस्पी थी, विशिष्टता संपन्न बातों का उनका बोध इतना गहरा था कि उनकी मोहब्बत में मैं शायद ही कभी पूरी तरह असंकुचित हो पाता था। लेकिन जिस एक काम को लेकर हम दोनों का साथ हुआ था उसी की वजह से हमारा वह साथ क़ायम रहा आया, और वह मुझ पर इस लिए भरोसा करके चल सकते थे कि मैं भी अध्यापन, प्रबंध कार्य और लिखाई का अपना सारा बोझ पूरी तरह यह मानकर ढोने को तैयार रहता था कि यह बोझ कब किस तरह का होगा यह तय करना मेरा काम नहीं है। मैंने उनसे काम के सिवा कभी कुछ भी नहीं मांगा, ऐसा काम जो मैं कर सकूं, और मेरे लिए इतना साहचर्य ही काफी था।

यह जरूर मैं कबूल करता हूं कि, क्या प्रासंगिक है और क्या नहीं, इसके बारे में मैंने अपनी कसौटी का जरा कड़ाई के साथ ही इस्तेमाल किया है। समसामयिक घटनाओं का उल्लेख वहीं किया गया है जहां उन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन की जीवनधारा को प्रभावित

किया है, और उनके ऐसे सभी भाषणों को भी मैंने छोड़ दिया है जिनका उनके जीवनचरित की दृष्टि से महत्व नहीं है। जो लोग डा. ज़ाकिर हुसैन के साथ किसी भी तरह के व्यक्तिगत संबंध का दावा रखते थे उन सबका परिचय-ग्रंथ भी मैंने इस जीवनचरित को नहीं बनने देना चाहा है। इससे बहुतों को निराशा हो सकती है, या नाराजगी तक, लेकिन अगर भेदभाव और पक्षपात के आरोप से बचना था तो यह खतरा तो मुझे उठाना ही था।

मुझे कितने ही क्षेत्रों में मदद मिली है-गांधी स्मारक निधि से, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय से, और दूसरी भी सस्थाओं से। मेरे सहायक श्री जगन्नाथ सहाय ने, जो कि डा. ज़ाकिर हुसैन के कार्यालय स्टाफ में थे, जिस जोश और लगन के साथ काम किया है उससे यही जाहिर है कि डा. ज़ाकिर हुसैन के प्रति उनकी कितनी गहरी निष्ठा रही है। अपने निजी सहायक श्री ए. एल. आज़मी का भी मुझे शुक्रिया अदा करना है जिन्होंने डा. ज़किर हुसैन के स्कूल और कालेज जीवन की सामग्री लाकर दी, और अपने स्टेनोग्राफर श्री एम. अनीस का भी, जिन्होंने टाइप का काम समझदारी और इमानदारी के साथ किया।

इस जीवनचरित को लिखने के बाद इसके मसौदे को अपने कुछ और भी दोस्तो की राय जानने के लिए अगर मैं पढ़ने को दे सकता तो अच्छा होता, पर यह मुमकिन नही हो पाया। मेरे भाई स्वर्गीय प्रोफेसर एम. हबीब ने, और प्रोफेसर के. ए. निज़ामी ने, शुरू वाले दो अध्याय पढ़ लिए थे, और उनकी आलोचना से मुझे बहुत बड़ी मदद मिली थी।

अंत में मुझे शिक्षा मंत्रालय और नेशनल बुक ट्रस्ट का आभार स्वीकार करना है जिन्होंने कि इस जीवनचरित को तैयार करने के लिए आवश्यक खर्च की व्यवस्था की है।

नयी दिल्ली,
सितंबर 1971

एम. मुजीब

1. पारिवारिक पृष्ठभूमि और प्रारंभिक वर्ष

भारत के इतिहास में पठान लोग कितनी ही बुराईयों के कारण भी रहे हैं और उनके उपचार भी। भारतीय उपमहादेश का उत्तर-पश्चिमी सीमांत, जो उनका अपना देश है, खैबर, कुर्रम और बोलन दर्रों के उस पार पड़ता है, इन दर्रों की दुश्मनों के हमलों से रक्षा करते रहने और व्यापार के लिये जरूरत पड़ती थी। बारहवीं सदी के बीतते-बीतते, जब से कि ऐतिहासिक घटनाएं लिपिबद्ध की जाने लगीं, इन पठानों को हम हर ऐसी ताकत का प्रचंड प्रतिरोध करते पाते हैं जिसने उन्हें अपने नियंत्रण में लाना चाहा, या जिसने विधि और व्यवस्था के प्रारंभिक रूपों को भी उनसे मनवाना चाहा। युद्ध होने पर दिल्ली के सुल्तान, या बाद को मुगल शहंशाह, अगर काफी ताकतवर हो जाते थे तो अपनी अधिक बलशाली फौज के जरिये पठानों के स्वातंत्र्य-प्रेम को कुचल डालते थे। पर यह कुछ ही वक्त के लिये होता। दिल्ली के शासकों को जब किसी विदेशी हमले का खतरा नहीं रहता था तो उन्हें दो में से एक रास्ता चुनने के लिये लाचार होना पड़ता था—या तो सीमांत के पठानों को संतुष्ट रखने का कोई तरीका ढूंढ़ निकालें, और या एक ऐसे उजाड़ इलाके में बड़ी-बड़ी फौजों को बनाए रखें जहां आमदनी का कोई जरिया नहीं था। एक रास्ता यह निकाला गया कि पठानों को फौज में ही भरती कर लिया जाए और उनकी आबादी का जो हिस्सा फालतू हो उसे इस देश के अलग-अलग हिस्सों में बसाने की कोशिश की जाए। इस तरह पठानों ने लड़ने-भिड़ने की अपनी प्यास बुझाई, और उनमें से जो बुढ़ापे की वजह से लड़ाई के काबिल नहीं रह जाते थे वे फौज से छुट्टी पाकर इन बस्तियों में अपने ही लोग के बीच जा रहते थे और अपनी खेती बाड़ी करते थे, बाग-बगीचे लगाते थे और अपने बाल-बच्चों को सिखाते थे कि वे भी बड़े होकर मर्दानगी के पठानी आदर्श पर चलें। उनकी बस्तियां चाहे कहीं भी क्यों न हों, उनकी प्रेरणा का स्रोत उनकी मातृभूमि ही रहती थी। पीढ़ी-दर-पीढ़ी जहां तक मुमकिन था, वे अपनी पुश्तो बोली ही बोलते थे, और अपनी जनजातीय संस्कृति के उन सभी गुणों को अपने अंदर संजोए रखते थे जो उन हिंदुस्तानियों से अलग करते थे-उन हिंदुस्तानियों से जिन्हें वे किसी तरह भी अपनी बराबरी का दर्जा देने को तैयार नहीं थे।

लेकिन जहां अपने देश में ये पठान किसी भी बड़ा ताकत के सामने झुकने को तैयार

नहीं थे, वहां दूसरी ओर एक बार देश छोड़ देने पर, व्यक्तिगत रूप में ही नहीं, दलगत रूप में भी, वे पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ उस सरकार के अनुगत रहते थे जिसका वे नमक खाते थे। इस देश में उन्हे बसाने के लिये बस्तियों का चुनाव करते वक्त एक ख्याल यह भी रखा जाता था कि देहातों की दुर्दमनीय आबादी को दबाकर रखा जा सके, और इस फर्ज को अदा करने में पठान कभी नहीं चूके। प्रशासन और प्रबंध संबंधी क्षमता उनमें काफी ज्यादा थी, और वास्तुकला की भी उन्होने अपनी निजी ही शैली विकसित की थी। हुमायूं को भारत से बाहर खदेड़ देने वाला शेरशाह सूरी (मृत्यु-1545) पठानों के श्रेष्ठतम गुणों से संपन्न था–सिवा अपनी इस आदत के, कि अपनी जवानी में वह यही शिकायत करता रहा कि उसके बाप ने उसके साथ इंसाफ नही किया। वह एक विलक्षण राजनेता था जिसमें अपने समय की राजनीतिक और प्रशासनिक आवश्यकताओं की गहरी सूझबूझ थी; न्याय देने के मामले में वह बड़ा ही सख्त था; साथ ही उसका सौदर्य बोध भी ऐसा था कि अपने द्वारा निर्मित वास्तुशिल्प में वह शक्तिबोध को सौंदर्य-बोध मे परिणत कर देता था।

फिर भी, केवल लड़ाई-भिड़ाई और अपनी जमीन-जायदाद की देखभाल और प्रबंध ही पठानों की ऊर्जस्विता को खपाने के लिये काफी नहीं थी। बदन के खून की 'गरमी' दूर करने के निमित्त स्वस्थ और जवान पठानों के लिए खूनाखूनी कर बैठना आम बात थी, हांलाकि इसके बाद भी वे शायद ही कभी चैन से बैठ पाते हों। जरा-सी बात पर वे भड़क उठते थे और अक्सर उसी दम जवाबी हमला कर बैठते थे। विद्वानो या साधु-फकीरों को छोड़ बाकी सभी ऐसे लोगों को वे हिकारत की निगाह से देखते थे जो दब्बू या नरम स्वभाव के होते थे, और पठानों की हर बस्ती मे बात-बात पर झड़पें होती रहती थीं और कभी-कभी तो व्यक्तियों या संगठनों और दलों के बीच खूनाखूनी भी। शांति का ऐसा वातावरण उनकी प्रकृति के ही विपरीत था–जहा न जिन्दगी पर कोई खतरा हो और न जमीन जायदाद पर। बीसवीं सदी के चौथे दशक में जब मुगल बाज़ खां नाम का एक पठान सरदार पंजाब के लोक-सेवा आयोग का सदस्य होकर पहलेपहल लाहौर आया तो सारी रात उसे नींद नहीं आ पायी। संभाव्य आक्रमणकारियों के खतरे से चेतावनी देने के लिये रात-भर वह पिस्तोलों की गोलियों के दगने का आदी था, और उसके घर के आसपास हथियारबंद पहरेदार गश्त लगाते रहते थे। लाहौर के अंग्रेजी राज का वह शांत वातावरण एक ऐसे शून्य की भांति था जिसमें उसके लिये सांस लेना दूभर हो उठा।

पठान-स्भाव से ही निष्कपट होता है और तदनुरूप ही उसका आचरण है। एक बार जबान देकर वह मुकर नहीं सकता, और जिसका 'नमक' खाया है उसके प्रति और अपनी बिरादरी, दोस्त और उपकारी के प्रति निष्ठा रखना उसके लिये मर्दानगी की एक बड़ी पहचान है। अतिथि-सत्कार में तो वह अपना पूरा दिल ही खोल देता है। कहते है कि कोई मेहमान जब किसी पठान के दरवाजे पर दस्तक देता है तो मेजबान हाथ में एक लाठी, पानी से भरा एक प्याला, जेब में कुछ धन, और हुक्का लिये दरवाजा खोलने पहुंचता

है । मेहमान को बिना इंतजार किये ही मुंहमांगी चीज मिल जाती है—धूम्रपान, धन, पीने का पानी या किसी शत्रु से लड़ने के लिये तैयार एक साथी । अतिथि-सत्कार में पठान दरिया-दिल था । किसी भी प्रकार की क्षुद्रता से उसे नफरत थी; दुश्मनों के बीच एक-दूसरे के खिलाफ होने वाली साजिशें उसके लिये स्वाभाविक थीं, पर कमीनी हरकतों से उसे घृणा थी । आमतौर पर वह दुनिया पर, और साथ ही अपने पठान भाईयों पर, यही छाप छोड़ना चाहता था कि वे देखें कि वह किस धातु का बना है, और अगर ऐसी छाप छोड़ने के लिये वह कोई गलत तरीके अख्तियार कर बैठता था तो उससे संबद्ध सभी लोग अपने को शर्मिंदा महसूस करते थे ।

भूतकालिक क्रिया का प्रयोग यहां अकारण नहीं किया गया है । पूरब की अधिकांश अन्य जातियो की ही भांति पठान भी अपने अतीत के स्वप्न में रमना पसंद करते हैं । फिर, उनमें से जो भारत में आ बसे उन्हें, एक ओर तो शांति पूर्ण अंग्रेजी शासन को झेलने के लिये मजबूर होना पड़ा जिसने धीरे-धीरे उनके लड़ाकूपन को करीब-करीब निचोड़ ही डाला, और दूसरी और, क्षय रोग ने भी उन्हें अपना शिकार बनाया, जो शायद उन लोगो का एक जातिगत रोग ही था । उन पठानों का वर्णन अब भूतकालिक क्रिया में ही किया जा सकता है । हमारे देश के आज के पठान उतने ही अच्छे-भले नागरिक हैं जितने कि किसी और जाति वाले, और अपनी पृथक सत्ता कायम रखने की उनकी इच्छा का किसी भी लोक तांत्रिक सिद्धांत से विरोध नहीं है । यह बात जिस हद तक उन पठानों पर लागू होती है जो 1947 से पहले यहां आ बसे थे, उतनी ही उन पर भी जो बाद को यहां बसने के लिये आए । हिन्दू पठानों और मुसलमान पठानों के बीच बस एक ही अंतर है, कि हिंदू पठान के अंदर खतरनाक ढंग से जीने की कोई लालसा नहीं है ।

फर्रूखाबाद जिले का कायमगंज कस्बा पठानों की एक ठेठ बस्ती की मिसाल था । इसे 1713 में मुहम्मद खां बंगश ने बसाया था और इसका नाम अपने बेटे कायम खां के नाम पर रखा था । मुख्यत: ये लोग अफ्रीदी थे जिनमें से बहुतों के खानदानों को सीमा प्रांत से यहां बसाने के लिये आमंत्रित किया गया था । इन्हीं में से एक खानदान हुसैन खां का था जो मदा आखून, यानी उस्ताद कहलाते थे । डा. ज़ाकिर हुसैन के पूर्वजों की तलाश में हम बस उन्हीं तक पहुंच पाते हैं ।

1713 और 1900 के बीच कायमगंज भी वक्त के साथ-साथ बदलता आया था । खास पेशा फौजी नौकरी का था, और वहां से निवृत्त होने पर, अपनी जमीन जायदाद की देखभाल । शिक्षित घराना था, सूफियों और दरवेशों के संपर्क के कारण आध्यात्मिक रुझान । लेकिन यह भी नहीं कि बाहरी दुनियां का खयाल ही न रह गया हो; बल्कि अधिकांश लोग स्थानीय मामलों में, सच पूछा जाय तो स्थानीय झगड़ों में, मशगूल रहते थे । परंपरागत तरीकों को छोड़कर ज्यादा दौलतमंद बनने की कोई ख्वाहिश नहीं थी, और आत्मसम्मान के आदर्श को धनदौलत और मानप्रतिष्ठा बढ़ाने की जगह ज्यादातर उन प्रतिद्वंद्वियों का सफाया करके कायम रखा जाता था जो उनकी आन पर बट्टा लगाना चाहते

थे। बल्कि अभी हाल तक, इसी के दूसरे और तीसरे दशकों में भी, कायमगंज मन्नू खां जैसे इंसान को जन्म दे सकता था जिसने अपनी और आसपास की इन बस्तियों में, ब्रिटिश राज के सरकारी अफ़सरों और उसकी पुलिस के वाबजूद, आतंक जमा रखा था। बिना किसी दंड भय के, वह हर तरह के जुर्म कर सकता था, क्योंकि दुस्साहसी होने के साथ ही साथ वह गलत सबूतों को गढ़ने और उन्हें तैयार करके पेश करने में ही नहीं, सही सबूतों को दबा देने में भी इस कदर माहिर था कि अदालत में उसके खिलाफ कोई भी जुर्म साबित नहीं हो पाता था। बाजार में होकर जब निकलता था तो सभी दुकानदार उसे बंदगी करने के लिये खड़े हो जाते थे, और जब रेल में सफर करता था और स्टेशन मास्टर को इसकी खबर दे देता था तो जब तक वह पहुंच नहीं जाता था, रेल को रोक रखा जाता था। यों तो मन्नू खां जरूर इस मामले में बहुत आगे बढ़ गया था, पर वैसे भी पठान लोग आमतौर पर किसी जुर्म की भयानकता को नहीं इसी बात को महत्व देते थे कि उसकी नौबत क्यो आई और उसके लिये वजह क्या दी जाती है। एक किस्सा है कि किसी आदमी ने डोली में जाती हुई किसी औरत को पर्दे के अंदर से झांकते देख लिया। उस आदमी ने उसी दम अपनी गुलेल का निशाना साधा, जिससे उस औरत की एक आंख जाती रही। लोकमत उस औरत के पक्ष में नहीं हुआ; पर्दे की प्रथा का उल्लंघन करने वाली उस औरत को सजा देने वाले पठान की ही पीठ ठोकी गई। डा. ज़ाकिर हुसैन के दादा गुलाम हुसैन खां ने अपने तालाब से किसी आदमी को खोद कर मिट्टी ले जाते देखा। उन्होंने कई बार उसे मना किया, और फिर भी जब वह नहीं माना, तो उसे छुरा भोंक दिया। उनकी पठान बिरादरी की निगाह में किसी कमीने और ढीठ आदमी के साथ पेश आने का यही सही तरीका था।

अपने इतिहास की अगर हमने कद्र की होती तो हमारे प्राचीन सामाजिक जीवन के बारे में कितने ही नाटक और ऐतिहासिक उपन्यास लिख डाले गये होते, और पठानों के समाज से उनके लिये प्रचुर सामग्री मिलती। पठान माताएं, जिनके अंदर अक्सर ही उम्र के बढ़ने के साथ-साथ श्रद्धाभक्ति की भावना बढ़ती जाती थी, पठानों की इस निरंकुश प्रकृति के दूसरे छोर पर होती थी, हालांकि पठान मर्दों के अंदर भी अपनी इस सहज प्रकृति से बिलकुल उलटे रूप भी देखने को मिल जाते थे। गुलाम हुसैन खां जिंदगी भर सिपाही रहे और गुस्से में आकर उन्होंने एक आदमी के छुरा भी भोंक दिया, लेकिन दूसरी ओर गरीबों और बेसहारों के प्रति उनकी उदारता भी मशहूर थी, और कहा जाता है कि अड़ोस-पड़ोस की बेवाओं के लिये जरूरी सामान खरीदने भी वे बाजार जाया करते थे। वह कायमगंज के एक सूफी करम अली शाह के ही नहीं वहदतुल-वुजूद[1] और सुल्हे कुल[2] नामक धार्मिक

---

[1] यह विश्वास कि दृश्य जगत की सारी विषमताओं के पीछे (ईश्वर के साथ) एकत्व है।

[2] पूर्ण शांति, अथवा सभी के साथ मेल–एकत्व के सिद्धांत का एक रूप जो अकबर के काल में प्रमुख हो उठा था।

मतों के एक हिंदू प्रवर्तक-बंसबिहारी के भी अनुयायी थे। उनके बेटे फिदा हुसैन खां अगर पठानों के परंपरागत पेशे से दूर रहे तो इसमें कोई अचरज की बात नहीं।

फिदा हुसैन खां के पास कुछ ज्यादा जमीन-जायदाद नहीं थी और बड़े जमींदारों या जागीरदारों के बीच वह नहीं गिने जाते थे। बीस साल की उम्र में, 1888 में, वह हैदराबाद (दक्खिन) में जा बसे। लगभग एक साल तक वह मुरादाबादी बर्तनों का व्यापार करते रहे; फिर, एक दोस्त से ले-लेकर पढ़ी जाने वाली किताबों ने उनकी दिलचस्पी कानून के अध्ययन में पैदा कर दी। इस विद्या में उन्होंने अपनी विलक्षण योग्यता का परिचय दिया, और जल्द ही वह औरंगाबाद में वकालत करने लग गए। लेकिन वकील के रूप में मिलने वाली सफलता से उन्हें संतोष नहीं हो पाया। उन्होंने हैदराबाद के उच्च न्यायालय के फैसलों का प्रकाशन शुरू कर दिया, और उसी दम समझ गए कि इनकी खासी मांग है और इसलिये इस काम में अच्छा मुनाफा है। बेगम बाजार मुहल्ले में उन्होंने जमीन खरीद ली, और उस पर एक दोमंजिला मकान बनवाया जिसकी निचली मंजिल पर छापाखाना, दफ्तर और पुस्तकालय थे और ऊपरी मंजिल पर रहने का मकान। अपने 'लॉ रिपोर्टर' के प्रकाशन के अलावा उन्होंने बहुत बड़ी संख्या में कानून संबंधी किताबें प्रकाशित कीं, और यह कहा जा सकता है कि हैदराबाद रियासत में कानूनी साहित्य के प्रकाशन में उनका अपना योगदान सबसे ज्यादा रहा। 1907 में उनतालीस साल की उम्र में जब उनका देहांत हुआ तब वह अच्छी खासी हैसियत रखते थे, और अपने बालबच्चों की शिक्षादीक्षा के लिए काफी नकद रकम और जायदाद छोड़ गए थे।

फिदा हुसैन खां ने अन्य पठान नवयुवकों की भांति अठारह-उन्नीस साल की उम्र में ही अपनी शादी नहीं की—यह बात उनके चरित्र की विशेषता की ही द्योतक है। औरंगाबाद में वकालत का पेशा अख्तियार कर लेने पर ही, तेईस साल की उम्र में, उन्होंने शादी की। उनकी पत्नी नाज़नीन बेगम की बड़ी लालसा थी कि उनके कोई बेटी हो, जो एक असाधारण-सी ही बात थी; लेकिन उनके नसीब में सिर्फ बेटे ही बेटे लिखे थे, और वे भी सात-सात। इनमें सबसे बड़े थे मुजफ्फर हुसैन जिनका जन्म 1893 में हुआ। लगता है कि उनका व्यक्तित्व सौम्य और संतुलित रहा होगा, और अपने भाईयों के आपसी झगड़ों को निपटाने और उनके बीच शांति और सद्भावना बढ़ाने की विलक्षण क्षमता भी उनमें रही होगी। दुर्भाग्यवश उनका अंत हैदराबाद में एक उज्जवल भविष्य का आरंभ होने के पूर्व ही क्षय रोग से हो गया और वह अपने पीछे दो बेटे और एक बेटी छोड़ गए। दूसरे लड़के थे आबिद हुसैन; वह भी अलीगढ़ में अपनी पढ़ाई पूरी करने से पहले ही क्षय रोग से चल बसे। डा. ज़ाकिर हुसैन तीसरे बेटे थे। चौथे बेटे जाहिद हुसैन और पांचवें जाफर हुसैन भी भरी जवानी में इसी बीमारी के शिकार हो गए। इन भाईयों में से छठे और सातवें, डा. युसुफ हुसैन और डा. महमूद हुसैन अभी भी मौजूद हैं और प्रतिष्ठित पदों पर हैं।

नाज़नीन बेगम को नजर लगने का इतना डर बना रहता था कि अपने बेटों की संख्या वह कभी अपनी जबान पर नहीं लाती थीं। संभवतः इसी डर की वजह से उनके जन्मों की सही ढंग से रजिस्ट्री नहीं कराई गई और न उनके जन्म दिन ही मनाए जाते थे। इसी के फलस्वरूप डा. ज़ाकिर हुसैन की जन्मतिथि के बारे में अनिश्चितता बनी रह गई। इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल के रजिस्टर से, जहां कि वह पहलेपहल दाखिल हुए थे, यह पता चलता है कि दाखिले के दिन, 8 दिसंबर, 1907 को, वह दस साल एक महीने के थे। स्कूलों के इंस्पेक्टर एफ. जी. मोर्स द्वारा चार साल बाद इसे काट दिया गया, और उसकी जगह जो तारीख दर्ज की गई उसके अनुसार उनकी उम्र दस महीने बढ़ गई। यह संशोधन क्यों किया गया, इसकी कोई वजह नहीं दिखाई गई है। हो सकता है कि ये दस महीने उनकी उम्र में इसलिये बढ़ाए गए हों ताकि प्रवेशिका (मैट्रिक) परीक्षा के लिये आवश्यक न्यूनतम अवस्था से उनका मेल बिठाया जा सके; या पहले दर्ज कराई गई उनकी उम्र में सचमुच ही गलती रह गई थी। 1922 में जब डा. ज़ाकिर हुसैन ने पासपोर्ट के लिए दरखास्त दी तो शायद स्कूल के रजिस्टरों से अपनी जन्मतिथि का पता लगाते फिरने की जहमत मोल न ले उन्होंने 24 फरवरी 1897 को अपनी जन्मतिथि मान लिया। बाद को जब कभी भी उनसे उनकी जन्मतिथि के बारे में पूछा जाता था, झुंझला उठते थे। 'आप मुझे देख तो रहे हैं। आखिर पैदा तो हुआ ही हूंगा। मेरा खयाल है कि इतना जानना ही काफी है।' किंतु अधिकृत रूप में उनका जो जन्मदिन स्वीकार किया गया है वह स्कूल वाले रजिस्टर मे मोर्स द्वारा संशोधित तारीख से ही मेल खाता है।

डा. ज़ाकिर हुसैन को अपने मां बाप की कम ही याद थी, क्योंकि उनके पिता की मृत्यु तभी हो गई थी जब वह दस साल के थे, और उनकी मां 1911 मे ही कायमगंज में प्लेग की महामारी फैलने पर उसकी चपेट में आ गई थी।[1] लेकिन उन्होंने मुझे बताया था कि हैदराबाद में रहते वक्त उनके घराने की जो प्रतिष्ठा थी उसकी खातिर उन्हें सड़क पर पैदल नहीं चलने दिया जाता था, बल्कि सड़क-पार रहने वाले रिश्तेदारों के यहां जाने के लिये भी गाड़ी मंगाई जाती थी। कायमगंज में रहते वक्त दूसरी ही हैसियत थी, और उनके पिता की मृत्यु के बाद तो घर के हालात भी बदल गए थे। उनका कायमगंज वापस लौटना समृद्धि के जीवन से सादगी और सख्ती की जिंदगी की ओर लौटना था। लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन की उम्र तब इतनी कम थी कि इस परिवर्तन का उन पर कोई असर नहीं पड़ पाया। उनके सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि अपने छोटे भाई जाहिद हुसैन के साथ वह किस तरह पेश आएं। लड़कपन में भी उन्हें यह डर बराबर बना रहता था कि

---

[1] जब वह बीमार हुईं तो घर वालो ने चाहा कि उनके तीनों बेटे, जिनमें से दो अलीगढ़ में और एक–डा. ज़ाकिर हुसैन–इटावा में पढ़ रहे थे, बुला लिए जाएं पर उनकी पढ़ाई में इस तरह दखल देने को वह तैयार नहीं हुईं।

उनसे कोई गलत काम न हो जाए और अपनी बराबरी वालों या अपने बड़ों की नजरों में वह गिर न जाएं। जाहिद हुसैन स्वभाव से ही झगड़ालू और दबंग थे और शरीर से भी कहीं ज्यादा ताकतवर; डा. ज़ाकिर हुसैन को एक ओर इस बात का खयाल रखना पड़ता था कि उन्हें लोग स्नेहशील और भलेमानस समझें, दूसरी ओर अपने भाई के लड़ाकूपन से अपनी रक्षा की भी फिक्र करनी पड़ती थी। ताकत की जगह उन्हें अपनी अक्लमंदी और चतुराई पर ज्यादा भरोसा था। चूंकि वह प्रायः सदा ही सही रास्ते पर चलते थे इसलिये मुजफ्फर हुसैन का भी उन्हें समर्थन प्राप्त रहता था। फिर भी यह खतरा तो बराबर मौजूद रहता ही था कि जाहिद हुसैन कब कोई वार कर दें।

पढ़ने लायक उम्र होते ही सभी भाई इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल में दाखिल होते गए। यह एक रिहाइशी संस्था थी जिसकी स्थापना 1888 मे मौलवी बशीरुद्दीन ने की थी, जो अंग्रेजी शिक्षा के साथ-साथ विशुद्ध इस्लामी जिंदगी के हिमायती थे। उसके बारे में उनके विचार एक प्रकार से संकीर्ण ही थे और बच्चों के लिए काफी सख्त—नमाज में शामिल होने पर कड़ी पाबंदी, सिर के बालों को फैशन के खिलाफ बहुत छोटे-छोटे ही कटाना, सादे मोटे कपड़े, सख्त बिछावन, और स्वादहीन भोजन। डा. ज़ाकिर हुसैन पांचवी कक्षा में भरती हुए। उसके पहले कि उनकी पढ़ाई घर पर ही ऊंचे मुस्लिम घरानों की प्रथा के अनुसार हो चुकी थी। चार साल, चार महीने और चार दिन की उम्र होते ही हर लड़के को घर के मुखिया या किसी बुजुर्ग द्वारा 'बिस्मिल्लाह'[1] कराई जाती थी (लिखना शुरू करना) और कुरान की कुछ आयतों का पाठ करना सिखाया जाता था। पढ़ाई 'बगदादी प्राइमर' से शुरू करायी जाती थी जो अरबी वर्णमाला सिखाने और बच्चे को कुरान पढ़ाने के लिए सर्वश्रेष्ठ बालपोथी मानी जाती थी। कुरान के कुछ अध्यायों या पूरे ही कुरान की पढ़ाई हो चुकने पर फारसी की शिक्षा शुरू होती थी। इसके लिये भी परंपरा से चली आने वाली उत्कृष्ट पोथियां थीं। उर्दू की पढ़ाई बिलकुल अंत में शुरू होती थी। यह क्रम मुस्लिम संस्कृति के परंपरागत विकास का द्योतक था, और साथ ही उस मार्ग का भी जिससे होते हुए वह भारत तक पहुंचा था।

स्कूल में डा. ज़ाकिर हुसैन को सभी कायदे-कानून पालन करने वाले के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त थी; नमाजों में और कक्षा में वक्त के पूरे पाबंद थे, और शरारतों से दूर रहते थे। स्कूल के पठान लड़कों के अंदर एक ऐंठ रहती थी और बात-बात पर वे बग़ावत कर बैठते थे। डा. ज़ाकिर हुसैन न उनका साथ देते थे, न उनकी मुखालफत करते थे। वह शालीनतापूर्वक मध्यम मार्ग का अवलंबन करते थे। इसके कारण वह अपने सहपाठियों के भी विश्वासपात्र बन गए थे और अपने शिक्षकों के भी। जब कभी भी उनका स्कूल किसी वादविवाद अथवा निबंध प्रतियोगिता में भाग लेने के लिये अपने विद्यार्थी भेजता था,

---

1 'परमात्मा के नाम पर, जो कि दयालु और करुणामय है।'

उन्हें जरूर उस मंडली में शामिल किया जाता था, और वक्ता के रूप में वह असाधारण प्रतिभा का परिचय देते थे। वह प्रायः सभी शिक्षकों के और विशेष रूप से प्रधानाध्यापक मौलवी अल्ताफ हुसैन के कृपापात्र थे जिन्होंने मालूम होता है, बौद्धिक और सामाजिक क्षेत्र में उनके उज्जवल भविष्य को भांप लिया था, और जो उन्हें सही किस्म का प्रोत्साहन देते रहते थे। जब कभी भी स्कूल में किसी विशिष्ट व्यक्ति का आगमन होता उसका स्वागत करने और अभिनंदन भाषण देने के लिये डा. ज़ाकिर हुसैन को ही चुना जाता था। एक बार स्कूल में अलीगढ़ से एक वक्ता आए। उनका विषय था अरबी, फिर भी उनके दाढ़ी नहीं थी। डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपने स्वागत-भाषण में, आगंतुक के प्रति सम्मान प्रदर्शन करने के लिए, दाढ़ी मुंड़ाने की अच्छाइयों का ही बयान कर डाला।

डा. ज़ाकिर हुसैन की मां ने उनके मन में बुजुर्गों का सम्मान करने की भावना बिठा दी थी जिसकी वजह से उनके अंदर नम्रता, सम्मानप्रदर्शन और आज्ञाकारिता के गुण उत्पन्न हो गए थे। लेकिन विद्यार्थियों और स्कूल के प्रबंधकों के बीच संघर्ष के मौके भी कम नहीं आते थे, और यदि उन्हें विश्वास हो जाता था कि विद्यार्थी न्याय के पक्ष में लड़ रहे हैं तो उन्हें उनका साथ देने में जरा भी झिझक नहीं होती थी। सादे मोटे कपड़ों और सख्त बिछावन को तो छात्र बरदाश्त कर सकते थे, लेकिन स्वादहीन भोजन की भी नपीतुली मात्रा उन्हें हमेशा भड़काएं रखती थी और सबसे ज्यादा जो बात खल जाती थी वह यह कि जो लड़का पांचों नमाजों में से एक में भी बार-बार नागा करने लगता, उसे सजा के तौर पर भूखा रखा जाता था। एक बार यह सजा एक ही साथ बहुत से लड़कों को दे डाली गई। बगावत के आसार नजर आने पर डा. ज़ाकिर हुसैन से बीच बचाव करने के लिए कहा गया। स्कूल के प्रबंधकों को उन्होंने कायल कर दिया कि छात्रों को उनके आहार से वंचित करना गैरकानूनी है, क्योंकि उसके लिए उन्होंने कीमत अदा की है और उस पर उनका अधिकार है। नतीजा यह हुआ कि यह सजा बाजाब्ता तौर पर उठा दी गई। इस निर्णय से उन छात्रों को, जिन्हें कि उन्होंने चुपके चुपके संगठित किया था पर साथ ही नियंत्रण में भी रखा था, भारी संतोष मिला कि उनकी संयुक्त कार्रवाई की वजह से स्कूल को अपनी नीति बदलनी पड़ी। डा. ज़किर हुसैन का यह पहला प्रयोग था जिसने उन्हें एक ऐसा हल सुझाया जो किसी झगड़े के दोनों ही पक्षों के लिए न केवल संतोषजनक हो सकता था बल्कि शिक्षाप्रद भी था।[1]

इतनी ही विशिष्टतापूर्ण थी डा. ज़ाकिर हुसैन की मानसिक जागरूकता, और आंदोलनों तथा महत्वपूर्ण घटनाओं के प्रति उनकी प्रतिक्रिया, खासतौर से जबकि उनका संबंध इस्लाम जगत से होता था। यह ट्रिपोलिटन और बालकन युद्धों का काल था और भारतीय

---

[1] यह जानकारी मौलवी फैयाज़ खां (जन्म, 1888) से मिली है जो वहां अध्यापक थे और 1910-20 के काल में छात्रावास और पाकशाला के अधीक्षक थे।

मुसलमान तुर्की के भाग्य के बारे में अत्यंत विक्षुब्ध थे। विश्व के एक मात्र स्वतंत्र मुस्लिम राज्य के विरुद्ध यूरोप के आक्रमण को लेकर डा. ज़ाकिर हुसैन के अंदर बड़ी प्रचंड प्रतिक्रिया हुई, और अपने सहपाठियों को भी उन्होंने उससे प्रभावित किया। लड़ाई की खबर को जल्द से जल्द पाने की उन्हें इतनी बेचैनी रहने लगी कि 'पायनियर' अखबार खरीद कर लाने के लिए वह रोज स्टेशन जाते और अपने सहपाठियों को सुनाने के लिए दौड़े-दौड़े वापस आते। जुमा की नमाज के बाद अक्सर मस्जिद में वह भाषण भी देते, और तुर्की सहायता कोष के लिए चंदा इकट्ठा करते। एक बार, जब कि नमाज के लिए इकट्ठा हुए लोगो के बीच वह चंदे के लिए अपनी टोपी बढ़ाते चले जा रहे थे कह उठे कि उनके दिये गए सिक्के गोलियां बनकर इस्लाम के दुश्मनों की छातियों को छेद देंगे। श्रोता मंडली में से एक बूढ़ा तो यह सुनकर रो पड़ा और उसके पास जो कुछ था दे डाला।[1]

सन् 1911 में, जब कि वह आठवीं कक्षा में थे, उन्होंने शायद किसी मौके पर देने के लिये छात्रजीवन पर एक भाषण लिखा था। उनके जिन विचारों और आदर्शों ने आगे चलकर उन्हें विशिष्टता प्रदान की उनकी जानकारी देने की दृष्टि से ये लेख अत्यंत महत्वपूर्ण है।

"शिक्षा प्राप्त करने वाले हर व्यक्ति के सामने निस्संदेह जीवन का कोई लक्ष्य रहता है। कोई वकील बनने के लिये पढ़ता है, कोई डाक्टर बनने के लिये, और कोई सरकारी नौकर होने के लिये; आमतौर पर यही माना जाता है कि पढ़ने-लिखने का उद्देश्य है अमीर बनना। यह उद्देश्य शुरू से जितना छात्र के मन में नहीं रहता उतना उसके माता पिता के दिल में बना रहता है। जिस किसी भी विद्यार्थी के परिवार का भरण-पोषण उस पर निर्भर करता है-उसका यही कर्त्तव्य है कि वह अपने माता पिता का सहारा बन्ने के लिये शिक्षा प्राप्त करे, और यह सही तौर पर कहा जा सकता है कि किसी की व्यक्तिगत संपत्ति राष्ट्र की भी संपदा है। लेकिन सिर्फ अमीर बनने और अच्छी तरह खा-पी सकने के लिए ही शिक्षा प्राप्त करना ना सिर्फ उन विद्यार्थियों के लिए बल्कि मानव जाति के लिए भी शर्म की बात है। किसी विद्यार्थी का लक्ष्य अगर यही है शिक्षा प्राप्त करके वह बढ़िया कोट पहनेगा, गाड़ी की सवारी करेगा, सरकारी अफसरों से हाथ मिलाएगा, तो वह विद्यार्थी कहलाने के योग्य नहीं है। संपेक्ष में कहा जाये तो अमीर बनना किसी विद्यार्थी का भद्दा से भद्दा लक्ष्य ही हो सकता है।

"ठीक जिस तरह अमीर बनना किसी विद्यार्थी के लिए कोई (सही) लक्ष्य नहीं बन सकता उसी तरह आराम और चैन की जिंदगी से भी दूर ही रहना चाहिये। आरामदेह जिंदगी का लालच ऐसा होता है कि वह सभी लोगों को, और खासतौर से विद्यार्थियों को,

---

1 अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी गज़ट, खंड 6, संख्याएं 13-16, 1975 में श्री हबीबुर्रहमान का लेख।

उन्नति करने से रोकता है ।

"अब तक मैने संक्षेप में वे बातें बताई जो किसी विद्यार्थी का लक्ष्य नहीं बननी चाहिए । अब मैं यह बताता हूं कि विद्यार्थियों को क्या काम करने चाहिए और उनके कर्त्तव्य क्या हैं । लेकिन उन्हें बताने से पहले अच्छा यह होगा की मैं संक्षेप में 'विद्यार्थी' के अर्थ पर प्रकाश डाल दूं ।

" 'विद्यार्थी' हम उसे कहते है जो अपनी वर्तमान स्थिति को सुधारना चाहता है, जो अपनी क्षमताओं को अधिक से अधिक बढ़ाना चाहता है, जो ज्ञान और चिंतन के उन खजानों से फायदा उठाना चाहता है जिन्हें की हजारों सालों से सैकड़ों लोग आने वाली पीढ़ियों के लिए विरासत के तौर पर छोड़ गए हैं, जो अपनी विवेक-बुद्धि के पथ-प्रदर्शन के लिए, अच्छी बातों की जानकारी के लिए, उन उच्च आदर्शों के लिए जिनका उसे पता नहीं है किंतु जिनकी जानकारी उसे इस दुनिया में सहारा देगी, सब कुछ प्राप्त करने का इच्छुक है । विद्यार्थी बनने के लिए भले-बुरे के बीच, फायदेमंद और नुक्सानदेह के बीच, और क्या चाहना ठीक है और क्या चाहना एक दम गलत, इसके बीच तमीज करने लायक अक्ल होनी चाहिए। उसे अपने अंदर विचार करने और मूल्यांकन करने की योग्यता पैदा करने चाहिए, ज्ञान के द्वारा उसे वह सब कुछ प्राप्त करने की इच्छा रखनी चाहिए, जो पाना मनुष्य के लिए संभव है लेकिन सांसारिक जीवन की कठिनाइनायों के बीच एक ऊंचा नैतिक स्तर कायम रखने के लिए अगर वह सतत प्रयत्नशील नहीं रहता तो वह इस दुनियां में कभी भी आगे नहीं बढ़ सकेगा, और न दूसरे लोगों को ही प्रभावित कर पाएगा । अपने कर्त्तव्यों को जो दृढ़तापूर्वक और गंभीरता के साथ नहीं निभाता वह किसी हालत में भी विद्यार्थी कहलाने के लायक नहीं है । उसे अपने दिल में यह बात तो आने ही नहीं देनी चाहिए कि वह कुछ भी करने लायक नहीं है, क्योंकि अगर वह इस तरह सोचने लगेगा तब तो वह कहीं भी नहीं पहुंच पायेगा । उसे साहसपूर्वक अपने कदम बढ़ाते चलना चाहिए; ऐसा करने पर उसकी सफलता सुनिश्चित है ।

हिम्मत बलंद दार कि पेशे खुदा ने खल्क,
बाशद बकदरे हिम्मते तो एतबारे तो ।।

अर्थात, तू हिम्मत बुलंद रख, ताकि खुदा और लोगों की निगाह में तेरा वही सम्मान हो जिसकी तुझे अभिलाषा है ।

"किसी विद्यार्थी के जीवन का उद्देश्य यह होना चाहिए कि उसे जो भी भ्रम या राग-द्वेष हों वह उनसे ऊपर उठे और बुरी आदतें छोड़ दे । उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने अनपढ़ भाइयों के बीच शिक्षा का प्रसार करे और शिक्षा प्रसार को भी अपनी ही शिक्षा का एक अंग समझे । ज्ञान प्राप्ति के ही उद्देश्य से उसे ज्ञानार्जन करना चाहिए, पर जिंदगी की जरूरतों के बारे में भी वह बेखबर न रहे । यदि वह इन जरूरतों से बेखबर रहता है तो वह अपने परिवार का बोझ अपने कंधों पर नहीं उठा सकता, और न मानव जाति के लिए ही उपयोगी बन सकता है । यदि वह शिक्षित नहीं है तो वह आदमी ही नहीं है और इस दुनियां में कोई भी उल्लेखनीय कार्य नहीं कर सकता ।"

जब उन्होंने स्कूल छोड़ा तो उसके संस्थापक और प्रबंधक मौलवी बशीरुद्दीन ने उन्हें रात के खाने पर बुलाया। मौलवी बशीरुद्दीन की कथनी और करनी में कोई अंतर नहीं था। फर्नीचर के नाम पर उनके कमरे में मूंज की सिर्फ एक खाट थी जिस पर वह आराम भी करते थे और दफ्तर का कामकाज भी। डा. ज़ाकिर हुसैन के बैठने के लिए भी उन्होंने उसी का एक हिस्सा खाली कर दिया। खाने के लिए सिर्फ गोश्त था, और जब वह सामने रखा गया तो उन्होंने उसके शोरबे में धीरे से पानी मिला लिया। डा. ज़किर हुसैन ने भी उनकी इस क्रिया को सहज स्वाभाविक ही मान लिया, और फिर इस तरह खाना खाने लगे मानो उसके स्वाद में कोई फर्क ही न पड़ा हो। खाना खा चुकने पर मौलवी बशीरुद्दीन ने उन्हें बताया कि शोरबे में पानी उन्होंने यही दिखाने के लिए मिलाया था कि जिंदगी में हमें भोग-विलास के पीछे नहीं दौड़ना चाहिए; उनके जैसे होनहार नौजवान को यह बात बराबर ध्यान में रखनी चाहिए।

डा. ज़ाकिर हुसैन 1913 में मुहमडन एंग्लो-ओरियंटल कालेज (अब, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय) में दाखिल हुए। वहां पहुंचने पर पहलेपहल उनको कैसे तजुरबे हुए और वहां उनका छात्र-जीवन किस तरह बीता इसका बयान उन्होंने 28 जनवरी 1957 को उस विश्वविद्यालय के दीक्षांत-भाषण में किया था:

''बार-बार मेरा ध्यान चवालीस साल पहले की उस तपती हुई दुपहरी की ओर जाता है जब कि पहलेपहल मैं इस विश्वविद्यालय में आया था। मेरे दो बड़े भाई पहले से ही यहां मौजूद थे, और इसलिए नए-नए आने वाले दूसरे सैकड़ों छात्रों के मुकाबले में मैं यहां उतना अजनबी नहीं रहा। मेरे वे भाई पहले ही यहां के वातावरण के अंग बन चुके थे; मैं नया था। मेरे एक भाई तीसरे पहर मुझे एक जोड़ा जूता, कुछ किताबें और एक लालटेन खरिदवा लाए। शहर हम लोग गए तो पैदल ही, पर लौटे इक्के पर, क्योंकि अपने हाथों में सामान लेकर चलना शरीफों की इज्जत के खिलाफ था। मुझे याद है कि मेरे भाई मुझे छात्रावास के अपने कमरे में बिठाकर अपने कुछ दोस्तों से मिलने के लिए निकल पड़े थे और मुझे बता गए थे कि सूरज डूब जाने पर जब घंटी बजे, तो मैं भोजनालय में जा पहुंचूं। घंटी मेरे अनुमान से पहले ही बज उठी। सिर पर तुर्की टोपी, बदन पर तुर्की कोट, और मोजे-जूते पहनकर खाने के लिए जाने की बात सोलह साल की उम्र तक कभी सामने नहीं आई थी; यह सब पहनते-पहनाते कुछ वक्त लगा। और, देर लगती भी क्यों नहीं? जूते के फीते को सूराखों में डाल ही नहीं पा रहा था, क्योंकि जैसे ही मैंने दो सुराखों में डालकर फीते को खींचा, कि वह पूरा का पूरा बाहर निकल आया। और तब मैं इस कदर घबरा उठा कि नए जूते मुझे पहनाकर मेरे भाई ने शाम को फीते बांधने का जो तरीका कई बार में सिखाया था उसे बिलकुल ही भूल गया। कई बार फीते को बांधा और खोला, और अचानक ही वह तरीका एक नए आविष्कार की तरह दिमाग में कौंध गया। आखिर सज-धजकर जब में कमरे से निकला तब तक काफी देर हो चुकी थी, और मेरे वे साथी जो कहीं ज्यादा चौकन्ने थे, पहले ही भोजनालय में पहुंच चुके थे।

'यक लहजः गाफिल गश्तम व सदसाला राहम दूर शुद' (मैं एक लमहे के लिए गाफिल हुआ था कि सौ साल दूर हो गया)।

''भोजनालय का रास्ता मुझे मालूम नहीं था, और जहां-तहां टक्कर मारता फिरा; आखिर अपने लक्ष्य स्थान की निष्फल खोज करते-करते मुझे लगा कि मैं वहीं आ पहुंचा हूं जहां मेरा कमरा था। दरवाजा बंद था, और सभी दरवाजों की ही तरह। मैने अपनी घड़ी पर नजर डाली। यह एक नई ही चीज थी जो मुझे उसी दिन अपने भाई से मिली थी। इसे पाने से पहले तक मैं अपने दिन के वक्त का बटवारा या तो स्कूल वाली बड़ी घड़ी को देखकर करता आया था या सूरज की रफ्तार से। अब घड़ी को देखा तो पता चला कि रात के खाने का जो वक्त मुझे बताया गया था उसे गुजरे सिर्फ आठ ही मिनट हुए थे। लेकिन इन्हीं आठ मिनटों के अंदर मुझ गरीब पर क्या-क्या गुजर चुकी थी—आत्म-ज्ञान शून्यता और आत्मोपलब्धि, लक्ष्य की खोज दिशा-च्युति, और इस साधना में पूर्ण विफलता तक की सारी मंजिले पार हो चुकी थी।''

''यह सही है वक्त को सिर्फ घड़ी की सुइयों की रफ्तार से नहीं नापा जाता। जिस व्यक्ति को ऐसा करना होता है उसकी मनोदशा को भी उसी का एक हिस्सा मानना पड़ता है। इंतजार या निराशा के कुछ मिनट ही कभी-कभी किसी के कंधों पर पहाड़-से वजनी हो उठेंगे; कभी-कभी सत्य की झांकी मिलने के ऊंचे संकल्प के, सौंदर्य-बोध के, किसी पवित्र कामना की पूर्ति के लिए अपने जीवन को अर्पित कर बैठने के एक क्षण में संपूर्ण काल समा जाएगा—अपने आदि से अंत तक; कभी-कभी पूरी जिंदगी लक्ष्यहीन और उत्साहहीन रूप मे भटकते ही बीत जाएगी, जिसकी ओर तेजी से गुजरता हुआ एक-एक मिनट, उसको तमाम जिंदगी भर, हिकारत की निगाह से ताकता और उसकी खिल्ली उड़ता रहेगा। मगर अब अपनी उस रोज वाली उस साधना की बात पर आ जाऊं। आठ मिनट बाद मैं वहीं आ पहुंचा था जहां से रवाना हुआ था। कमरे के बाहर, नीम के दरख्तों के नजदीक, कुछ खाटें पड़ी थीं; उन्हीं में से एक पर मैं जा बैठा। कुछ ही देर बाद मेरे सहपाठी वापस लौटते दिखाई दिये—कोई एक दूसरे की बांह-में-बांह डाले, कोई आप ही आप गुनगुनाते हुए, कोई हंसते हुए, और कोई खामोश। इसका मतलब यही होता था कि भोजनालय में जाने, खाना खाने और फिर वहां से लौट आने का यह सारा सिलसिला सिर्फ 9-10 मिनट में पूरा हो चुका था। दूसरे मामलों मे न सही, लेकिन खाने वाली नित्यक्रिया में एक फौजी पाबंदी-सी जान पड़ी। ज्यादा देर तक खाते रहना तहजीब के खिलाफ समझा जाता था, और भोजनालय के प्रबंधक भी खाने की मेज पर किसी के ज्यादा रुकने की गुंजाइश नहीं छोड़ते थे।''

इसके बाद डा. ज़ाकिर हुसैन ने एक तरह से अपने एक अंदरूनी रहस्य का उद्‌घाटन किया जो रूपकों और सूक्ष्म संकेतों की एक श्रृंखला के बीच ऐसी प्रच्छन्न शैली में था जिसे कि बरसों की साधना के बाद उन्होंने पाया था, एक ऐसी शैली जो इतनी सूक्ष्म और संक्षिप्त थी कि जो कुछ कहा जा रहा था उसका मतलब और उसके निहितार्थों को सिर्फ वे ही कुछ-एक

लोग समझ सकते थे जिन्हें उनका यथार्थ आशय पहले से ही मालूम रहता था। बाकी लोग तो सिर्फ उनके शब्दों के ही मोहजाल से मुग्ध होकर रह जाते थे, और अमेरिकी कवि एमिली डिकिंसन के शब्दों में, सिर्फ "विचारशून्य ढोलों" की श्रेणी में ही आ सकते थे।

"क्या वजह है कि उस दिन जो कुछ हुआ था वह मुझे इतने विस्तार से याद है ? शायद इसकी वजह यही है कि उसी दिन मेरे इन चवालीस सालों की शुरुआत हुई थी जिसके दौरान मेरी जिंदगी में बहुत-कुछ बदल गया है, हालांकि इस विश्वविद्यालय के साथ का मेरा रिश्ता नहीं बदला है; इसकी जड़ें तो मेरे दिल की गहराईयों में हैं, और ऐसी कोई चीज नहीं जो इस बंधन को तोड़ सके। यहां मेने बहुत कुछ सीखा, और जितना सीखा उससे ज्यादा न सीख पाने पर पछतावा करना भी सीखा। यही जगह थी जहां मेरे अंदर बाद की जिंदगी में उन कामों को करने की चाह पैदा हुई जो शुरू तो किये पर अभी अधूरे ही पड़े हैं। यही वह जगह थी जहां मैंने दूसरों के साथ मिलकर काम करना सीखा, यहीं मैंने मतभेदों और स्वभावगत विषमताओं के बावजूद सहयोग करते हुए चलने की कला सीखी, जिंदगी के कई तरीको के साथ प्रयोग किये गये और उन पर अपनी राय कायम की। यही रहते हुए मेरे सामने हमारे राष्ट्रीय जीवन और चरित्र के सारे दोष उभरकर सामने आए, और दिल में वे दर्द महसूस किये जो आंखों में आंसू ले आते थे, और साथ ही तब अपने अंदर पहलेपहल अपने देशवासियों की कामनाओं और आकांक्षाओं के अंकुर उठते महसूस किये। यहीं रहते हुए मैंने अपरिपक्व मन की रोषपूर्ण अधीरता और जल्दबाजी में किये शक-शुबहों पर पछतावा करना सीखा। यहीं पर मेरे अंदर ऐसी आग भड़क उठी जैसी कि सूखे पत्तों में किसी चिंगारी के पड़ जाने से भड़क उठती है, पर साथ ही उस आग को कोयले की तरह राख के अंदर-ही-अंदर सुलगाए रखना भी सीखा। यहां रहते हुए ही मेरे अंदर यह अक्ल पनपी कि बसंत की कोंपलों की तरह जो प्रवृत्तियां मेरे अंदर झिझकती और शर्माती हुई-सी झांकने लगी थीं उन्हें इस यत्न से धीरे-धीरे बढ़ाऊं की तेज और जोरदार हवाएं उन्हें उखाड़ न ले जाएं, और साथ ही यह जरूरत भी महसूस कर पाया कि अपने व्यक्तित्व का निर्माण करने के लिए सामाजिक जीवन के तूफानों और थपेड़ों का मर्दानगी के साथ सामना करुं। एकांतवास और सहवास दोनों का ही हमारे शिक्षा और हमारे निर्माण में कितना महत्व है यह भी मैंने यहीं जाना। यहीं मैंने आज्ञापालन करना सीखा और आज्ञाकारिता को स्वभाव में परिणत कर डालना; यहीं मैंने सम्मान करने के तत्व को जाना: बुजुर्गों का, बराबरी वालों का, छोटों का, और अपना भी सम्मान करने का तत्व। यही वह जगह है जहां रहते हुए मैं अपनी नम्रता और वफादारी की भावना की वजह से ही यह महसूस कर सका कि विद्या के इस केंद्र में जीवन का नियमन करने के लिए जिन विधि-विधानों को बनाया गया है उनका समझबूझ के साथ खुद-ब-खुद पालन करना ही सच्ची स्वाधीनता है, लेकिन जब इसके विधि-विधान अंतःकरण की मांग से विपरीत जान पड़े, जब जीवन के इस स्रोत ने ही मुझ में विद्रोह करने का साहस पैदा कर दिया। मैं विद्रोही बन बैठा, मुझे निकाल बाहर किया गया, और मैंने विद्या के एक दूसरे ही केंद्र का

निर्माण करने में पच्चीस वर्ष अर्पित कर डाले, मगर मेरे दिल में फिर भी अपने इस विद्यालय के प्रति कोई कटुता नहीं पैदा हुई. . .''

डा. ज़ाकिर हुसैन के विद्यार्थी जीवन के कई पहलू हैं, और किसी रत्न की दमक की ही भांति, उसे भी किसी संकीर्ण सीमा में बांधकर पेश नहीं किया जा सकता। उनके एक घनिष्ठतम मित्र प्रो. रशीद अहमद सिद्दीकी ने जो कुछ लिखा है उससे एक ऐसे नौजवान की तस्वीर उभरकर सामने आती है जो मौजी तबीयत का और गैरजिम्मेदार था, और जिसकी जबर्दस्त समझदारी एक आकर्षक भोलेपन की आड़ में छिपकर सामने आती थी। इस तस्वीर वाले नौजवान का स्वस्थ जीवन प्रेम, बातचीत करने में उसकी खुशी का इजहार, और उसकी खुशमिजाजी सारे वातावरण में जान डाले रहती है। किसी दावत के वक्त वह अपने दोस्तों से तीन मिनट पहले खाना शुरू कर देने की इजाजत मांगता है और उसके दोस्त इसका जबर्दस्त विरोध करते हैं क्योंकि वह जानते हैं कि तब तो उन सभी को खाली पेट रह जाना पड़ेगा। एक रोज शाम को वह अपने कमरे में देर करके पहुंचा है और उसे भूख लगी हुई है। खोजने पर जब उसे माजून [1] के एक मर्तबान के सिवा कुछ भी नहीं दिखाई देता, जिसे कि उस कमरे के उसके साथी ने कहीं छिपाकर रख छोड़ा था, तो वह बिना इस बात की परवा किए कि नतीजा क्या होगा, सारा माजून खा डालता है। हर वक्त कोई-न-कोई ऐसी बात कहता या कोई ऐसा काम करता पाया जाता है जो असाधारण रूप से नयी और मजेदार है। किंतु प्रो. सिद्दीकी ने डा. ज़ाकिर हुसैन के व्यक्तित्व की जो तस्वीर पेश की है वह तो उसका एक पहलू है। विद्यार्थी समाज के अगुओं में गिने जाने की वजह से और भी कितनी बातों में उनकी दिलचस्पी रहती थी। 'सिडन्स स्टूडेंट्स यूनियन' के रिकार्डों से पता चलता है कि वह उसमें अक्सर ही शामिल होते और बोलते थे, और 1917 में उसके उपाध्यक्ष थे। वादविवाद करने में वह बड़े ही पटु थे और अपने प्रतिद्वंद्वियों की दलीलों की खामियां फौरन पकड़ लेते थे और फिर बड़ी नाटकीय प्रभावशालिता के साथ उन्हीं के खिलाफ उनका इस्तेमाल करते थे। वक्ता के रूप में उनकी योग्यता ने कितनों को ही उनका भक्त बना दिया, और अनिवार्यत ईर्ष्या और विरोध भी पैदा किया। व्याख्यान-मंच उनके लिए साहस और बुद्धिमत्ता के लिए ठीक उसी प्रकार चुनौती बन जाता था, जिस तरह कि घनिष्ठ मित्र-मंडली उन्हें उनके सामाजिक गुणों के लिए चुनौती के रूप में दिखाई देती थी। आलोचना और विरोध होने पर उनके अंदर यह लालसा और भी जोरदार हो उठती थी कि अपनी श्रेष्ठता को वह और भी असंदिग्ध रूप में सिद्ध कर दिखाएं। एक बार, जब उनके विरोधियों ने यह खबर उड़ा दी कि 'यूनियन' में वादविवाद के लिए प्रस्ताव पेश करते वक्त वह जो भाषण देने वाले हैं उसे उन्होंने पहले से रट रखा है, तो उन्होंने अपने भक्तों को भी निराश करते हुए सिर्फ उस प्रस्ताव को पेश भर कर दिया,

---

[1] यूनानी चिकित्साशास्त्र की एक पौष्टिक दवा जो अवलेह से कुछ ज्यादा गाढ़ी और आमतौर पर मीठी होती है, और जिसमें कुछ कामोद्दीपक चीजें रहती हैं।

को पेश भर कर दिया, और कहा कि पहले विरोधी पक्ष के वक्ता अपनी सारी दलीलें दे लें, उसके बाद ही वह उनके जवाब में अपना भाषण देंगे। और अंत में जब वह बोले तो उन लोगों ने जितनी भी दलीलें दी थीं उन सबका सफाया करके उन्होंने प्रचंड हर्षध्वनि के बीच अपना प्रस्ताव पास करवा लिया।

स्कूल की तीन परिक्षाओ में डा. ज़ाकिर हुसैन अव्वल रहे। वह साहित्यकार बनना चाहते थे। 1915 में उन्होंने 'बाब' मत पर 'अल नजीर' नामक उर्दू मासिक पत्र के लिए एक लेख लिखा जो प्रो. ब्राउन द्वारा लिखी गई पुस्तक 'ए इयर एमंग दि पर्शियंस' (ईरानियों के बीच एक वर्ष) के इस विषय संबंधी अध्यायों का आंशिक रूप मे संक्षिप्त रूप था और आंशिक रूप में अनुवाद। 1917 में उन्हें 'भारत में मुस्लिम शिक्षा' विषय पर लिखे गए अपने एक निबंध के लिए 100 रुपये का पारितोषिक मिला था, और दो साल बाद 'इकबाल तगमा', और योग्यता संबंधी एक सरकारी छात्रवृत्ति भी। इसी समय उन्होंने प्लेटो के 'रिपब्लिक' का अनुवाद करना शुरू कर दिया था। लेकिन मुझे तो इतना ही याद है कि स्कूल और कालेज वाले अपने काल की विद्या संबंधी अपनी रुचियो और उपलब्धियों के बारे में वह हलकेपन के साथ ही बात करते थे। इम्तिहानों की चुनौती को शायद वह इसी तरह लेते थे मानों वह एक मामूली सी बात है। उन्होंने मुझे बताया था कि स्कूल या कालेज में इम्तिहान का वक्त जब नजदीक आ पहुंचता था तो वह अपने एक ऐसे दोस्त से, जो पढ़ाई-लिखाई के मामले मे बड़ा चुस्त था, उसके 'नोट' मांग कर पढ़ डालते थे, और आमतौर से अपने उस दोस्त से अच्छा ही नतीजा लाते थे।[1] जरा कल्पना तो कर देखिए, कि आप अपने उस दोस्त के पास पहुंचते हैं, एक मनमोहनी अदा के साथ उसके सामने अपनी लापरवाही की बात कबूलते हैं, अपने दोस्त की अध्ययनशीलता की तारीफों के पुल बांधते हैं और फिर उससे मदद मांगते हैं कि फेल होने की बेइज्जती से वह उसे बचा ले। शायद वह उन नोटों को पढ़ने की जहमत मोल लिए बिना भी इम्तिहान पास कर सकते थे यदि सिर्फ उन दोस्त को राजी करके कुछ खास-खास विषयों पर उसी के मुंह से उसके लेक्चर सुन लेते। उनकी बुद्धिमता, मतलब की बातों की उनकी पकड़, और अभिव्यक्ति की उनकी क्षमता संभवतः किसी भी परीक्षक को इस बात का कायल कर देती कि अपने विषय की उन्हें खासी जानकारी है।

'मैं एक शिक्षक बना' शीर्षक अपनी एक रेडियो वार्ता में उन्होंने, अपने ही ढंग से, यह बताया है कि वह जो कुछ बन पाए किस तरह बने। "आज जब मैं पीछे की ओर नजर घुमाकर देखता हूं तो मुझे याद आता है कि लड़कपन से ही मेरे अंदर शिक्षक बनने की लालसा थी। यह मेरे पहली सीधीसादी मुहब्बत थी। किंतु छुटपन की ये सचेतन कामनाएं कोई हमेशा ही अपने दिल की सहजस्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण नहीं हुआ करती। कितनी

---

[1]प्रो. हबीबुर्रहमान मरहूम। देखिये, 'अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी गजट'; खंड 6, संख्याएं 13-16, 1957, में उनका लेख। वह अलीगढ़ के 'टीचर्स कालेज' के प्रिंसपल के रूप में सेवा-निवृत हुए।

ही बार तो वे बाहरी परिस्थितियों के किसी न्यूनाधिक मात्रा में क्षणस्थायी रूप द्वारा प्रेरित होती हैं, और कुछ वक्त के लिए भले ही वे बड़ी प्रबल जान पड़े, मगर अक्सर उन पर काबू पा लिया जाता है और फिर आसानी से वे दिल से निकल जाती हैं। मेरे एक बड़े भाई की पहले यह ख्वाहिश थी कि मै इंजीनियर बनूं, और फिर यह कि डाक्टर बनूं, इसी तरह मेरे एक चाचा की ख्वाहिश यह थी कि मैं उनका और अपने पिता वाला वकालत का ही पेशा अख्तियार करूं। ये ख्वाहिशें यदि पूरी हो जातीं तो आज मैं बदसूरत इमारतों के निर्माण के निरीक्षण-कार्य में लगा होता और उनकी बदसूरती के अज्ञानसुख मे डूबा रहता, या उन्हें बदसूरत न बताने का कौशल सीख कर अमीर बन रहा होता; या फिर डाक्टर बन, मरीजो और मरते हुए लोगों के कष्टों को दूर करने में जीजान से लगे रहकर भी शायद ही कुछ ज्यादा कर पाता–उनकी कराहें यो ही हर तरफ से आकर बेचैनी पैदा करती रहती हैं–और या बैंक के अपने खाते की रकम बढ़ाने के लिये उनके उन कष्टों का नाजायज फायदा उठा रहा होता; और या फिर वकील ही बन चुका होता और कम तर्कसंगत को अधिक तर्कसंगत सिद्ध करने वाले भारी भरकम काम मे अपना पूरा वक्त लगा कर अमीर बन रहा होता, और बीच-बीच में राजनीति के क्षेत्र मे मन बहलाव का कोई रास्ता निकाल लेता और अपनी जबर्दस्त वकालत के बल पर एक ऐसी ढुलमुल अनुयायी-मंडली को खुश करने की कोशिश करता जिसे यो खुश रखना कठिन काम ही है। यदि इनमें से कोई भी एक वारदात हो गई होती, जैसा कि मुमकिन भी था, तो शायद मैं आप लोगों से यही कहता कि शिक्षक बनने की मेरे छुटपन की कामना सिर्फ अपने उस प्रधानाध्यापक[1] के प्रति एक छात्र की भक्ति का प्रदर्शन-मात्र थी जो कि उस समय मेरे सामने मनुष्य का सर्वश्रेष्ठ रूप थे। तब मैं शायद यह जान भी न पाता कि वह कामना मेरे अंतर की ही पुकार थी। जिंदगी की पुकार इतनी जोरदार या साफ नहीं हुआ करती कि वह कानों तक पहुंच ही जाए या उसकी ओर ध्यान जाए ही।''

इंटरमीडियेट की परीक्षा के लिए डा. ज़ाकिर हुसैन ने विज्ञान का विषय लिया था ताकि डाक्टरी पढ़ने के लिए तैयार हो सकें। लेकिन लखनऊ क्रिश्चियन कालेज में बी. एस. सी. में भरती होने के पहले ही वह बीमार पड़ गए और साल-भर के लिये उन्हें पढ़ाई छोड़ देनी पड़ी। इसके बाद उन्होंने अलीगढ़ के एम. ए. ओ. कालेज में ही फिर से दाखिला ले लिया। अब उन्होंने 'आर्टस' के विषय लिये किंतु एम. ए. में आकर उन्होंने अर्थशास्त्र का विषय लिया,[2] और बाद को इस में ही उन्होंने जर्मनी से डाक्टरेट किया। लेकिन उनकी प्रतिष्ठा अर्थशास्त्री के रूप में नहीं शिक्षाशास्त्री के रूप में ही स्थापित हुई। और-अधिक न पढ़ पाने का अनुताप तो उन्हे काफी बाद को ही हुआ, जो ज्ञानार्जन की लालसा से कभी भी संतुष्ट न रह सकने वाले किसी बहुमुखी प्रतिभासंपन्न व्यक्ति के लिये अपरिहार्य ही है।

---

[1]मौलवी अल्ताफ़ हुसैन-इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल के हैडमास्टर।

[2] बी. ए. में उनके विषय थे-अंग्रेजी साहित्य, दर्शन और अर्थशास्त्र।

उनकी शिक्षा का एक पहलू और भी था जिसे नजरंदाज नहीं किया जा सकता। छुट्टियों में जब वह घर जाते थे तब आमतौर पर हसन शाह को अपना इंतजार करते पाते थे। हसन शाह एक पयर्टक सूफी थे जिसकी ज्ञान की प्यास कभी बुझती ही नहीं थी। अपनी लौकिक संपत्ति और अपनी किताबों को अपने कंधे पर रखी बंहगी के दोनों छोरों पर लादे चलते थे। किताबें खरीदने के लिए उनके पास पैसे नहीं होते थे, और पढ़ने के लिए जो किताबें वह दूसरों से लाते थे उनमें से कितनी ही उन्हें ऐसी लगती थी कि उन्हे अपने पास रखें। अपनी यात्रा में वह यह हिसाब रखे रहते थे कि कायमगंज तभी पहुंचें जब कि डा. ज़ाकिर हुसैन भी घर लौटें, और, एक ऐसी नम्रता के साथ जिसकी उपेक्षा खुशमिजाज दिखाई देने वाला वह नौजवान कर ही न सके, उससे अनुरोध करते कि एक किताब की उनके लिए नकल कर दें। और डा. ज़ाकिर हुसैन इस काम पर बैठ जाते, और ईमानदारी के साथ और इतनी लगन से उस किताब की नकल कर डालते कि इससे उनकी लिखावट असाधारण रूप से सुंदर हो गई। उन्होने फारसी के भी अपने ज्ञान में वृद्धि की और सूफी मत के बारे में भी बहुत कुछ सीखा।

मेरी राय कहां तक न्यायपूर्ण या सही है यह तो मैं पक्के तौर पर नहीं कह सकता, लेकिन मेरा खयाल यही है कि डा. ज़ाकिर हुसैन की कालेज के जमाने की सभी दोस्तियां उनके लिये पूरी नियामत नही थी। उनके दोस्त कुछ ऐसे थे जो उनके वादविवाद और चुनाव संघर्षों में उनका साथ देते थे, कुछ ऐसे थे जिन्हें उनके संग-साथ, उनकी बातचीत और उनकी सनकों मे मजा मिलता था, और कुछ ऐसे भी दोस्त थे जिसकी उनमे इतनी गहरी आस्था जान पड़ती थी कि उनके व्यक्तित्व को केंद्र बना कर उन्होने अगर समूचे देश के लिये नहीं तो मुस्लिम समाज के लिए जरूर ही एक नए भविष्य का निर्माण कर डाला। यदि इन दोस्तों ने इस बात का खयाल नहीं रखा कि उनकी शक्ति निरर्थक कामों में बेकार खर्च न हो; कि मिलनसारी का आदर्श स्थापित करने और जिंदगी की अच्छी चीजों का, खासतौर से खाने-पीने की चीजों की कद्र करने की खातिर वह अपनी तंदुरुस्ती के साथ खिलवाड़ न करने पाएं, और सबसे बड़ी बात यह कि यदि उन दोस्तों ने इस बात पर भी ध्यान नहीं दिया की कोई नेता अपने अनुयायियों से भी जिन योग्यताओं और भावनाओं के स्थायित्व की अपेक्षा रखता है उन्हें वे अपने अंदर बढ़ाएं, तो इसका कारण यही रहा होगा कि अपनी इन खामियों को वे अपने नेता के व्यक्तित्व और उसकी योग्यताओं की तारीफ के पुल बांध कर पूरा कर रहे थे। डा. ज़ाकिर हुसैन के अंदर, अलीगढ़ में पढ़ते वक्त, जाहिलों, बोर करने वालो, पेटुओं और सनकी लोगों में भी कुछ न कुछ दिलचस्पी की बात दिखाई देने की कला आ गई थी। और ऐसे लोगों में से किसी ने यदि उनकी इस दिलचस्पी के कारण यह दावा करना शुरू कर दिया कि डा. ज़ाकिर हुसैन उसके खास दोस्त हैं तो इस दावे के स्वरूप और गांभीर्य का निर्धारण तो वह कर सकता था ?

विभिन्न प्रकार की मैत्रियों के इसी संदर्भ में हमें समावर्तन-अभिभाषण में कही गई उनकी इस बात की व्याख्या करनी होगी, कि अलीगढ़ में उन्होंने मतभेदों और स्वभावगत

विषमताओं के बावजूद सहयोग करने की और जिंदगी के कई तरीकों के साथ प्रयोग करने और उन पर अपनी राय कायम करने की कला सीखी।

उसी अभिभाषण में उन्होंने आज्ञापालन और सच्ची स्वाधीनता की जो परिभाषा दी है वह जर्मन दर्शन से ली गई है और संभव है कि आंशिक रूप में वह उन्हीं बातों का आदर्शीकरण रहा हो जिन्हें कि उन्होंने घर पर अपनी मां और अपने बुजुर्गों से, इटावा के इस्लामिया हाई स्कूल में सैयद अल्ताफ हुसैन जैसे व्यक्तियों के संपर्क से, और हसन शाह से सीखा। यह वह सांस्कृतिक संपत्ति थी जो अलीगढ़ के शैक्षिक तथा सामाजिक हाट में नहीं मिल सकती थी। "हमारे राष्ट्रीय जीवन और चरित्र के दोषों" की बात कहते वक्त उनके दिल में क्या था, इस बात पर भी हम विचार कर देखें, और यह भी देख लें कि विद्या के उस केंद्र के 'विधिविधान,' जिसे वह इतना प्यार करते थे, उन्हें अपने अंतःकरण के विपरीत क्यों लगे।

यह सही है कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के साथ डा. ज़ाकिर हुसैन का संबंध इतना गहरा था कि वह कभी शिथिल नहीं हो सकता था। उसके मामलों में उनकी दिलचस्पी बराबर बनी रही, और यह मानने के लिए वह किसी हालत में भी तैयार नहीं होना चाहते थे कि उसके परंपरागत रूप को, उनके द्वारा, या किसी अन्य व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह द्वारा, बदला ही नहीं जा सकता था। 1948 में जब उनके कुलपति बनने की बात उनके सामने एक चुनौती के रूप में आई तब उसे स्वीकार करने के परिणाम क्या हुए उन पर हम बाद को आएंगे किंतु इस विश्वविद्यालय का उन्हें जिन-जिन बातों में वास्तविक कल्याण दिखाई दिया उनमें उसकी सेवा करने के किसी भी मौके को उन्होंने हाथ से जाने नहीं दिया—तब भी जबकि वह उसके विरोधी दल में थे। लेकिन डा. जियाउद्दीन, जो विरोधी दल के प्रमुख लक्ष्य थे, उच्चवर्गीय मुसलमानों की मनोवृत्ति के इतने बड़े प्रतीक थे कि इस बात को विरोधी दल भी नही समझ सका, और उनके काम करने का तरीका और विरोधियों के काम को विगाड़ देने का तरीका कुछ ऐसा था कि विरोधियों का सारा विरोध, उत्तेजनापूर्ण होते हुए भी, निष्फल ही सिद्ध होता रहा।

अलीगढ़ में अब्दुर्रहमान सिंधी और अब्दुर्रहमान बिजनौरी जैसे कुछ आदर्शवादी और स्वप्नद्रष्टा भी मौजूद थे जिन्हें पूरा यकीन था कि अलीगढ़ के मुहमडन ऐंग्लो-ओरियंटल कालेज से दकियानूसी, सरकार-समर्थक, तत्वों को उखाड़ फेंकना नामुमकिन है। उन्होंने उसी तरह का एक दूसरा कालेज और किसी जगह स्थापित करने की योजना बनाई। भोपाल की बेगम से आवश्यक धन मिल जाने की आशा दिखाई देने पर इस कालेज का नाम सुल्तानिया कालेज रखा गया। किंतु धन नहीं मिला और यह कालेज निरा सपना बनकर रह गया। अलीगढ़ के पुराने विद्यार्थियों में मौलाना मुहम्मद अली जैसे युद्धप्रेमी भी थे जिन्होंने एक अर्से से कालेज के प्रबंधकों के खिलाफ आंदोलन छेड़ रखा था, और जब महायुद्ध और उसकी समाप्ति ने उनके आंदोलन को राजनीतिक शक्ल दे दी, तो कालेज के प्रिंसिपल ने और अन्य अंग्रेज प्राध्यापकों ने इस्तीफा दे दिया। इससे विद्यार्थियों के कितने ही

माता-पिता डर गए, और कालेज में दाखिल होने वालों की संख्या, जो यों ही गिरती आ रही थी, 1919 की गरमी की छुट्टियों के लिए कालेज के बंद होते वक्त, सिर्फ 181 रह गई। डा. जियाउद्दीन ने, जो उसी साल प्रिंसिपल हुए, स्थानीय और प्रांतीय अंग्रेज अफसरों को संतुष्ट करके रोकी जाने वाली सहायता की रकम को फिर से दिलाने के लिए राजी कर लिया, और मुसलमानों को आश्वस्त कर दिया कि कालेज पर सरकार की अब बुरी नजर नहीं रही। विरोधी दल भिड़ जाने के मौके की ताक में था ही, और उसे यह मौका उस समय मिल ही गया जब मुहमडन ऐंग्लो-ओरियंटल कालेज को कानूनी तौर पर एक विश्वविद्यालय में तबदील करने की योजना पेश हुई। यह मानने के काफी कारण थे कि इस योजना के पीछे राजनीतिक उद्देश्य छिपा हुआ था। डा. जियाउद्दीन भले ही बराबर इंकार करते रहें, मगर हकीकत यह है कि उच्चवर्गीय मुसलमानों का एक बड़ा वर्ग 1911 में ट्रिपोली पर इटली के हमले से और उसके बाद के बालकन युद्ध से बेचैन और घबड़ाया हुआ था। 1912 में बड़े जोश-खरोश के साथ एक चिकित्सक-मंडली को तुर्की भेजा गया। मगर तुर्की जब 1915 में महायुद्ध में शामिल हो गया और तुर्की को अरब देश, फिलस्तीन, सीरिया और इराक से निकाल बाहर किया गया, तो भारतीय मुसलमान कोई न कोई जवाबी कार्रवाई के लिये बेताब हो गये थे। उन्हे शांत करने के लिए कुछ न कुछ करना जरूरी हो उठा। सर हारकोर्ट बटलर, या 'बूटलेयर साहब' ने जैसा कि विलायत अली उर्फ बंबूक[1] ने उनका नाम रख छोड़ा था, अपना कदम उठाने के लिए शायद समझबूझ कर ही खिलाफत आंदोलन वाला वक्त चुना। उनकी योजना जो भी रही हो, ठीक ऐसे वक्त पर वह मुसलमानों के बीच फूट पैदा करने में सफल हो गए, जब कि खिलाफत आंदोलन, रौलट कानूनों के खिलाफ छिड़ी हलचल, और असहयोग आंदोलन, ये तीनों मिलकर आग मे तपाई हुई एक ऐसी फौलादी एकता तैयार करते जान पड़ रहे थे जो ब्रिटिश सरकार के लिए बड़ी अशुभ सिद्ध होती।

अपने वक्त के अधिकांश शिक्षित मुसलमानों की ही तरह डा. ज़ाकिर हुसैन भी उन जोशीली कविताओं को पढ़ते थे जिनकी उस जमाने में उर्दू अखबारों और पत्र-पत्रिकाओं में बाढ़-सी आ गयी थी, और इसके साथ ही वे मौलाना अबुल कलाम आजाद के 'अल हिलाल' और 'अल बलाग' के उच्चकोटि के गद्य को भी पढ़ते। जरूर उनके अंदर यह तमन्ना और भी जबर्दस्त हो उठी होगी कि अपनी मजहबी और सांस्कृतिक परंपरा के अनुरूप वह भी कुछ कर डालें। लेकिन 1920 में उनकी उम्र सिर्फ तेइस साल की थी और वह एम. ए. में अर्थशास्त्र के विद्यार्थी थे, जिसके साथ-साथ वकालत भी पढ़ते थे। उन्हें अंशकालिक शिक्षक का भी काम मिला हुआ था जिसके कारण वह न तो विद्यार्थियों में ही

---

[1] रफी अहमद किदवई के चाचा। व्यंग और कटाक्षपूर्ण शैली में लिखने में उन्हे कमाल हासिल था। ज्यादातर वह 1911 में शुरू होने वाले अंग्रेजी 'क्रानिकल' के लिये और उर्दू के 'अवध पंच' के लिए लिखते रहते थे।

शुमार होते थे और न अध्यापकों में ही। खिलाफत और असहयोग आंदोलन के प्रति उनका लगाव किस सीमा तक रहा यह साफ नहीं है। बाद को हम देखते है कि न तो कोई चरमपंथी कदम उठाना उन्हें पसंद था और न आसानी या किसी फायदे के खयाल से वह बहती धारा में ही बह सकते थे। उन दिनों के बारे में बातचीत करते वक्त उन्होंने मुझे बताया था कि गांधी जी के बारे मे अखबारों में वह पढ़ते जरूर थे, पर न उन्होंने उन्हें देखा था और न उनके पीछे-पीछे चलने के लिए सब-कुछ त्याग देने की भावना उनके अंदर पैदा हुई थी। फिर भी प्रतिद्वंद्वी छात्र-नेताओं से होनेवाली भिड़ंतो में मिलने वाली सफलता, वादविवाद संबंधी प्रतिभा तथा व्यक्तिगत प्रभावोत्पादकता के कारण उनकी राय को लोग काफी वजन देते थे। इसी के कारण कुछ छात्रो भी यह शक हो गया था कि डा. जियाउद्दीन ने उन्हें अपनी ओर खींचने के लिए ही शिक्षण कार्य दिया था।

अंत में विस्फोट की स्थिति आ गई। एम. ए. ओ. कालेज को कानून के अनुसार विश्वविद्यालय बनाए जाने से रोकने के लिए व्यग्र एक जोशीले दल ने मौलाना मोहम्मद अली और गांधी जी को भाषण देने के लिए आमंत्रित कर डाला। गांधी जी तो पहले से ही सरकारी और सरकारी सहायता प्राप्त स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार का प्रचार करते आ रहे थे और मौलाना मोहम्मद अली एम. ए. ओ. कालेज को एक सरकारी विश्वविद्यालय में परिणत किये जाने का प्रचंड विरोध कर रहे थे। ऐसी हालत मे इन दोनों में से किसी को भी इस आमंत्रण को स्वीकार करने में भला क्या आपत्ति हो सकती थी। दूसरी ओर सरकार समर्थक तत्वो ने भी उन नेताओं के आगमन को निष्फल बनाने के लिए सब कुछ कर डालने की ठान ली। डा. ज़ाकिर हुसैन उस मौके पर मौजूद रहने के लिए छटपटा रहे थे, पर वह बीमार थे और दिल्ली में डा. अंसारी से अपने स्वास्थ्य की परीक्षा कराना चाहते थे। दुर्भाग्यवश दोनों कामों की तारीख एक ही पड़ती थी, और ज्यादा से ज्यादा वह छात्र संघ की कार्यकारिणी के अपने दोस्तों से यह हार्दिक अनुरोध ही कर सकते थे कि सभा का वक्त उस दिन ज्यादा से ज्यादा देर करके रखा जाए। ऐसा हो नहीं सका, और 21 अक्टूबर को जिस वक्त तक वह दिल्ली से वापस लौटे तब तक गांधीजी छात्रों के बीच अपना भाषण देकर चले जा चुके थे।

छात्रों के लिए रेलवे स्टेशन एक मनोरंजन का स्थान बना हुआ था जहां के प्लेटफार्मों पर वे तीसरे पहर और शाम को टहलते रहते थे। डा. ज़ाकिर हुसैन जब दिल्ली से लौटे तो स्टेशन पर उनके कुछ दोस्त उन्हें लेने आए हुए थे, और उस मौके पर भी हमेशा की तरह छात्रों की भीड़ वहां चहलकदमी कर रही थी। उसमें कुछ छात्र गांधी जी और मौलाना मोहम्मद अली की पूर्ण विफलता का जश्न सा मना रहे थे और उन लोगों के बारे में भद्दे व्यंग कर रहे थे और उनका मजाक उड़ा रहे थे। उनके अपने दोस्तों की भी प्रतिक्रिया वैसी ही दिखाई दे रही थी। एक बार उन्होंने मुझे बताया कि गांधी जी के बारे में उनके उस बर्बरतापूर्ण अश्रद्धा-प्रदर्शन से उनका सिर शर्म से बुरी तरह झुका जा रहा था। यह शिक्षा और संस्कृति के, हर ऊंची और पवित्र भावना के खिलाफ़ जुर्म था, जिसका प्रायश्चित उन्हें

करना ही था। जामिया मिल्लिया के लिए, भारतीय शिक्षा के लिए और इस राज्य की प्रतिष्ठा वृद्धि के लिए उन्होंने जो कुछ किया वही था यह प्रायश्चित।

इस घटना का अगला दिन, 13 अक्टूबर, व्यक्तिगत और सार्वजनिक स्तर पर बहस-मुबाहसे का दिन बना रहा। न कोई समझदारी की बात सुनाई दे रही थी और न किसी जबान पर कोई लगाम थी; परस्पर-विरोधी लोग एक दूसरे को भद्दी से भद्दी गालियां दे रहे थे। लेकिन ये तौर-तरीके एक अजब ढंग से और तेजी से बदल गए। छात्र संघ की बैठक के दौरान मौलाना मुहम्मद अली और शौकत अली अचानक आ पहुंचे। उन्होंने कोई भाषण नहीं दिये, बल्कि आंखों में आंसू भरे हुए बोले कि छात्रों से वे बिदा लेने आए हैं और अपने टूटे हुए दिल को लेकर अपनी हार मान वापस जा रहे हैं। उनका ग़म इतना सच्चा था कि कितने ही लड़के रो पड़े, जिनमे डा. ज़ाकिर हुसैन भी एक थे। उन्हे तेज बुखार था और वह खुद नहीं बोलना चाहते थे, लेकिन वह इतने उत्तेजित हो उठे थे कि रह न सके।

एक बार उन्हें भेदिया कहा गया, सिर्फ इसलिए कि उन्होंने एक सहपाठी की समझदारी की बातों का समर्थन किया; अब उन्होंने यह घोषणा करके कि अपने शिक्षण कार्य से वह इस्तीफा देने जा रहे है और जो छात्रवृत्ति उन्हें मिल रही है उसे भी नहीं लेगें, बहुमत को अपने पक्ष में कर लिया। उनके अंदर का पठान जिस बात से अचानक जग उठा था वह यह चुनौती थी कि जो लोग वर्तमान शिक्षा संस्थाओं के बहिष्कार के पक्ष में है उनमे एक ऐसी राष्ट्रीय शिक्षासंस्था को स्थापित करने का साहस और साधन-संपन्नता होनी चाहिए जहां जाकर विद्यार्थी अपनी पढ़ाई जारी रख सके। उस सभा मे तो उन्होंने अपने इरादे के बारे मे खुलकर कुछ नहीं कहा, लेकिन कुछ ही दिनों बाद वह दिल्ली जा पहुंचे और वहां हकीम अजमल खां, डा. अंसारी, मौलाना मुहम्मद अली और अन्य प्रमुख लोगों से मिले। उन्होने उन लोगों को भरोसा दिलाया कि यदि कोई राष्ट्रीय शिक्षा संस्था खोली जाए तो एम. ए. ओ. कालेज के बहुतेरे अध्यापक और विद्यार्थी उसे छोड़ वहां चले आएंगे। नेताओं को इससे ज्यादा भला और क्या चाहिए था ? 29 अक्टूबर 1920 को जामिया मिल्लिया इस्लामिया की स्थापना हो गई, और देवबंद के मौलाना मुहम्मद हसन ने अपना अभिभाषण देते हुए उसके लक्ष्यों और आदर्शों पर प्रकाश डाला।[1]

---

[1] डा. ज़ाकिर हुसैन ने खुद जो बात मुझे सुनाई वह मौटे तौर पर यही है। इस घटना के बारे मे एक दूसरा ब्यौरा यह है कि समूची योजना के पीछे मौलाना मुहम्मद अली का ही बराबर हाथ रहा और 29 अक्टूबर 1920 को जामिला मिल्लिया इस्लामिया की स्थापना इसलिए की गई कि उन्होंने एम. ए. ओ. कालेज के अधिकारियों को यह आखिरी फैसला सुना दिया था कि अगर उस तारीख तक उसे राष्ट्रीय संस्था का रूप न दे डाला गया तो एक नई संस्था की स्थापना उस दिन कर दी जाएगी। अधिकांश विद्यार्थी मौलाना मुहम्मद अली के प्रभाव में थे और कालेज को राष्ट्रीय रूप दिये जाने के पक्ष में। उनकी सफलता का कारण यही माना जाता है।

2. तैयारी के वर्ष

जामिया मिल्लिया इस्लामिया कहलाने वाली जमात का काम कालेज की मस्जिद में शुरू हुआ और कुछ अर्से तक यह साफ नहीं था कि कौन लोग एम. ए. ओ. कालेज में हैं, जो अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का रूप लेने जा रहा था, और कौन जामिया मिल्लिया में आ गए हैं, क्योंकि सभी लोग एक ही इमारत में रहते थे। डा. जियाउद्दीन और उनके समर्थकों ने पहले तो कालेज के बंद कर दिये जाने का ऐलान कर दिया और छात्रों को घर लौट जाने के लिये राजी करने की कोशिश की। कुछ चले भी गए। जो बच गए थे उनसे भी छुटकारा पाने की नीयत से उन लोगों ने उनके माता-पिताओं को तार दिए कि जल्द आकर वे अपने लड़कों को इस मुसीबत से उबारें। इसके बाद उन्होंने उन लोगों को फुसलाने की कोशिश की जो जामिया मिल्लिया में आ गए थे, और डा. ज़ाकिर हुसैन को नायब तहसीलदार का लालच दिया—यदि वे बागी लोगों का साथ छोड़ दें। मगर अंत में कालेज के अहाते से बागियों को निकाल बाहर करने के लिए पुलिस बुलवाई गई, जो मार्च करती हुई आ पहुंची और जल्दी-जल्दी खड़े किये गये तंबुओं आदि में उन्हें ठहरा दिया गया। तब तक उन लोगों के ठहरने की व्यवस्था पक्की नहीं हो सकी तब तक अलीगढ़ शहर से उनके लिए पका-पकाया खाना मंगवाया जाता था। ये तमाम बातें राष्ट्रीय अखबारों में छपती रहती थीं और आज भले ही वे अजीब सी लगें, पर उन दिनों उन्हें कहीं ज़्यादा महत्व का समझा जाता था। राष्ट्रीय शिक्षा के इस उद्यम में भाग लेने के लिए समूचे देश से कितने ही जोशीले नौजवान त्याग की प्रचंड भावना और बहुत बड़ी आशा के साथ सम्मिलित हो गए।[1]

22 नवंबर, 1922 को जामिया मिल्लिया इस्लामिया को एक उपयुक्त शैक्षिक और प्रशासनिक रूप दे दिया गया। उसके लिए एक न्यासी मंडल की, एक कार्य समिति की,

---

[1] श्री इर्शादुल हक ने, जो उन दिनों विद्यार्थी ही थे, और जिन्होंने एम. ए. ओ. कालेज को छोड़ जामिया मिल्लिया में दाखिला लिया था, मुझे बताया है कि सुभाष चंद्र बोस ने भी, जो तब सी. आर. दास के सचिव थे, जामिया मिल्लया में आने की इच्छा प्रकट की थी, लेकिन सी. आर. दास ने उन्हें नहीं छोड़ा।

जिसे 'सिंडिकेट' का नाम दिया गया, और एक एकेडेमिक कौंसिल (शैक्षिक समिति) की व्यवस्था की गई। उसका सर्वोच्च अधिकारी चांसलर (कुलपति) कहलाया, और उसके बाद के अधिकारी कहलाए वाइस चांसलर (उप-कुलपति), प्रो-वाइस चांसलर (सम-उपकुलपति), फिर कालेज के प्रिंसिपल (प्रधानाचार्य), सेक्रेटरी (सचिव) और रजिस्ट्रार (कुल-सचिव)। हकीम अजमल खां कुलाधिपति निर्वाचित हुए, मौलाना मुहम्मद अली कुलपति, और ए. एम. ख्वाजा, जो कैंब्रिज में जवाहरलाल नेहरू के समकालीन थे, प्रधानाचार्य चुने गए। सारे ही संगठन पर केंद्रीय खिलाफत समिति का आधिपत्य था और वही सारा खर्च उठाती थी। जामिया मिल्लिया के इतिहास में डा. ज़ाकिर हुसैन के नाम का पहले पहल उसकी अध्यापक-मंडली के बीच 4 नवंबर 1921 को उल्लेख मिलता है, और 24 जनवरी 1922 को उसकी कार्यसमिति के सदस्यों की सूची में नीचे की ओर दिखाई पड़ता है; प्रकाशनों के प्रधान अधिकारी के रूप में वह शैक्षिक समिति के भी सदस्य थे। विद्यार्थियों को नियमित कक्षाओं में विभाजित नहीं किया गया था। जो विद्यार्थी उच्च स्तर के थे वे निम्नतर स्तर के विद्यार्थियों को पढ़ाते थे, और वे स्वयं, जब भी मौका मिल पाता था, शैक्षिक समिति, कार्य समिति और केंद्रीय खिलाफत समिति के विशिष्ट सदस्यों के व्याख्यान सुनते थे। इन उच्चस्तरीय विद्यार्थियों को खिलाफत और असहयोग आंदोलनों के आदर्शों का प्रचार करने के लिए जो सिखाना जरूरी समझा जाता था उसके लिए करीब एक साल तक छह हफ्ते वाले पाठ्यक्रम चलते थे। फिर वे लोग टोलियां बनाकर देश के भिन्न-भिन्न भागों में चले जाते थे। डा. ज़ाकिर हुसैन इस तरह के राजनीतिक कार्यों में शामिल नहीं होते थे। उन्होंने प्लेटो के 'रिपब्लिक' का जो उर्दू अनुवाद छात्रावस्था में शुरू किया था उसे अब पूरा कर डाला, और फिर कैनन की 'एलिमेंटरी पोलिटिकल इकानमी' का अनुवाद किया। साधारणतः लिखने-लिखाने की रुचि का उनमें अभाव था, जिससे लगता है कि यह अनुवाद कार्य उन्होंने इसीलिए किया होगा कि और किसी काम में उनकी दिलचस्पी थी ही नहीं। मुझे याद नहीं पड़ता कि इस काल के कोई किस्से उन्होंने सुनाए हों, सिवाय इस बात के कि ए. एम. ख्वाजा के भतीजे डा. के. ए. हमीद ने किस तरह उन्हें धकेल-धकाल कर विदेश भेज दिया। जामिया का भाग्य जिन 'लीडरों'[1] के हाथों में था उनकी मनोवृत्ति और तौर तरीकों के खिलाफ अपनी मुखालफत दिखाने का उनका तरीका था उनके बारे में चुप्पी अख्तियार कर लेना। हकीम अजमल खां शायद इसी वजह से पृष्ठभूमि में चले गये।

---

[1] 'लीडर' शब्द का इस्तेमाल इस सदी के पहले तीन दशकों में उर्दू बोलने वाले उत्तर भारतीयों द्वारा ठीक 'नेता' के अर्थ में नहीं किया जाता था। 'लीडर' शब्द से किसी ऐसे नेता का बोध नहीं होता था जो लोगों को किसी लक्ष्य की ओर ले जाता है, बल्कि ऐसे व्यक्ति का जिसने सत्ता, प्रभाव और हैसियत वाले उच्च वर्ग में शामिल समझे जाने का हक हासिल कर लिया है। यह मतलब 'लीडर' से बने 'लीडर' शब्द से बिल्कुल साफ हो जाता है। 'लीडर' नेतृत्व इतना नहीं करता था, जितना की 'लीडर' होने की प्रतिष्ठा और विशेषाधिकारों का उपयोग करता था।

इन लीडरों से कुछ साल बाद वास्ता पड़ने पर मैंने इनके बारे में जैसा कुछ जाना उससे यही लगा की वे लोग, हठधर्मी की अपनी क्षमता के हिसाब से ही ज्यादा या कम मात्रा में, बुद्धि और कर्म के क्षेत्र पर अपना ही एकछत्र अधिकार मानकर चलते थे। यह मनोवृत्ति शायद अनिवार्य भी है, और सराहनीय भी मानी जा सकती है, बशर्ते कि नेतृत्व से अपेक्षित उच्चतम वृत्तियों को निभाने की आकांक्षा को उससे बढ़ावा मिले। लेकिन सचमुच ही वह समाज बड़ा अभागा है जिसके नेता खुद ही यह मान कर चलें कि लोगों की सारी उम्मीदों को वे पूरा कर रहे हैं, उनके अनुयायियों को उनकी पद-मर्यादा को प्रतिष्ठित रखने के लिए जो भी संभव है सब करना चाहिए। इस काल के अधिकांश मुस्लिम नेताओं को सबसे ज्यादा ध्यान इस बात का नहीं था, कि जो काम किये जाने को हैं वे हो रहे हैं, बल्कि इस बात का रहता था कि उस दिशा में चलने मात्र के लिए उन्हें लोगों से कितनी वाहवाही मिलती है। मौलाना मुहम्मद अली जो कुछ सोचते, बोलते या लिखते थे वह मुख्यतः अपने ही बारे में, और खिलाफत आंदोलन के जमाने में उन्हें जो वाहवाही मिल रही थी उसके बीच उनकी उस आत्मश्लाघा की ओर शायद लोगों का ध्यान जा नहीं पाया। एक लीडर और थे जिनके अंदर जरूरी और गैर जरूरी बातों के बीच तमीज करने की काबलियत ही नहीं थी और इसलिए उनके सारे काम बेतरतीब होते थे। जिन बातो पर फौरन ध्यान देने की जरूरत थी उनका नंबर सबसे पीछे आता था, या उन पर विचार करने का मौका ही नहीं आता था। लीडरों के इस पदानुक्रम में कुछ और नीचे के स्तर पर ऐसे लोग थे जो सिर्फ इस बुनियाद पर ऊंची हैसियत और अधिकार का दावा करते थे कि प्रतिष्ठिाप्राप्त नेताओं ने जिन उच्च भावनाओ को जाग्रत किया है उनसे प्रभावित होने की उदारता उन्होंने भी दिखाई है। इसी की बिना पर अयोग्यता या अकर्मण्यता का कोई आरोप उनके खिलाफ लगाया ही नहीं जा सकता था, और अपनी स्थिति उन्होंने इस बिना पर और भी मजबूत कर ली थी कि जो लीडर उन्हें इस रास्ते पर लाये थे उनकी ओर वफादार बने रहने के लिए अगर वह प्रचार नहीं करते रहेंगे तो लोग उनसे विमुख हो जाएंगे और आंदोलन में फूट पड़ जाएगी।

जिन विद्यार्थियों को लेकर जामिया मिल्लिया तैयार हुआ था वह भी भानुमती के पिटारे जैसा ही था। ये लोग नए-नए जोश में थे जिसे कायम करने के लिए उनके लीडरों की गरमागरम तकरीरें जरूरी थीं। उनमें से अधिकांश धार्मिकता और इस्लामी जोश में डूबे हुए थे, अथवा गैर-मुसलमान छात्र होने पर, देशभक्ति के जोश में। लेकिन उनके दिलों में जहां आग लगी थी, वहां दूसरी ओर दिमागों में धुंध छाई हुई थी। चिंतनशीलता करीब-करीब बिल्कुल ही नहीं थी, और मानसिक संतुलन का भी अभाव था। ऐसा लगता था कि जोश में आ जाने पर तो वे लोग कुछ भी कर डालने पर आमादा थे, लेकिन वैसे कुछ भी नहीं। फिर भी, उन लोगों के बीच भी, कुछ-एक ऐसे लोग मौजूद थे ही, जो अपने उत्साह की खुराक अपने अंदर से ही लेते थे और सख्तियों और विफलताओं को झेलने की क्षमता रखते थे। इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति थे शफीकुर्रहमान किदवई।

1920 में वह बी. ए. के अंतिम वर्ष के विद्यार्थी थे; बड़े ही आरामतलब मिजाज के, और खाने-पीने के मामलों में बड़े शौकीन और तुनुकमिजाज । जब यह नई हवा आई तब उन्होंने अपने विदेशी कपड़े आग के हवाले कर दिये और मोटा खद्दर पहनने लगे । अब तक जो नौजवान झेंपू और चुप्पा सा था, वह एक बारगी ही एक पक्का राजनीतिक वक्ता बन बैठा । उसके चरित्र की अंतर्जात उच्चता और धीरज, और अध्यवसाय के साथ काम में लगे रहने की क्षमता का सहसा ही आविर्भाव दिखाई दिया । खिलाड़ी तो वह था ही; वह गा सकता था, हंस सकता था, दूसरो को प्रोत्साहित कर सकता था और उन्हें सांत्वना भी दे सकता था । उसका आचरण भरोसा पैदा करने वाला था, मुस्कान लुभाने वाली थी । शैक्षिक कार्यक्रम की नीरसता उसके लिए उबाने वाली थी और उसकी जोशीली प्रकृति और स्फूर्ति ने शीघ्र ही उसे राजनीति में सक्रिय भाग लेकर जेल जाने के लिए मजबूर कर दिया । वह बेल्लोर में राजाजी के साथ-साथ जेल में था, और उसकी नम्रता, उसके आकर्षक स्वभाव और अपने बड़ों की सेवा करने की इच्छा ने राजाजी को उसका प्रशंसक बना दिया। एक दूसरा, और दूसरे ही ढंग का, उदाहरण हमें डा. के. ए. हमीद के रूप मे मिलता है । वह इलाहाबाद में विज्ञान के विद्यार्थी थे, और जोश में आकर अपने विश्वविद्यालय को छोड़ा उन्होंने जरूर इसलिए था कि जामिया मिल्लिया में आकर पढ़ाई जारी रखें, पर उनके अंदर की जो ठोस यथार्थवादिता, कल्पनाशक्ति तथा संगठन क्षमता बाद को उनके बड़े काम की सिद्ध हुई उन्हें ज्यादा दिन यहां टिकने नहीं दिया, क्योंकि उनकी प्राकृतिक विभूतियां इस नए परिवेश में कोई अभिव्यक्ति नहीं पा सकीं । उन्होंने और भी आगे पढ़ाई जारी रखने के लिए विदेश जाने का निश्चय कर डाला, और अपने दोस्त डा. ज़ाकिर हुसैन को भी न सिर्फ ऐसा करने के लिए, बल्कि उनसे भी पहले वहां चले जाने के लिए, मजबूर कर दिया ।

दिसंबर 1968 में डा. हमीद के 70वें जन्मदिन के अवसर पर उनकी याद करते हुए डा. ज़ाकिर हुसैन ने कहा था कि "वह थे ही ऐसे, कि उन्होंने मुझे अपने अधिकार में ले लिया-मेरे वर्तमान को भी और भविष्य को भी । उन्होंने फैसला किया कि आगे की पढ़ाई के लिए मुझे जर्मनी जाना चाहिए । मेरे एतराजों का, मेरी कठिनाई का, मेरे जड़त्व का मानों कोई अस्तित्व ही नहीं था । फैसला उनका था, इसलिए मुझे जाना ही था । बच नेकलने की कोई सूरत नहीं थी । उन्होंने मेरे सफर की सारी व्यवस्था की, और जहाज में ख़ैरियत के साथ मैं चढ़ जांऊ इसकी खातिर बंबई तक मेरे साथ गए । और बंबई में कुछ दिन का जो साथ रहा उस बीच वह मुझे सभ्यतापूर्वक रहने की मूलभूत बातें सिखाते रहे–किस तरह कपड़े पहनना, किस तरह छुरी-कांटे से खाना, और आमतौर पर वे सारी ही बाते जो यूरोप में रहने के लिए जरूरी हैं । उन्होंने जो कुछ सिखाया वह मैं सिर्फ इसलिए नहीं भूल पाया कि मेरे अंदर स्वस्थ प्रकार का यह भय बैठ गया था कि मैं उन्हें कहीं किसी तरह का सदमा न पहुंचा दूं, और मुझे यकीन है कि उन सारे इम्तिहानों को बिना किसी बड़ी गलती के पास कर गया ।"

डा. ज़ाकिर हुसैन का पासपोर्ट इंग्लैंड के लिए ही था, पर उनकी योजना कुछ और ही थी। वह योजना कब बनी यह स्पष्ट नहीं है। ट्रियेस्टे में ही उन्होंने जहाज छोड़ दिया और आस्ट्रिया होते हुए जर्मनी जा पहुंचे, जहां उन्हें पर्यटकों वाला एक विजा मिल गया। सरोजिनी नायडू के बड़े भाई वीरेंद्रनाथ चटोपाध्याय की मध्यस्थता से, जिन्हें उनके दोस्त लोग चट्टो कहते थे, इस विजा का काल जर्मन परराष्ट्र विभाग द्वारा बढ़ा दिया गया। पासपोर्ट को भी बाद को उचित समर्थन प्राप्त हो गया, किंतु पंजीकरण के लिए पुलिस दफ्तर में उनकी यात्रा के प्रमाणस्वरूप जितनी भी मोहरें उस पर लगी हैं उनसे यही प्रकट होता है कि वे इनकी रिहाइश के अनुमति-पत्र नहीं थे।

डा. ज़ाकिर हुसैन की पूरी तस्वीर मेरे सामने बर्लिन के निकट श्लास्तेंजे में श्वानर-परिवार के घर पर उभर कर आई जहां कि डा. आबिद हुसैन और मैं अपना खर्च देने वाले मेहमानों के तौर पर रह रहे थे। लम्बा-चौड़ा पूरा कद, न ज्यादा हट्टे-कट्टे और न ही थलथले, बाल किसी हद तक घुंघराले और कटी-छंटी दुरुस्त दाढ़ी। किंतु इन बारीकियों की ओर तो बाद को ही ध्यान जा पाया था। सबसे ज्यादा ध्यान खींचने वाली तो उनकी आंखें थीं जिसके अंदर रहस्यभरी गहराइयां थीं और जिनकी अपनी एक अलग ही जबान थी जो चिंतन और भाव के उच्चतम स्तरों पर गुफ्तगू करने का न्यौता देती थी। उनकी मुस्कुराहट उन लोगों को मानो माफी दे रही होती थी जो उनकी आंखों के संदेश को न तो पढ़ ही सकते थे और न समझ ही। जबान का नंबर अंत में आता था। दरअसल उनके पीछे यह बोध स्पष्ट था कि जबान खोलना इसलिए जरूरी हो जाता है कि आमतौर पर लोग आंखों की भाषा पढ़ने में असमर्थ रह जाते हैं, पर यह बोध भी इतना अधिक स्वैच्छिक और आह्लादपूर्ण होता था कि उनके साथ होने वाला वार्तालाप अत्यंत आकर्षक हो उठता था और अक्सर वे कवि-श्रोता को मंत्रमुग्ध कर लेते थे। उनकी बौद्धिक स्फूर्ति के सुस्पष्ट प्राचुर्य के साथ उनकी शारीरिक निश्चेष्टता का कोई मेल नहीं दिखाई देता था। थकाने वाली जिन छोटी मोटी हरकतों के बिना काम चलाया जा सकता था उनसे अपने को बचाने का और दूसरों को अपनी मदद के लिए उकसाने का उनका एक कारगर तरीका था, असहायता की मुद्रा बनाए रहना, जो उनके संपूर्ण व्यक्तित्व से इतनी बेमेल दिखाई देती थी कि वह मनोरंजन का श्रोत बन जाती थी; यह एक ऐसा जाल था जिसमें मेरे जैसे असावधान लोग बार-बार फंस जाते थे। मुझे लगता था कि अपने ऊंचे डीलडौल और मर्यादाबोध के बावजूद उन्हें सचमुच किसी ऐसे आदमी के सहारे की जरूरत रहती थी जो उनका हाथ पकड़े रहे और उनके साथ-साथ घूमता फिरे; यह तो मैं बाद को ही जान सका कि उनके अंदर मनुष्यों और परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए उन बहुतों के मुकाबले कहीं ज्यादा साहस, कहीं अधिक पहल और कहीं अधिक योग्यता थी जो खुद ही अपने अंदर इन गुणों का दावा करते रहते हैं।

डा. ज़ाकिर हसैन कोई डायरी नहीं रखते थे। व्यवस्थित जीवन के प्रति उनके अंदर एक वितृष्णा थी जो संभवतः अलीगढ़ में पढ़ते समय उनके अंदर आ गई थी, और जिसे

वह दूर नहीं कर सकते थे । यों दूसरों के अंदर व्यवस्था की भावना के वह प्रशंसक थे और अध्यापक रहते उनका गुणगान करते थकते नहीं थे, लेकिन जब अपना सवाल आता था तो ऐसा लगता था कि वह उन्हें अपनी स्वाधीनता पर एक कष्टप्रद बंधन जैसा ही जान पड़ता था । यह बात उनकी खामी बनकर ही लोगों के सामने आती–अगर पांच मिनट के लिए भी उनके साथ बातचीत होते ही वे यह न भांप लेते कि उनके लिए स्वाधीनता का अर्थ था बुद्धि और कल्पना का एक ही साथ सभी दिशाओं में किसी भी क्षितिज की ओर, उससे परे भी, निरंतर बढ़ते जाना । स्वभावतः डा. ज़ाकिर हुसैन न तो कोई डायरी ही रख सकते थे और न पूर्व योजना के अनुसार अपने कार्य ही निर्धारित कर सकते थे । वह एक ही साथ इतनी दिशाओं में सफर करते रहते थे कि वह सिर्फ आगे की ही ओर देख सकते थे ।

उनके कार्यकलाप का कालानुक्रम के हिसाब से कोई विवरण पेश करना भी निरर्थक ही होगा, क्योंकि प्रायः सभी मौकों से पूरा फायदा उठाने की प्रेरणा ही उन्हें आगे बढ़ाती थी । विदेशों में जाकर पढ़ने वाले भारतीय विद्यार्थी पूरी तरह संतुष्ट हो जाते हैं अगर उनके अपने निबंध, शोध-प्रबंध अथवा थीसिस प्रकाशित हो जाएं । डा. ज़ाकिर हुसैन ने गालिब के 'दीवान' का एक संस्करण सिर्फ इसलिए प्रकाशित करा डाला कि बर्लिन में एक ईरानी छापाखाना था जिसमें फारसी के बड़े अच्छे टाइप थे । उन्होंने उसके मालिक और फोरमैन से परिचय प्राप्त किया, उन्हें इस काम के लिए तैयार किया, और छापेखाने में कंपोजिटरों की कमी होने की वजह से कुछ-कुछ यह काम भी खुद किया । फिर उन्होंने जिल्दसाजों के सर्वश्रेष्ठ प्रतिष्ठानों में से भी एक के मालिक से परिचय प्राप्त किया । आखिर 'दीवान' का एक ऐसा जेबी संस्करण प्रकाशित हो गया जो तब तक के ऐसे संस्करणों में करीब-करीब सर्वश्रेष्ठ था । इसका खर्च उठाने के लिए उनके पास जो भी नकद रकम थी उसका अधिकांश हिस्सा तो उसमें खपा ही दिया, साथ ही डा. आबिद हुसैन से ओर मुझसे भी जितना कर्ज पा सके लिया । हम सभी को इस बात के लिए राजी हो जाना पड़ा कि जामिया का प्रकाशन विभाग, मकतबा, जिसके फायदे के लिए ही यह काम हाथ में लिया गया था, धीरे-धीरे इस रकम को चुका देगा, और यह कोई बुरी व्यवस्था नहीं है । इस प्रयास के कारण उन्हें और उनके दोस्तों को जिन आर्थिक कठिनाईयों का सामना करना पड़ा उनसे उनके कदम नहीं रुके, बल्कि एक दूसरे मौके पर भी वैसा करने से वह नहीं चूके। हेर श्वानर, जिसके साथ ही हम लोग रह रहे थे, प्रारंभिक पाठशालाओं के शिक्षकों के लिए एक पत्रिका प्रकाशित करते थे । उनके दामाद डा. एहरेनट्राइख अंग्रेजी अच्छी तरह जानते थे । डा. ज़ाकिर हुसैन को लगा कि गांधी जी पर जर्मन भाषा में एक किताब प्रकाशित होनी चाहिए । उन्होंने और डा. एहरेनट्राइख ने मिलकर यह किताब लिख डाली और 'बोट्शाफ्ट देश महात्मा गांधी' प्रकाशित हो गई । इस बार भी उन्होंने अपने दोनों दोस्तों को अपनी सारी रकम इस उद्योग में लगा देने के लिए राजी कर लिया, लेकिन प्रकाशकों से उन्होंने इस रकम की वापसी के बारे में कोई बात नहीं की, क्योंकि वे लोग भी दोस्त ही थे और मुद्रास्फीति ने उन्हें बड़ी चोट पहुंचाई थी । प्रकाशकों का ख्याल यह था कि

उस प्रकाशन की मंद में जो रकम उन्हें दी गई थी वह उनकी ओर से दिया हुआ दान था जिसे लौटाना नहीं था, और डा. ज़ाकिर हुसैन शिष्टाचारवश उनकी उस गलतफहमी को दूर नहीं कर पाए। नतीजा जो हुआ उसका अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है।

पुस्तक प्रकाशन का कार्य विद्या-संबंधी कार्य है, न कि पशु-पालन व्यवसाय। लेकिन इसमें डा. ज़ाकिर हुसैन की दिलचस्पी पैदा करने वाले थे स्वीडेन निवासी एक पीटर्सन साहब जो श्वानर परिवार के कुछ काल तक अतिथि रहे थे और जिन्होंने डेनमार्क और स्वीडेन में होने वाले पशुपालन तथा दुग्ध-व्यवसाय के बारे में बहुत कुछ बताया था। अक्तूबर 1924 में डा. ज़ाकिर हुसैन ने उनके साथ इन देशों का भ्रमण किया। इस शौक को पूरा करने के लिये कितना खर्च करना पड़ेगा इसका हिसाब लगाने की दोनों में से किसी में भी न कोई इच्छा ही थी और न क्षमता ही, जिसका नतीजा यह हुआ कि स्टाकहोम में जब वे दोनों किसी होटल में ठहरे हुए थे तब उसके बिलों का भुगतान करने के लिए उनकी जेबें खाली थीं। सौभाग्य से पीटर्सन यह जानते थे कि डा. ज़ाकिर हुसैन ने महात्मा गांधी पर एक लेख लिखा था; संभव है, कोई अखबार उसे छापने के लिए राजी हो जाए। डा. ज़ाकिर हुसैन ने लेख तैयार किया, पीटर्सन ने उसका अनुवाद कर डाला, और एक अखबार ने उसे डा. ज़ाकिर हुसैन के फोटो के साथ छाप भी दिया। पारिश्रमिक की रकम काफी थी जिसकी बिना पर वह जर्मनी वापस लौट सके। उस अखबार की एक प्रति उन्होंने मुझे दी थी जिसे मैंने बरसों तक रखा।

स्टाकहोम में वह जिस तंगी की हालात में थे वैसी ही जरूरत यहीं जर्मनी में भी पैदा हो गई होती तो शायद जर्मन अखबारों के लिए भी उन्होंने लेख लिख डाले होते। उन दिनों जर्मनी की भारत में गहरी दिलचस्पी थी, और डा. ज़ाकिर हुसैन के लेख अखबारी लेखों के मुकाबले कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण होते, क्योंकि राजनीति और संस्कृति के अधिक गंभीर मामलों की उनकी पकड़ अच्छी थी। मुझे याद है कि एक मौके पर उन्होंने अपने एक भाषण में जर्मनों को चेतावनी दी थी कि उन नई ताकतों के सामने वे न झुकें जो कि उनकी संस्कृति को क्षति पहुंचा सकती हैं। इस भाषण का एक नतीजा यह हुआ कि एक जर्मन व्यवसायी का उन्हें एक खत मिला जिसमें उसने उनकी उन बातों के लिये कृतज्ञता प्रकट की थी और यह जानना चाहा था कि क्या वह किसी रूप में उनके या उनके देश के काम आ सकते हैं। मुझे याद है कि मैंने यह खत पढ़ कर उनसे पूछा था कि इसका किस तरह का जवाब दिया जाए। जवाब में उन्होंने सिर्फ अपने कंधे उचका दिये, जिसका मतलब ही था कि इस बारे में और कुछ करने को नहीं है।

विदेश जाने में डा. ज़ाकिर हुसैन का प्रधान उद्देश्य था अर्थशास्त्र में पी. एच. डी. की डिग्री लेना। वहां उनके शिक्षक थे जर्मनी के प्रमुख अर्थशास्त्री वेर्नर जोंबार्ट और जेहरिंग। जोंबार्ट के वह विशेष रूप से प्रशंसक थे, जो किसी दार्शनिक और किसी इतिहासकार की भांति लिखते और बोलते थे और विनोदपूर्ण शैली के उस्ताद थे। लेकिन ऐसी काबलियत वाले अध्यापक भी उन्हें सिर्फ एक ही विषय तक सीमित नहीं रख सके। किसी प्राचीन

भाषा के नाते अरबी तो उन्हें पढ़नी ही पड़ती थी, साथ ही दर्शन और शिक्षाशास्त्र के विषय भी उन्होंने ले रखे थे । उनकी थीसिस का विषय था भारत में अंग्रेजों की भूमि संबंधी नीति, और इनसे संबद्ध मूल दस्तावेजों का इंडिया आफिस लाइब्रेरी और ब्रिटिश म्यूजियम में अध्ययन करने के लिये वह लंदन भी गये । वहां उन्होंने कितनी ही और भी किताबों को उलट-पलट डाला होगा । लेकिन यह सब कुछ तो शिक्षाशास्त्र के दर्शन में उनकी दिलचस्पी की वजह से मानों राह चलते हाथ लग गया । मुझे नहीं मालूम कि केर्शेंस्टाइनर से उनका व्यक्तिगत रूप में परिचय हुआ था या नहीं, लेकिन उनकी कृतियों का उन्होंने गहरा अध्ययन किया था, और साथ ही रिकेर्ट, डिल्थेई और श्लियरमाखर की भी कृतियों का, और उन्हें यह लगा कि उनके अन्दर उसी शिक्षा-पद्धति का स्पष्टीकरण है जिसका प्रतिपादन इस्लाम और अन्य सभी वास्तविक संस्कृतियों में किया गया है और जिसमें अच्छे समाज का आदर्श निहित है । उन्होंने स्प्रैंगर का भी अध्ययन किया जो शिक्षाशास्त्र तथा मनोविज्ञान का उस मत का प्रमुख प्रतिपादक है जिसे बुद्धि का दर्शन कहा गया है । जर्मन विद्वत्ता ने उन पर बड़ी गहरी छाप डाली थी, लेकिन विद्वता के क्षेत्र से बाहर जाकर उन्होंने उन विचारों और संस्थाओं का भी अध्ययन किया था जो महायुद्ध के बाद चिंतन तथा जीवन की संपूर्ण पद्धति को एक अधिक स्वस्थ दिशा देने की आकांक्षा से उत्पन्न हो गये थे । वह कई ऐसे शिक्षाविदों से भी मिले जिन्होंने प्रयोगात्मक विद्यालय खोल दिये थे, और ऐसे कुछ विद्यालयों में गए भी । उनमें से अधिकांश तभी तक कायम रह सके जब तक कि उनके संस्थापक-शिक्षकों के बीच मतैक्य बना रहा, और जब उनके बीच मतभेद उत्पन्न होने लगे तो धीरे-धीरे उनका लोप होने लग गया । केवल वाल्डर्फ स्कूल ही ऐसे थे जो कायम रहे ।

विश्वविद्यालय से पृथक बौद्धिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों से संबद्ध कार्यों में डा. ज़ाकिर हुसैन का मार्ग सुगम करने में गेर्डा फिलिप्सबार्न से बड़ी मदद मिली थी । पहलेपहल उनसे हमारी मुलाकात चट्टो की सबसे छोटी बहन श्रीमती नंबियार द्वारा आयोजित होने वाली उन सांध्य गोष्ठियों में से एक में हुई थी जिसका उद्देश्य था सही किस्म के जर्मनों और भारतीयों को एक साथ एकत्र होने का अवसर देना । फिर श्रीमती नंबियर ने इन गोष्ठियों का आयोजन करना बंद कर दिया । और हमारे सामाजिक जीवन में शून्यता आ गई । मुझे याद है कि एक ऐसी ही शाम को मैं डा. ज़ाकिर हुसैन के पास था जबकि अचानक ही वह अकेलापन महसूस करने लगे थे । उन्होंने श्रीमती नंबियर को फोन करके जानना चाहा कि उनकी अगली गोष्ठी कब होने वाली है, और उनका जवाब सुनकर इस कदर खीज उठे कि मुझसे यह बोले कि वह उन्हें यह दिखाकर रहेंगे कि कम-से-कम उनका काम उनके संगसाथ के बगैर जरूर चल सकता है । "तो फिर श्रीमती फिलिप्सबार्न को ही क्यों न फोन कर देखा जाए?"—उन्होंने मुझसे पूछा । "क्या आपका खयाल है कि उनके साथ हमारी जान-पहचान इस हद तक है ?"—मैंने जवाब दिया । 'देखा जाए—" वह बोले, और उसी दम उन्हें फोन कर बैठे । वह घर पर ही मौजूद थीं और बोलीं कि उन्हें उनसे मिलकर खुशी

होगी। यह एक ऐसी मित्रता की शुरूआत थी जिसकी गहराइयों का कोई अंदाजा नहीं लगा सकता था और जो 1943 में गेर्डा फिलिप्सबार्न की जामिया मिल्लिया में ही मृत्यु होने तक कायम रही।

वह बर्लिन के एक संपन्न यहूदी परिवार की महिला थीं। उनके शौक बड़े ही व्यापक थे और प्रमुख शिक्षाविदों, संगीतज्ञों, वाद्यवृंद-संचालकों, नाट्यकारों तथा चित्रकारों में से अनेक के साथ उनका व्यक्तिगत परिचय था। उन्होंने विवाह क्यों नहीं किया यह मैं कभी न जान सका, और न मैंने कभी यह पूछा ही। उनके अंदर भावुकतापूर्ण उल्लास का प्राचुर्य था, साथ ही उनके पास धन और हैसियत थी। डा. ज़ाकिर हुसैन और उनकी दिलचस्पियों के बारे में जब से उनकी जानकारी बढ़ी थी तबसे तो वह उनके लिए सब कुछ करने के लिए तैयार रहती थीं। उनके साथ डा. ज़ाकिर हुसैन ने उच्च-से-उच्चकोटि की चीजें देखीं—संगीत गोष्ठियां, गीति-नाट्य, नाटक, कला-प्रदर्शनियां, स्कूल। लेकिन दोनों की ही जिंदगियां यों बिल्कुल अलग-अलग थीं। डा. ज़ाकिर हुसैन के अंदर उनके प्रति कोई भावुकतापूर्ण आसक्ति नहीं जान पड़ती थी, और उनके साथ जब वह वार्तालाप में मग्न रहते थे तब, जब भी उसमें शरीक होने का मुझे भी मौका मिला, मुझे यही लगा कि इस प्रकार की किसी आशक्ति के विरुद्ध उनकी आग्रहपूर्ण आत्मभिव्यक्ति का ही यह एक उदात्त और बौद्धिक रूप था।

डा. जाकिर हुसैन से इस बारे में कोई पूछताछ किये बिना ही मैं बरसों तक इस रोमानी दोस्ती के बारे में उनके दृष्टिकोण को समझने की कोशिश करता रहा। मुझे लगता है कि इस मामले में उनका आचरण इस्लाम की 'हया' वाली भावना से नियमित होता था। इसे सिर्फ शर्म नहीं कहना चाहिये, बल्कि इसके अंदर अन्तःकरण के वे सभी आदेश समाविष्ट हैं जो आचरण को शालीनता और औचित्य के उच्चतम स्तर तक पहुँचा देते हैं और किसी निम्नतर स्तर पर उतरने से रोक देते हैं। मुस्लिम परंपरा के अनुसार हया का तकाजा यह है कि औरतों का संग-साथ तो दूर रहा, उनकी ओर नजर उठाकर देखना भी नामुनासिब है, और इस परंपरा ने अगर असामाजिक नहीं तो अप्रिय प्रवृत्तियों के विकास में तो मदद की ही है। डा. ज़ाकिर हुसैन का लालन-पालन हालांकि इसी परंपरा में हुआ था और यूरोप जाने से पहले तक स्त्री-पुरुषों के मिले-जुले समाज का अनुभव उन्हें नहीं हुआ था, फिर भी वह इस तरह के मिले-जुले समाज में बिलकुल सहज रूप से रह सकते थे। उन्होंने जल्द ही यह जरूर भांप लिया होगा कि उनका जैसा व्यक्तित्व सुसंस्कृत यूरोपीय महिलाओं के लिये आकर्षक है। और केवल सुसंस्कृत महिलाओं के लिये ही नहीं। 1924 के बर्लिन के मई दिवस की एक मजेदार घटना मुझे याद है। पेड़ों और झाड़ियों में एक नई जिंदगी खिल उठी थी; प्रकृति की छटा लुभावनी थी और सभी को आनंदोत्सव मनाने के लिये प्रेरित कर रही थी। नामुमकिन था कि रोजमर्रा के काम में घर पर ही दिन गुजार दिया जाए। हममें से चार या पांच स्टाड्टबान के स्टेशन आमृत्सा में इकट्ठे थे। वसंत ऋतु का प्रभाव सबसे ज्यादा डा. ज़ाकिर हुसैन पर ही दिखाई दे रहा था। वह खुले गले वाली एक कमीज पहने थे,

दाढ़ी सलीके से कटी-छंटी थी और हवा को उन्होंने अपने सिर के बालों के साथ छेड़खानी करने की आजादी दे रखी थी; उनकी आंखों में एक रोमानी नूर था। हम सभी कहीं निकल जाना चाहते थे, और जब किसी जगह के बारे में फैसला नहीं हो पाया, तब हम लोग वंजे के लिए रेल में सवार हो गए जहां झीलें थीं, और जंगल। रेल में खड़े रहने भर की ही जगह मिल पाई, और डा. ज़ाकिर हुसैन दरवाजे पर थे। किसी उपनगर वाले स्टेशन पर कुछ श्रमजीवी लड़कियों की एक टोली दिखाई दी जो किसी रेल गाड़ी के या अपने दोस्तों के इंतजार में थी। उनकी नजर डा. ज़ाकिर हुसैन पर पड़ी, और अपनी आदत के मुताबिक उन्होंने अपनी खिलखिलाहट से उनका ध्यान अपनी ओर खींचना चाहा। जवाब में जब वह मुस्कुराए तक नहीं, तब वे लड़कियां ओर भी जोर से खिलखिलाने लगी। मैं डा. ज़ाकिर हुसैन के नजदीक ही खड़ा था और उनके चेहरे पर क्या प्रतिक्रिया हो रही है, देख रहा था। उनकी आंखों में एक समझदारी वाली चमक थी, और साथ ही झुंझलाहट और असहायता वाले भाव; और रेलगाड़ी जब उन लड़कियों के सामने से होकर गुजरी तो उन्होंने फ्रांसीसी रंगमंच की उत्कृष्टतम अदा में उन लड़कियों की ओर एक चुंबन उछाल दिया।

गेर्डा फिलिप्सबार्न के अलावा भी कई अन्य महिलाएं उनकी मित्र थीं। कभी-कभी मैं यह कह कर उन्हें चिढ़ाता था कि अपनी महिला मित्रों की संख्या में वह गेटे की बराबरी करने लगे हैं, और जिनके बारे में मुझे जानकारी थी उन्हें गिनाना शुरू कर देता। अपने उस वक्त के मिजाज के हिसाब से कभी वह अपनी भौंहें चढ़ाकर इंकार करते, और कभी मेरी सूची में कोई नाम और जोड़ देते। उनकी अधिकांश मित्र-महिलाएं यहूदी थीं। उनमें से एक फ्रालाइन हेख्त अनिश्चित उम्र वाली एक अविवाहित महिला थीं—तीस से ज्यादा चालीस के करीब। बड़ा सिर था, और उस पर ढेर सारे बाल। कुछ झुक कर चलती थीं, शायद ज्यादा भारी होने की वजह से। उनकी आंखें भी बड़ी-बड़ी और काली थीं, जिनसे सदियों के भोगे हुए कष्ट और दुःख झलकते रहते थे, बल्कि और भी आगे आने वाले दुःख। उनकी ओर आंख उठाकर ताकने के लिए मुझे हिम्मत करनी पड़ती थी, और मुझे याद नहीं कि उनसे मेरी कभी बात हुई हो। किंतु डा. ज़ाकिर हुसैन के प्रति उनका आत्म-समर्पण इस सीमा तक था कि हर वक्त वह यही सोचती रहती थीं कि उनके लिए वह और क्या कर सकती हैं। इनकी थीसिस का उन्होंने अनुवाद किया और उसे खुद ही टाइप भी करके तैयार कर डाला; और इनके अलावा भी कितने ही फुटकर काम। इसके सिवा वह और कर भी क्या सकती थी, पर स्पष्ट ही उनकी निगाह में सिर्फ उतना काफी नहीं था। और यह सोचकर भी तो वह कोई सांत्वना नहीं पा सकती थी कि जिनके दिल में दर्द का कोई इलाज नहीं था उनमें अकेली वही तो नहीं थीं।

जान पड़ता है कि जर्मनी में बिताए गए तीन साल, कई वजहों से डा. ज़ाकिर हुसैन की जिंदगी के सबसे ज्यादा खुशी के साल थे। कोई जिम्मेदारियां नहीं थीं सिर पर; किसी नियमित दिनचर्या का बंधन नहीं था। उन्हें यही महसूस होता था कि वह ऐसे लोगों के बीच रह रहे हैं जो लड़ाई में अपना सब कुछ गवां देने के बाद सारी कमियों को पूरा कर डालने

के लिए संघर्ष कर रहे हैं। अपनी समस्याओं का उन्हें भान था, दूसरों के विचारों के सुनने का आग्रह था, और नए-नए आविष्कार करने, नया सृजन करने, के लिये तो वे जैसे दीवाने हो उठे थे। छोटी से छोटी बातों को ध्यान देने के प्रति वे अत्यंत सतर्क थे, और इसी बुनियाद पर उन्होंने पूर्णता की अपनी परिकल्पना को खड़ा किया था। कड़ी मेहनत करते वे थकते नहीं थे, कर्त्तव्यनिष्ठा के साथ अपना काम करना उन्हें आत्मानुभूति का सर्वोच्च रूप दिखाई देता था। उन बरसों के बीच जिन लोगों ने जर्मन जीवन का अध्ययन किया था उन्होंने उनके इन्हीं पहलुओं को प्रधानता जरूर नहीं दी होगी। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि जर्मन लोगों के अंदर अपने पूर्वमान्य मूल्यों के प्रति संदेह उत्पन्न हो गए थे और अपने विचार को दूसरों पर लादने की जगह वे अपने ही मानव-क्षितिज को व्यापक बनाने के लिए अधिक आतुर हो उठे थे। गांधी जी पर लिखी रोमा रोला की किताब की बिक्री अभूतपूर्व संख्या मे हुई थी, और दुरुस्त दिमाग वाले करीब-करीब हर भारतीय छात्र ने उन दिनों जर्मनो के अंदर भारत के बारे में और भी ज्यादा जानकारी हासिल करने की लालसा पाई; दर असल यह लालसा अन्यान्वेषण के लिये भी थी और उच्चतम मूल्य की खोज के लिए भी थी। डा. ज़ाकिर हुसैन जैसे सूक्ष्मग्राही भारतीय के लिये यह असंभव था कि वह उस बौद्धिक उत्तेजना से और अविराम गति के चलने वाले उस बौद्धिक एवं कलात्मक क्रियाकलाप से प्रभावित हुए बिना रह जाते। गालिब की तरह उन्होंने भी महसूस किया होगा :

हज़ारों ख्वाहिशें ऐसी की हर ख्वाहिश पे दम निकले,
बहुत निकल मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले।

उन्होंने एक नया ही दृष्टिकोण प्राप्त किया; अपनी कल्पना को पूरी छूट देना सीखा; उनके अंदर भी यह लालसा जागी कि अपनी दुनिया को भी एक बेहतर नमूने पर गढ़ें, मानव व्यक्तित्व और महज नकलची और गुलाम बनने देने की जगह उसे अपनी नई दुनियां गढ़ने वाला बनाएं, जो सांस्कृतिक साधन अब तक उपेक्षित ही पड़े रहे हैं उनका उपयोग अपने जीवन को अधिक समृद्ध करने में करें। उन्हें उस असंतोष और अधीरता की भी छूत लग गई जिनके बीच ही आमतौर पर नया कुछ गढ़ने की प्रवृत्ति पैदा होती है, लेकिन उस वक्त पड़े बीजों में से कई तो बाद को ही अंकुरित हुए जबकि उन्होंने अपने ही देश में शिक्षा संबंधी अपनी धारणा का प्रचार करना शुरू किया।

लेकिन आकाश में चिंता के बादल दिखाई दे रहे थे। लग रहा था कि जामिया मिल्लिया का विघटन शुरू हो गया है। राष्ट्रवादियों के खिलाफ सरकार ने जब कार्रवाई शुरू की, तो मौलाना मुहम्मद अली और कई अध्यापक और छात्र जेल में बंद कर दिये गये। यदि इतने तक ही रहता तो यह धक्का अल्पस्थायी ही होता। लेकिन फरवरी 1922 में असहयोग आंदोलन भी स्थगित कर दिया गया; उसी साल सितंबर में, तुर्कों ने अनातोलिया से यूनानियों को खदेड़ दिया और सेव्रे की संधि महज कागज का एक टुकड़ा बन कर रह गई। फिर, तुर्की राष्ट्रीय सभा ने खलीफा के अधिकारों को सीमित करना शुरू कर दिया, और

अंत में 1924 में, खिलाफत का ही खात्मा कर दिया। मौलाना मुहम्मद अली को इतनी ज्यादा तकलीफ हुई कि खिलाफत के सवाल पर भारतीय मुसलमानों के एक प्रतिनिधि-मंडल से मिलने की इजाजत के लिए उन्होंने कमाल अता-तुर्क को तार भेजा, मगर उन्हें कोई जवाब तक नहीं मिला, और खिलाफत कमेटी ने तुर्की को जो धन भेजा था उसका इस्तेमाल, जैसा कि मुझे बाद को हालिदा अदीब हानूम से मालूम हुआ था, अता-तुर्क ने अपनी पार्टी को तैयार करने पर खर्च कर डाला। अब न तो खिलाफत कमेटी के कायम रहने की और न ही लोगों को इसके लिए चंदा देने की कोई वजह बाकी बची थी। खिलाफत कमेटी से मिलती रहने वाली रकम ही जामिया मिल्लिया की आमदनी का एक मात्र जरिया था, और यह रकम पूरी तरह बंद होने से पहले ही घटती चली आ रही थी। आखिर जामिया मिल्लिया दिवालिया हो गया। मौलाना मुहम्मद अली अपनी साफ राय जाहिर कर चुके थे कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय पर उनका कब्जा जब तक नहीं हो सका तो उसकी जरूरत तभी खत्म हो गई; दूसरे लीडर भी देश में फैली हुई कुंठा और निराशा के रोग जैसे ग्रस्त हो गए। लेकिन अधिकारियों में से हकीम अजमल खां और ए.एम. ख्वाजा, और अध्यापकों और ऊंचे दरजों के छात्रों में से जो कट्टर लोग थे वे जामिया मिल्लिया के प्रति अपनी निष्ठा में अडिग रहे आए और खिलाफती लीडरों के निराशावाद के शिकार नहीं हुए। 29 जनवरी, 1925 को जामिया मिल्लिया की संस्थापना समिति की जो बैठक हुई उसमें गांधी जी मौजूद थे, और उनके समर्थन प्राप्त होने की बात से प्रोत्साहित हो हकीम अजमल खां उसे अलीगढ़ से दिल्ली ले आए जहां करौल बाग में, जो कि उस जमाने में पुराने शहर का एक उपेक्षित-सा उपनगर ही था, उसके लिए जगह मिल गई।

जामिया मिल्लिया के बिगड़ते हुए हालात के बारे में डा. ज़ाकिर हुसैन को जरूर ही खबर दी गई होगी। मेरे साथ, या मेरी मौजूदगी में औरों के साथ, उनकी जो बातचीत हुई उससे यह जाहिर नहीं हुआ कि उसकी सेवा के लिए वह वचनबद्ध थे। राजनीतिक मामलों पर वह ज्यादा बात नहीं करते थे, सिवा शायद चट्टो के साथ, जो जर्मनी स्थित अन्य सभी भारतीयों की ही तरह उन्हें भी कम्युनिज्म का हामी बना लेना चाहते थे। इन सारी बातचीतों के दौरान हमेशा ही ऐसा लगा कि वह गांधी जी के अहिंसात्मक तरीकों के ही हामी थे, जैसा कि मुझे ऐसी बातचीतों में अक्सर शामिल रहने वाले एन.जी. गनपुले से मालूम हुआ है। लेकिन 1925 के शुरू-शुरू में एक दिन जामिया मिल्लिया को लेकर उनके और डा. आबिद हुसैन के बीच एक गंभीर बातचीत हुई, जो मैं भी सुन रहा था। डा. ज़ाकिर हुसैन बोले कि चाहे जो भी हो, वह तो जामिया मिल्लिया में ही काम करने का फैसला किए बैठे हैं। डा. आबिद हुसैन भी उनका साथ देने के लिए तैयार थे। मैंने भी कहा कि मैं भी जामिया मिल्लिया में काम करने को तैयार हूं। डा. ज़ाकिर हुसैन ने मेरी ओर शक की निगाह से देखते हुए कहा, "नहीं, तुम्हारे लिये यह फैसला करना ठीक नहीं होगा।" मैंने पूछा, क्यों? उन्होंने जवाब दिया जामिया मिल्लिया मेरे लिए उपयुक्त स्थान

नहीं है। मैंने फिर भी जानना चाहा कि आखिर क्यों; अगर उनके लिए वह स्थान उपयुक्त है, तो मेरे लिए क्यों नहीं? वह बोले, कि उनकी बात अलग है; वह पहले से ही वचनबद्ध हैं। जब मैं इस बात पर अड़ा ही रहा कि मैं भी वहीं काम करूंगा, तो जरा तीखी आवाज में बोले, 'देखो, दिल्ली स्टेशन पर एक गाड़ी में बिठाकर अगर मैं तुम्हें किसी खुले मैदान में ले जाऊं, और कहूं कि 'यही जामिया मिल्लिया है,' तो तुम क्या करोगे ?'' मैंने जवाब दिया कि अगर वह उसे खुले मैदान को ही जामिया मिल्लिया बताएंगे तो मैं भी उसी को जामिया मिल्लिया मान लूंगा। इस बीच बराबर हम लोग कमरे के बीचोंबीच खड़े हुए थे। मेरी आखिरी बात के जवाब में उन्होंने स्नेहपूर्वक मुझे अपनी छाती से लगा लिया और बोले, ''बहुत ठीक, तो तुम भी हम लोगों के साथ चलो।''/ १५

कुछ ही वक्त बाद हम लोग हकीम अजमल खां और डा. अंसारी से मिले, और एक तार भेज दिया गया कि हम तीनों जामिया मिल्लिया की सेवा करेंगे, और जब तक हम लोग वहां वापस पहुँचें तब तक इस बारे में कोई फैसला न किया जाए।

फरवरी 1926 के शुरू में हम लोग नार्डायुटशर लायड स्टेमर एस.एस. डेर्फिंगर से वापस रवाना हुए और कोलंबो में जा उतरे। वहां से हम लोग रेल में आए। डा. ज़ाकिर हुसैन सीधे जामिया मिल्लिया गए और उसके बाद कुछ ही वक्त के लिए कायमगंज। मैं करीब छह दिन के लिए घर पर रहा। इसके बाद मुझे डा. अंसारी का दिल्ली आने का तार मिला।

नहीं, कोई खुला मैदान नहीं था जामिया मिल्लिया। सड़क के एक किनारे, लतीफ मंजिल कहलाने वाली एक लंबी इमारत के दूसरे मंजिल पर थे उसके छात्रावास, स्टाफ के निवास स्थान और नमाज व भोजनशाला वाला कमरा। सड़क के दूसरे किनारे चार मकान थे, जिनमें से दो में पढ़ने की क्लासें थीं, एक में पुस्तकालय और एक में दफ्तर। मगर सिर्फ इतना ही था।

जामिया की समूची जमात ने डा. ज़ाकिर हुसैन को करीब-करीब एक ऐसे व्यक्ति के रूप में अपने बीच ग्रहण किया जिसकी फांसी की सजा माफ कर दी गई हो। उन्हें शैखुल जामिया के दफ्तर से लगे हुए कमरे में ठहराया गया, और बिना किसी रस्म-अदायगी के, उन्हें एक ऐसे पद पर बिठा दिया गया जिसके कामों को न संभाल सकने की वजह से एक के बाद कई 'लीडर' उसे छोड़ चुके थे। लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन जिस वक्त आए उस वक्त उस पद पर ताहिर एस. मुहम्मदी थे। उन्होंने ईमानदारी के साथ अपने कामों को किया था और अध्यापक मंडली को, जिसके अंदर काफी ढीलापन आ चुका था, मेहनत के साथ काम करने की जरूरत महसूस करा दी थी। लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन के आते ही उन्हें और उनके काम को पूरी तरह भुला दिया गया, जिससे उन्हें इतनी तकलीफ हुई कि जामिया के ही सामाजिक जीवन से वह बिलकुल ही अलग हो गए, और अध्यापन-कार्य को छोड़ बाकी सभी कामों से उन्होंने अपना हाथ खींच लिया। डा. जाकिर हुसैन ने उन्हें संतुष्ट करने के लिए जो कोशिशें की भी होंगी उनका कोई नतीजा नहीं निकला।

जामिया वाली जमात को अव्यवस्थित हालात में रहने की आदत थी। अलीगढ़ से

जामिया मिल्लिया का दिल्ली लाया जाना सही भी था और जरूरी भी, मगर कई अध्यापकों और छात्रों को कई वजहों से यह अच्छा नहीं लगा, और अगस्त, 1925 में जब दिल्ली में फिर से जामिया खुला, तो उसमें अध्यापकों और छात्रों को मिलाकर कुल-जमा अस्सी लोग थे। ये ऐसे लोग थे जो गुजरी हुई बातों को भूल जाने के लिए और भविष्य पर विचार करने के लिए राजी थे, और शिक्षा कार्यक्रम का पालन करने पर ताहिर एस. मुहम्मदी का जोर देते रहना ही एक ऐसी बात थी जो पीछे से आने वाले क्रम को चालू रखने की जरूरत की याद दिलाती थी। डा. जाकिर हुसैन को जामिया को बचाने के खातिर फौरन कोई कार्रवाई कर दिखाने के लिए कितने ही भयों और आशाओं का मुकाबला करना पड़ा, कितनों को ही उमंगों, उछालों और बड़ी-बड़ी बातों का सामना करना पड़ा। किसी इमारत को बचाने वाले ठेकेदार की तरह उन्हें कितने ही कुशल या अकुशल कारीगरों की बड़ी-बड़ी जोशीली बातें सुननी पड़ती थीं जो उसी दम नक्शों की और इमारती सामान की मांग कर रहे थे, और जो यह दलीलें दे रहे थे कि अगर एक बार काम शुरू भर हो जाए तो वे बहुत कम या बगैर मजदूरी लिए ही काम करने को तैयार हैं। उनसे न सिर्फ एक साहसपूर्ण नेतृत्व देने की मांग की जा रही थी बल्कि एक ऐसी आत्म-विस्मृति की भी, जिसके बीच शरीर-रक्षा भी प्रकृति के किसी जादू के जोर से ही संभव है। उनसे यह उम्मीद की जाती थी कि उनकी अपनी जरूरतें तो कुछ होंगी ही नहीं, बल्कि हर वक्त वह हर किसी के लिए उपलब्ध रहेंगे, सिर्फ दूसरों की ही इच्छाओं और आवश्यकताओं को देखेंगे, सभी मामलों में सांत्वना या परामर्श देने के लिए तैयार रहेंगे, फालतू से फालतू बातचीत को भी तब तक जारी रखेंगे जब तक कि दूसरा पक्ष ही थक न जाए। फिर भी उनके सहयोगियों में से जो भी अपना परेशानियां लेकर उनके पास गए उनमें से अधिकांश ने ही यह महसूस किया होगा कि उनके इलाज़ में सचमुच ही जादू की छड़ी का असर था।

डा. ज़ाकिर हुसैन के सहयोगियों की उनके संबंध में कितनी भी ऊंची धारणा क्यों न रही हो, वह खुद यही महसूस करते थे कि मुस्लिम समाज में उनकी तब तक कोई भी हैसियत नहीं बनी थी। उन्हें करीब-करीब पूरी तरह मुस्लिम समाज के बारे में ही सोचना पड़ता था, क्योंकि हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की दरार इतनी चौड़ी हो गई थी कि यह आशा करना कि दोनों ही समाजों का समर्थन जामिया को मिल सकेगा, वास्तविकता की उपेक्षा करना था। मुस्लिम समाज से संपर्क स्थापित करने के लिए उन्हें हकीम अजमल खां और डा. एस.ए. अंसारी पर निर्भर करना पड़ता था। वे दोनों ही ज्यादा से ज्यादा काम करने के लिए सचमुच व्यग्र रहते थे, पर वे दोनों सिर्फ पेशेवर हकीम-डाक्टर ही नहीं राजनीतिक नेता और ऊंची सामाजिक हैसियत वाले लोग थे, और मुश्किल से ही अपनी उन तमाम जिम्मेदारियों को निभाने का वक्त निकाल पाते थे। हकीम अजमल खां अमीर-जामिया (कुलाधिपति) होने के नाते अपनी जिम्मेदारी ज्यादा महसूस करते थे; लेकिन अपने स्वभाववश और अपनी संस्कृति के कारण वह इतने ध्यान और धैर्य के साथ

बातें सुनते थे कि उन पर एक नजर डालते ही मुलाकाती को वक्त बचाने की, और सीधे अपनी बात पर पहुंच जाने की, प्रवृत्ति का दमन करने के लिए बाध्य हो जाना पड़ता था। जब वह किसी को मुलाकात का मौका देते थे तो मुलाकाती को ऐसे दरबारी की तरह पेश आना होता था जो शिष्टाचार की सारी बारीकियों से बखूबी वाकिफ है, और जब कभी उम्र या हैसियत में अपने से कम किसी मुलाकाती को वक्त देते थे, तब तो पहले से ही यह मान कर चला जाता था कि उनकी पाबंदी करना उनके लिए निहायत जरूरी नहीं है। करौलबाग से बल्लीमारान तक के, जो कि शहर के बीचोंबीच है और जहां पर हकीम अजमल खां रहते थे, डा. ज़ाकिर हुसैन को न जाने कितनी बार चक्कर लगा कर बिना मुलाकात हुए लौट आना पड़ता था, जब कि सवारी के लिए पैसे खर्च करने में भी तंगी का सामना करना होता था। पर वह जानते थे कि इस तरह के विफल प्रयत्न अनिवार्य थे। वह यह भी जानते थे कि उनकी ईमानदारी, उनकी हिम्मत और उनके कौशल के बारे में हकीम अजमल खां की राय बहुत ऊंची थी, और मुलाकात के लिए वक्त देने के बाद उसके न हो पाने जैसी दुर्घटनाओं से बड़ी चोट उन्हें भी इसीलिए महसूस होती थी कि अपने बुजुर्ग के लिए उनके मन में भी श्रद्धा थी। डा. अंसारी के सांस्कृतिक विचार आधुनिक थे। वह साफ बात करते थे और दिल के खुले थे, और उनके लिए उनकी मौहब्बत भी साफ थी। लेकिन राजनीतिक कामों में बहुत ज्यादा वक्त देने से उनके आमदनी पर जो बुरा असर पड़ता था उसकी वजह से, और अपनी उदारता के परिणामों के फलस्वरूप भी वह अक्सर मुश्किल में पड़ जाते थे।

लीडरों पर ही, जिनके पास जामिया के लिये कुछ भी कर सकने के लिए कभी भी काफी वक्त नहीं रहता था, निर्भर करने की इस मजबूरी के पीछे मुझे यही वजह दिखाई देती थी कि अमीरों से सहायता प्राप्त करने के माध्यम एकमात्र वे लोग ही थे, और अमीरों से मतलब था मुख्यतः नवाबों और ताल्लुकेदारों से। इन लोगों से मिलने के लिए उनकी कृपा की प्रतीक्षा करनी पड़ती थी, और अगर मुलाकात का वक्त ठीक हो गया, या किसी सौभाग्य से उनसे मुलाकात हो भी गई, तो यह देखकर चलना पड़ता था कि मुस्लिम समाज की अवस्था के बारे में और उनकी उचित शिक्षा की आवश्यकता के बारे में बातचीत शुरू करने पर उनकी क्या प्रतिक्रिया शुरू होती है। अगर बातचीत के दौरान जामिया का कोई जिक्र आ गया तो इस बात का खयाल रखना पड़ता था कि कोई ऐसी बात मुंह से न निकल जाए जिसकी वजह से जामिया की ओर ब्रिटिश सरार के रुख के बारे में कोई सवाल पूछ लिया जाए। ऐसे ही एक मौके की बात मुझे याद है, जबकि नवाब रामपुर के एक दरबारी ने यह सवाल कर दिया था। इसका जवाब देने की जगह, हकीम अजमल खां ने, मौजूद लोगों में से किसी से कहा कि वह जरा पर्दा खींचकर हटा दें क्योंकि रोशनी कम आ रही है। इस तरह ध्यान बंटा दिये जाने से बातचीत का ढर्रा बदल गया था।

रईसों से मदद मांगने के लिए जाना धीरज की पूरी परीक्षा कराना था, और डा. ज़ाकिर

हुसैन यह अच्छी तरह जानते थे। दूसरा रास्ता सिर्फ यह था कि संगठित रूप से प्रचार करके मुस्लिम समाज का समर्थन प्राप्त करने की कोशिश की जाए, जिसका संतोषजनक परिणाम तभी निकल सकता था जबकि चंदा इकट्ठा करने का काम लगातार होता रहे। किंतु शिक्षण के कार्य के साथ-साथ धन-संग्रह का यह काम नियमित रूप से किया नहीं जा सकता था, क्योंकि शिक्षकों की संख्या भी बहुत कम थी। फिर भी, यह बात ध्यान में रखने की है कि मुस्लिम जनता, जहां इस विचार को तो नापसंद नहीं करती थी कि उचित शिक्षा सामयिक आवश्यकताओं के और साथ ही इस्लाम की परंपराओं के अनुरूप हो, वहां राष्ट्रीयता के सिद्धांत या कार्यों के साथ शिक्षा का मेल बैठाना भी पसंद नहीं करती थी। सार्वजनिक सहायता प्राप्त करने के लिए जरूरी था कि उनके रुख के बदलने का इंतजार किया जाए।

डा. ज़ाकिर हुसैन हकीम अजमल खां के साथ, या अकेले भी, धन-संग्रह के लिए जाते जरूर थे। लेकिन उनके लिए यह दिखाना भी जरूरी था कि धन मिले या न मिले, काम तो चलना ही रहना चाहिये। दिन पर दिन सफेद खद्दर की चादर से ढकी दरी पर पालथी लगाए बैठे-बैठे वह लोगों से बात करने में, या दफ्तर के कागजों को निपटाने में, या चिट्ठियां लिखने में लगे रहते थे, और कभी-कभी एक सख्त सफेद मसनद के सहारे पीठ टिका लेते, या दफ्तर की नीची मेज पर झुके रहते। दफ्तर के काम के लिए उन्हें कोई सहायक नहीं मिला हुआ था और उनसे मुलाकात करने वालों को पहले से वक्त नहीं लेना होता था। काम पूरा करने के लिए उन्हें सवेरे आठ बजे से लेकर तीसरे पहर चार बजे तक, करीब-करीब लगातार ही, बैठे रहना पड़ता था—यहां तक कि शौचादि की हाजत को भी रोके रहना पड़ता था। और जो लोग यह चाहते थे कि वे चलते-फिरते नजर आएं, उन्हें तो वह शारीरिक अकर्मण्यता की मूर्ति ही लगने लगे थे। वह खुद कभी कोई सख्त बात मुंह से नहीं निकालते थे, लेकिन किसी दूसरे के मुंह से निकली कोई कड़ी, या शक-शुबहे की, या निराशा की बात सुनते ही ऐसा कस कर जवाब देते थे कि सुनने वाले की सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती थी। जो कोई भी अपने काम के संबंध में कोई सुझाव लेकर उनके सामने आता था उसकी मूल योजना में वह इतनी होशियारी के साथ संशोधन और सुधार स्वीकार करा लेते थे कि आने वाला यही समझता था कि डा. ज़ाकिर हुसैन ने उसे कोई सलाह नहीं दी, बल्कि उल्टे वही उन्हें कोई ऐसी बात बता आया है जो उन्हें पसंद आ गई है। जब किसी सभा या स्वागत-समारोह या किसी नुमाईश का आयोजन करना होता था—अक्सर तो ये तीनों ही एक साथ हुआ करते थे—तो डा. ज़ाकिर हुसैन अपने विचारों और सुझावों को इतनी बड़ी संख्या में अपने सहयोगियों के सामने पेश करते फिरते थे कि उनमें से जो सबसे अधिक परिश्रमी और उद्यमी थे वे भी उन्हें ग्रहण करने में असमर्थ हो जाते थे। जो लोग काम करने के लिए तैयार रहते थे काम कराते-कराते वह पागल ही बना डालते थे। मगर उनका बहुत सा वक्त बेकार की, हालांकि बड़ी जानदार, बातचीत में खर्च होता था, क्योंकि अपनी संस्कृति को जैसा उन्होंने समझा था उसका तकाजा था कि बेवकूफों की बात भी खुशी-खुशी सुनी जाए।

जून 1926 में डा. ज़ाकिर हुसैन, डा. आबिद हुसैन, शफ़ीकुर्रहमान किदवई और मैं साबरमती आश्रम में गांधी जी से मिलने के लिए गए। हम लोगों के वहां पहुंचने की तारीख और वक्त की उन्हें सूचना देने वाला तार किस वजह से मेरे नाम से भेजा गया था। गलती से उसे 'मुंजे' पढ़ लिया गया, जिनके साथ ठीक उसी समय गांधी जी का रिश्ता टूट चुका था। साफ है कि आश्रम के दफ्तर में उस तार पर कोई ध्यान नहीं दिया गया होगा, और हम लोग अप्रत्याशित अतिथियों के रूप में ही वहां पहुंचे। मगर हमें ठहराने के लिए जगह दी गई, और अगली सुबह तक गलती उन लोगों के पकड़ में आ गई और हमें हरजाना मिल गया। सवेरे के नाश्ते के लिये हमें गांधी जी की कुटिया में आने का न्यौता मिला, जहां हम लोग एक पंक्ति में बिठा दिये गए, और बा ने, जैसाकि कस्तूरबा गांधी को स्नेहपूर्वक कहा जाता था, खाना परोसा। तभी पीछे से कोई कह उठा, "वाह, क्या बढ़िया नजारा है," और पीछे मुड़कर हम देखते क्या हैं, कि लंबे-लंबे कद बढ़ाते गांधी जी हम लोगों की ओर बढ़े आ रहे हैं। नजदीक ही वह एक खाट पर बैठ गए, और मुझे याद है कि उनके चेहरे पर खुशी की मुस्कुराहट थी, और सवेरे की प्रार्थना वाला वह स्तोत्र भी, जो

यं ब्रह्मा: वरुणेंद्र रुद्र मरुत:. . .

से शुरू होता है।

गांधी जी और डा. ज़ाकिर हुसैन की यह पहली मुलाकात थी, और दोनों उसी क्षण एक दूसरे पर फिदा हो गए। जामिया के बारे में उनके बीच लंबी बातचीत हुई और धन-संग्रह के संभव उपायों पर भी विचार हुआ। गांधी जी बोले कि वह भिक्षा की झोली लेकर निकलने को तैयार हैं, पर उन्हें डर है कि इससे कहीं मुस्लिम लोकमत जामिया के खिलाफ न हो जाए, और वह यही चाहते हैं कि जामिया एक बिलकुल ही मुस्लिम संस्था बनी रहे। डा. ज़ाकिर हुसैन इससे सहमत थे। वह भी यह जरूरी मानते थे कि जामिया को आर्थिक सहायता मुसलमानों से ही मिलनी चाहिये। जान पड़ता है कि अपने रचनात्मक कार्यों के अपने धन-संग्रह के निमित्त गांधी जी ने बर्मा जाने की योजना बना रखी थी, और मुसलमानों के एक प्रतिनिधि-मंडल के भी वहां चले जाने की संभावना पर दिल्ली में विचार किया गया था। कोई खास बात तो तय हो नहीं पाई थी, मगर उस बातचीत के नतीजे स्थायी सिद्ध हुए। गांधी जी को विश्वास हो गया कि जामिया अब एक अच्छे मुसलमान के हाथों में है जिसकी हिन्दू मुस्लिम एकता में पूरी आस्था है। और डा. ज़ाकिर हुसैन ने भी महसूस किया कि उन्हें गांधी जी का पूरा समर्थन प्राप्त है और अब वह राष्ट्रीय जीवन के तूफानी समुद्र में अपनी किश्ती को सही दिशा की ओर ले जाने के लिए अपनी समझ के हिसाब से निश्चिंत होकर चल सकते हैं। वक्त के साथ-साथ वह आपसी समझदारी और भरोसा बढ़ाते ही चले गए।

अहमदाबाद से डा. जाकिर हुसैन हैदराबाद चले गए। वहां कुछ धन इकट्ठा हुआ, लेकिन एक ऐसे 'लीडर' की सलाह पर चलने के लिए बाध्य होने की वजह से, जिनका

दावा यह था कि निजाम के साथ उनके निजी ताल्लुक हैं, उनके रास्ते में बड़ी रुकावटें आईं। फिर भी उन्होंने वहां कुछ संपर्क कायम किये जो बाद को बड़े काम के साबित हुए। अब लगता है कि अगर उन्होंने अपने ही भरोसे वहां काम किया होता तो शायद वह ज्यादा कामयाब होते, लेकिन उन्होंने यही ज्यादा सही समझा कि उनके बुजुर्ग जितनी मदद करना चाहते हैं उसकी उपेक्षा न करें। उल्टे तब उन्हें यही शिकायत हो सकती थी कि वह अपने ऊपर जरूरत से ज्यादा भरोसा करने लगे हैं और महत्वाकांक्षी हो उठे हैं, और ऐसा होने पर वह उनका सहारा भी पूरी तरह खो बैठते। हकीम अजमल खां की मृत्यु के बाद ही, और जब कि प्रायः सभी प्रमुख मुसलमान और काफी हिन्दू नेताओं[1] द्वारा समर्थित और प्रवर्तित 'अजमल जामिया फंड' के लिए धन-संग्रह की योजना भी बेकार हो गई, डा. जाकिर हुसैन ने डा. अंसारी को इस बात के लिए राजी किया कि ट्रस्टियों की पुरानी संस्था को भंग करने के लिए जरूरी कदम उठाए जाएं ताकि एक नई ही समिति, अंजुमन तालीमे-मिल्ली[2] जामिया का काम चलाने की जिम्मेदारी ले सके। डा. अंसारी इस अंजुमन (समिति) के अध्यक्ष चुने गए, डा. ज़ाकिर हुसैन सचिव, और सेठ जमनालाल बजाज कोषाध्यक्ष। समिति के सदस्य दो प्रकार के थे, सह-सदस्य, और वे सदस्य जिन्होंने वह वचन दिया हो या देने को तैयार हों कि वे बीस साल तक 150 रुपये मासिक से अधिक वेतन न लेते हुए उसकी सेवा करेंगे। सभी सदस्य जामिया के स्टाफ में थे, और इस समिति के गठन के बाद जामिया एक स्वायत्त संस्था बन गई जो राजनीतिक नेताओं की मौज पर निर्भर नहीं थी। अब ने डा. ज़ाकिर हुसैन की अपेक्षाकृत कहीं ज्यादा आजादी मिल गई।

---

[1]हकीम अजमल खां की मृत्यु पर शोक प्रकट करने के लिए फरवरी 1928 में होने वाली सभा, जिसमें अजमल जामिया फंड के लिए धन-संग्रह करने का फैसला किया गया था, बहुत बड़े-बड़े लोग शामिल थे: पंडित मोतीलाल नेहरू, पंडित मदनमोहन मालवीय, मौलाना मुहम्मद अली, श्री श्रीनिवास आयंगर, पंडित जवाहर लाल नेहरू, मौलाना आजाद, डा. एम.ए. अंसारी, श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री विजयराघवाचार्य, महाराजा महमूदाबाद, लाला शंकर लाल, श्री टी. प्रकाशम, सरदार शार्दूलसिंह, आदि।

[2]राष्ट्रीय शिक्षा समिति।

3. जामिया मिल्लिया इस्लामिया का निर्माण

1928 में डा. ज़ाकिर हुसैन अध्यापक समुदाय के अध्यक्ष हो गए जिसकी वजह से उन पर नेतृत्व संबंधी सभी दायित्व आ गए, लेकिन व्यवहार में उन्होंने उन सुविधाओं में से भी किसी का उपभोग नहीं किया जिन पर उनका हक था, बल्कि अपने लिए किसी भी प्रकार की विशिष्टता की उपेक्षा नहीं की। इस तरह का हक उन्हें मिले, यह उन्होंने चाहा तक नहीं। अपनी वापसी पर जब डा. ज़ाकिर हुसैन फिर से जामिया में आ गए थे तब उन्हें 100 रुपये मासिक वेतन मिलता था, जबकि यूरोपीय शिक्षा प्राप्त उनके अन्य दोनों सहयोगियों में से प्रत्येक को 300 रुपये मासिक दिया जाता था। लेकिन इतना वेतन देना जामिया के बूते का था भी नहीं, बल्कि नियमित रूप से तो निर्धारित वेतन भी नहीं मिल पाता था। उनसे ज्यादा वेतन पाने वाले उनके सहयोगी भी शीघ्र ही 100 रुपये मासिक लेने पर राजी हो गए; मगर डा. ज़ाकिर हुसैन ने तब अपना वेतन घटाकर 80 रुपये कर दिया। कायदा यह था कि जिन कर्मचारियों का वेतन सबसे कम है उनके वेतन की अदायगी सबसे पहले हो; इस कायदे के हिसाब से डा. जाकिर हुसैन उन लोगों मे थे जिन्हें सबसे अंत में पैसा मिल पाता था। बात को, वेतन की अदायगी में कुछ नियमितता लाने की दृष्टि से तय किया गया कि 60 रुपये या इससे अधिक पाने वालों को उनके वेतन का आधा हिस्सा तो नकद दिया जाए और बाकी आधा उनके खाते में जमा कर दिया जाए। इस तरह डा. जाकिर हुसैन को नकद मिलने वाला वेतन अब घटकर 40 रुपये मासिक ही रह गया, और यह सिलसिला 1944 तक चलता रहा जबकि पूरे वेतन दिये जाने लगे और अध्यापकों के ऋण भी चुका दिये गये। 1948 में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति चुने जाने तक उनका वेतन 80 रुपये मासिक रहा।

जामिया से उन्हें जो भी मिलता था उससे उनका गुजारा नहीं हो सकता था, यह तो साफ ही है। कायमगंज में उनकी कुछ जमीन जायदाद थी जिनकी देखभाल उनके एक रिश्तेदार के सुपुर्द थी जो उसे पूरी तरह अपने इस्तेमाल में ला रहे थे, और उनकी आमदनी में से कुछ भी बचा कर भेजने के लिए उन्हें तैयार नहीं कर सके। हिसाब-किताब इस तरह तैयार किया जाता था कि सारी आमदनी उनकी देखभाल पर खर्च हो जाती थी।



चित्र 1 : महात्मा गांधी के साथ डा ज़ाकिर हुसैन



चित्र 2 : महात्मा गांधी की समाधि पर डा जाकिर हुसैन

चित्र 3 : जवाहरलाल नेहरू के साथ डा. ज़ाकिर हुसैन





चित्र 4 : भारत के मुख्य न्यायाधीश, न्यायमूर्ति के. एन. वांचू के समक्ष भारत के राष्ट्रपति पद की शपथ लेते हुए डा ज़ाकिर हुसैन

रुपये की तंगी डा. ज़ाकिर हुसैन को हमेशा ही बनी रहती[1], लेकिन किसी को इसका पता तक नहीं लगने दिया–जामिया के लेखापाल (एकाउटेंट) तक को नहीं, क्योंकि वो अपना वेतन कभी मांगते नहीं थे। जब भी जरूरत पड़ती थी, वह दीन भाव से अपनी पत्नी के सामने जा खड़े होते और कहते की कुछ रुपयों की जरूरत आ गई है। वह या तो प्रतिवाद करतीं या सिर्फ एक आह् खींच कर रह जातीं, जब जैसा मिजाज रहता उसके मुताबिक, और फिर नौकर लड़के को सुब्बा[2] के पास भेजतीं, जो एक बनिया था और नजदीक ही जिसकी दुकान थी, या एक ठेकेदार मन्नू खां की स्त्री के पास, जिनका मकान बगल में ही था, और उनसे उतना रुपया कर्ज लेतीं। बेगम ज़ाकिर हुसैन को अपने दादा की जायदाद से होने वाली आमदनी के अपने हिस्से के तौर पर 10 रुपये महावार मिला करते थे। अपनी गृहस्थी चलाने के लिए पूरे भरोसे की आमदनी बस यही थी।

मगर इन दिनों भी डा. ज़ाकिर हुसैन हथ-कती और हथ-बुनी खादी की ज्यादा-से-ज्यादा साफ सुथरी पोशाक में रहते थे, और अपनी सहज-स्वाभाविक गरिमा के कारण ऊंचे घराने के किसी ऐसे व्यक्ति की छाप छोड़ते थे जो ज्यादा-से-ज्यादा सादगी के साथ रहना पसंद करता है। कोई उनसे कर्ज मांगता था तो वह इंकार नहीं कर सकते थे, क्योंकि कर्ज लेने वाला यह विश्वास ही नहीं कर सकता था कि उनके पास रुपये नहीं हैं। कायमगंज से अपने परिवार को लाने के पहले उन्होने जिस मकान को किराए पर लेना चाहा था उसके लिए कुछ फर्नीचर खरीदा था। लेकिन शाह साहब ने, जो स्टाफ के ही एक सदस्य के पिता और डाक विभाग के एक छोटे-मोटे निवृत्त कर्मचारी थे, पहली बार की बैंत की कुरसियां उनसे उधार मांग लीं, और पड़ोसियो और मिलने आने वालों को यह बताते रहे कि डा. ज़ाकिर हुसैन उनका खास खयाल रखते हैं और ये कुर्सियां उन्होने उपहारस्वरूप दी हैं। अगले महीने डा. ज़ाकिर हुसैन ने कुछ और कुर्सियां खरीदीं। मैं तब उनके कमरे से लगे हुए कमरे में ही रहता था, और मुझे उनसे मालूम हो चुका था कि पिछली कुर्सियों का क्या हाल हुआ था। एक सुबह डा. ज़ाकिर हुसैन ने मुझे बताया कि शाह साहब इन कुर्सियों को भी उधार के तौर पर ले जाना चाहते हैं, और कुछ ही देर बाद देखता क्या हूं, कि दो मजदूरों के साथ शाह साहब उन्हे लेने के लिए हाजिर हैं। मुझे गुस्सा आ गया और उनसे पूछ बैठा कि क्या वह डा. जाकिर हुसैन का सभी-कुछ ले जाने पर तुले हैं? शाह साहब मानों आसमान से गिरे, और अपना-सा मुंह लिये, अपमानित-सा महसूस करते हुए, लौट गए। डा. ज़ाकिर हुसैन को इससे बड़ी तकलीफ हुई। 'यह आपने क्या किया, मुजीब साहब?' पर मुझे कोई पछतावा नही था, और उसके बाद उनका फर्नीचर फिर कभी 'उधार' नहीं मांगा गया।

---

[1]अपनी आमदनी को बढ़ाने के लिए उन्होंने जो जरिए अपनाए उनमें से एक था फ्रीड्रिख लिस्ट के 'नत्सोनालइकनमी' का 'अंजुमन तरक्किए-उर्दू' के लिए अनुवाद करना।

[2]यह लिखते वक्त सुब्बा जीवित हैं, हालांकि अंधे हो गए हैं। डा. जाकिर हुसैन जब उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति थे तब उन्हें इस बात का बड़ा फख्र था कि वह उनकी आवभगत करते थे और उनके ऊपर मेहरबान थे।

1927 की शरद ऋतु से लेकर तब तक जब कि ओखला में जामिया के अहाते में ही रहने के लिए वह चले आए, अपने परिवार के साथ एक किराए के मकान में ही बने रहे। सड़क से लगा हुआ एक बरामदा था उसमें, और छोटे-बड़े तीन कमरे। इन कमरों के पीछे दरवाजे अंदर वाले बरामदे में खुलते थे, जिसके बाद एक आंगन था जिसमें एक ओर रसोईघर और शौचालय था और दूसरी ओर दो कोठरियां; इनके बीच का दरवाजा एक गली में खुलता था। करौलबाग, जहां कि तब जामिया था, दिल्ली से बिलकुल अलग पड़ता था, और न वहां बिजली थी और न पानी का नल ही। मल-सफाई व्यवस्था भी गई-गुजरी थी, और जो लोग जरा सफाई और आराम में रहना पसंद करते थे उनके लिए सिवा बेहतर वक्त का इंतजार करने के सिवा कोई चारा नहीं था।

डा. ज़ाकिर हुसैन की और उनकी बेगम की दिनचर्या अलग-अलग थी। "वह तो सबेरे चार बजे ही उठ जाती हैं" उन्होंने अपने ही खास तरीके से मुझे बतलाया था, "बकरी का मिमियाना शुरू होते ही। पहले वह बकरी को खिलाती हैं, फिर खुद खाती हैं। मेरी बारी काफी बाद को आती है। वह अपनी मर्जी के मुताबिक खाती-पीती हैं, जिसे वह सिर्फ अपने लिये ही फायदेमंद बताती हैं। मैं जब अपने काम के लिये तैयार हो जाता हूँ तब एक औंधी टोकरी के नीचे से अपना नाश्ता निकाल लेता हूँ, जहां कि वह बिल्लियों से बचाने के लिए रख दिया जाता है।"

बेगम ज़ाकिर हुसैन कुदरतन कायदे से काम करना पसंद करती थीं। उनके घर पर मैं दो बार काफी लंबे अरसे तक रहा हूँ, और एक बार भी खाने के वक्त में जरा भी देर नहीं हुई। वक्त हो जाने पर नौकर लड़का, बिना मेरे बुलाए ही, आकर देख जाता कि मैं मौजूद हूं या नहीं, और फिर फौरन ही मेरा खाना आ जाता। पठानों के यहां कायदा यह था कि पुरुष और स्त्रियां एक साथ खाने के लिये न बैठें, और हो सकता है कि बेगम जाकिर हुसैन इस रिवाज के खिलाफ जाना न पसंद करती हों। फिर भी, डा. ज़ाकिर हुसैन जब कभी भी वक्त की पाबंदी बरतते थे तब उन्हें पुरस्कार स्वरूप ताजा गरम खाना मिल जाता था। मगर बेगम ज़ाकिर हुसैन भी दब्बू किस्म की महिला नहीं थीं, और उनकी दिनचर्या अलग ही रहती थी। वैसे भी दोनों के लिये यह फायदेमंद था। मियां को वक्त का पाबंद न पाकर बीबी को कोई शिकायत नहीं थी, और मियां भी अपने वक्त को अपने ढंग से बिताने के लिए आजाद थे। बेगम जाकिर हुसैन ने जब मेरे सामने पर्दा करना छोड़ दिया, तब उन दोनों के बीच जो बातचीत मुझे सुनने को मिलती थी उसमें भी आजादी का इजहार होता था। ज्यादातर तो वे दोनों एक-दूसरे से नहीं एक-दूसरे को सुना कर ही कुछ कहते थे।

डा. जाकिर हुसैन का सबेरे का नाश्ता, जो वह करीब आठ बजे करते थे, आमतौर पर खिचड़ी का होता था—एक, या दो भी, बड़ी-बड़ी तश्तरियां भर कर। अगला खाना साढ़े चार या पांच बजे होता था, जिसे वह टोकरी के अंदर से निकाल लेते थे। फिर कुछ देर आराम करने के बाद या तो दूसरों से मिलने के लिए बाहर निकल जाते थे, और या उन

लोगों के साथ टहलने के लिए चल देते थे जो खुद उनके यहां आ पहुंचते थे। बातचीत गंभीर विषयों पर हो सकती थी और बिलकुल फालतू बातों पर भी, और कहीं भी हो सकती थी--कमरे के किसी भी हिस्से में या सड़क के ही किनारे। उनके सहयोगी इस तरह की बातचीत के लिये बराबर उत्सुक रहा करते थे। जहां तक उनका खुद का सवाल था, वह आमतौर पर बातों को कुछ टेढ़े ढंग से पेश करने में मजा लेते थे; मामूली बातों को मामूली ही ढंग से कह डालना उन्हें कतई पसंद नहीं था, और बिलकुल साफ और सीधी बात मजबूरी में ही करते थे। सबसे ज्यादा मजा उन्हें ऐसी बातचीत में आता था, जब किसी ऐसे मसले पर जिस पर दूसरे लोग एकमत हों या जो बात साफ़ तौर पर ही सही दिखाई दे रही हो, वह उलटा ही रुख लेने का मौका पा सकें, और तब वह इस तरह दलील पर दलील देते चले जाते थे कि हर एक की अक्लमंदी और सूझबूझ की परीक्षा हो जाती थी। इस तरह की बातचीत सिर्फ लुत्फ के लिये होती थी, और जो जानकार नहीं होते थे वह यही समझ बैठते थे कि डा. ज़ाकिर हुसैन जो कुछ फरमा रहे हैं वही उनके दिमाग और दिल में है। उन्हें अगर पहले या बाद को कही उनकी कोई बात याद पड़ती तो वे उलझन में पड़ जाते। लेकिन यह उनसे भी छिपा नहीं रहता था कि बहस के दौरान वह इस या उस पक्ष में जो कुछ कह डालते थे उसका उनके अमल के साथ कोई ताल्लुक नहीं होता था, और इसलिये उनके बारे में और उनके द्वारा व्यक्त विचारों के बारे में पक्ष-निर्धारण करना उन्होंने छोड़ दिया था। उनके लिये वह कितनी ही बड़ी पहेली क्यों न बने रहें, वे जानते थे कि वह उन्हीं के साथ हैं और वे खुद भी उनके साथ।

1930 में डा. सलीमुज्जमन सिद्दीकी जब तिब्बिया कालेज[1] में रासायनिक अनुसंधानशाला के डाइरेक्टर होकर चले गए, तब से डा. जाकिर हुसैन के शाम के कार्यक्रम में एक तबदीली आ गई। वह एक प्रतिभाशाली रसायनज्ञ, चित्रकार, संगीतज्ञ और बातचीत में बड़े ही पटु थे। साथ ही उनकी तबियत में कुछ ऐसी अलमस्ती थी जो दूसरों को लुभा लेती थी और उन्हें भी कुछ देर के लिये अलमस्त बना देती थी। यूरोप में कई साल तक अध्ययन करने के बावजूद उनकी कुछ आदतों में, जो एक प्रकार से उनके स्वभाव में ही शामिल हो चुकी थीं, कोई तबदीली नहीं आई थी। अपने कामकाज में वह अत्यंत कर्त्तव्यनिष्ठ थे; रसायनज्ञ के नाते उनकी उपलब्धियां असाधारण थीं जिनके कारण विज्ञान जगत में उन्हें एक ऊंचा स्थान मिला हुआ है। ग्यारह बजे से लेकर साढ़े छह-सात बजे तक वह अपनी प्रयोगशाला में काम करते रहते थे, लेकिन काम का वक्त पूरा हो चुकने पर वह फिर एक ऐसे तबियतदार आदमी बन जाते थे जिसके पास फ़ुरसत ही फ़ुरसत हो और जो उन सभी कायदे-कानूनों को ठुकरा दे जिन्हें संजीदा किस्म के लोग अपने ऊपर थोप लेते हैं। उनका नाश्ता आठ बजे होता था, और दिन का खाना दस और एक के बीच कभी भी। लगता था कि उनके शरीर की बनावट ही कुछ ऐसी है कि इस तरह की

[1]भारतीय चिकित्सा प्रणाली को पुनर्जीवन प्रदान करने के और उसे आधुनिक रूप देने के इरादे से खोली गई एक संस्था। इसकी स्थापना 1926 में हकीम अजमल खां ने की थी; लेकिन दरअसल वह काफ़ी पहले स्थापित एक चिकित्सा विद्यालय का ही विकास था।

बेतरतीब जिंदगी पर ही वह पनपता है। उनकी जर्मन पत्नी टिली, जिनका हर समस्या के प्रति वही तर्कपूर्ण दृष्टिकोण था जिसके लिए उनकी जाति विख्यात है, सभी बातों में उनसे असहमत रहती थीं, लेकिन फिर भी लगता था कि जैसे पति की तर्क-असंगत दिनचर्या से वह कुछ ज्यादा परेशान नहीं थीं। उन्हें साहित्य और दर्शन संबंधी उच्चकोटि के वार्तालाप का शौक था, और उनके वैज्ञानिक कार्य में कोई दिलचस्पी नहीं थी। जब ये दंपत्ति भी करौलबाग में आकर रहने लगे थे तब डा. ज़ाकिर हुसैन की सोहब्बत उनके लिए एक नियामत हो उठी। डा. जाकिर हुसैन को खुद भी जामिया मिल्लिया की फिक्रों और एक ही ढर्रे की बातचीत के बाद उन लोगों के साथ अपनी शाम बिता कर चैन मिलता था। लेकिन कभी-कभी उन्हें जिस तरह की चीजें खाने का शौक होता था, खासतौर से जामा मस्जिद वाले गरम मसालेदार कबाबों का, उनसे उनके हाजमे पर असर पड़ता रहा और संभव है कि बाद में उन्हें जो बीमारियां भुगतनी पड़ीं उनका एक कारण यह भी रहा हो मगर उनसे कहा जाता, तो वह यही जवाब देते कि पुराने वक्तों से चले आने वाले कबाबों का जो जायका है उसे देखते यह खतरा मोल लेना भी कुछ बुरा नहीं।

दिसंबर 1932 में, गेर्डा फिलिप्सबार्न भी आ पहुंची—आने के खिलाफ दी गई सलाह, चेतावनियों और फटकारों के बावजूद। उनके सामने और कोई चारा था भी नहीं। जर्मनी में घटनाचक्र जिस तरह घूमा था उससे यहूदियों का भविष्य अंधकारमय हो उठा था, उनके परिवार को अपना स्थान छोड़ना पड़ा था और देश निकाले का डर उनके सामने था। पहले वह फिलिस्तीन गई, और कुछ अरसे तक वहां काम करने के बाद उन्होंने डा. जाकिर हुसैन को खबर भेजी कि वह भारत आ रही हैं। उनके राह खर्च का इंतजाम किया गया; और बंबई में जब वह जहाज से उतरी तो डा. ज़ाकिर हुसैन उन्हें लिवा लाने के लिए वहां मौजूद थे। 1933 में नए वर्ष के दिन वह भी जामिया मिल्लिया के स्टाफ में औपचारिक रूप में नियुक्ति पा गईं।

आ तो गईं, पर उन्हें काम क्या दिया जाए ? प्राक्-प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करने के क्षेत्र में उनका कुछ दखल था, लेकिन उनके लिए जामिया में तब तक कोई समुचित व्यवस्था नहीं की जा सकती थी। इसलिये उन्हें प्राईमरी स्कूल और सबसे छोटे बच्चों वाले छात्रावास के साथ संलग्न कर दिया गया। प्राइमरी स्कूल के हैडमास्टर अब्दुल गफ्फार मुधोली यों तो नम्र प्रकृति के थे, करीब-करीब अपने को मिटा देने वाले, लेकिन अनुशासन के मामले में वह जरा भी ढील देने को तैयार नहीं थे और वक्त की पाबंदी और नियमितता उनके लिये अंध-श्रद्धा का रूप ले चुकी थी। डा. जाकिर हुसैन उनकी याद यह कह कर करते थे कि उन्होंने उन्हें वक्त की पाबंदी की तालीम दी थी। एक बार स्कूल की बैठक का सभापतित्व करने के लिये डा. ज़ाकिर हुसैन को आमंत्रित किया गया था और वह दो या तीन मिनट देर से पहुँचे थे। उन्होंने देखा कि बैठक शुरू हो चुकी है और सभापतित्व कोई दूसरा ही कर रहा है।[1] अब्दुल गफ्फार मुधोली किसी के लिये भी कोई छूट देने वाले शख्स नहीं थे, डा. ज़ाकिर हुसैन तक के लिये नहीं। गेर्डा फिलिप्सबार्न के स्त्री होने या डा.

[1]मेरे साथ भी एक बार ऐसा ही हुआ, और मैंने भी यही सबक सीखा।

ज़ाकिर हुसैन की दोस्त होने की वजह से उनका खास खयाल करने की बात तो उनके लिये मुमकिन ही नहीं थी। दूसरी ओर वह यह महसूस करती थीं कि उनके सुपुर्द जो काम किया गया है वह एक औपचारिकता मात्र है; उनका वास्तविक कार्य था डा. ज़ाकिर हुसैन का साथ, उनकी देखभाल, उनके साथ शिक्षा नीति पर विचार-विमर्श और दिल को यह तसल्ली दे पाना कि वह उनकी सेवा में अपने को समर्पित किये हुए हैं, उनकी सहचरी हैं और उनके लिये प्रेरणा की स्रोत हैं। मुझे याद है कि अब्दुल गफ्फार मुधोली से मिस फ़िलिप्सबार्न के खिलाफ इस तरह की लिखित शिकायतें पाने पर कि वह देर से काम पर आईं, या उन्होंने अपनी क्लास नहीं ली, डा. ज़ाकिर हुसैन क्षुब्ध हो उठते थे, जब कि वह जानते थे कि उनकी देरी की वजह यही थी कि वह उनके साथ कोई विचार-विमर्श कर रहीं थी या किसी योजना पर बात कर रही थीं जो मिस फ़िलिप्सबार्न की निगाह में अपनी क्लास लेने से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण काम था।

तनाव की एक दूसरी वजह थी गेर्डा फ़िलिप्सबार्न का इस बात पर अड़े रहना कि डा. ज़ाकिर हुसैन के खाली वक्त में उनके साथ जामिया के बाहर का कोई भी शख्स हिस्सा नहीं बंटा सकता। सिद्दीकी दंपति को इस बात से बेहद खीज होती थी, और सच पूछा जाय तो उनका संग-साथ डा. ज़ाकिर हुसैन को भी अधिक प्रिय था और उससे उन्हें वह आराम मिल जाता था जिसकी उन्हें इच्छा भी थी और जरूरत भी। मगर उनके वक्त पर और उन पर गेर्डा फ़िलिप्सबार्न ने जो कब्जा कर रखा था उसे ढीला करने की दिशा में वह कुछ भी कर सकने में असमर्थ थे। गेर्डा फ़िलिप्सबार्न उनके लिये या जामिया मिल्लिया के लिये अपनी निष्ठा का जो दावा करती थीं उसकी बराबरी ये लोग नहीं कर सकते थे और न आंखों में आंसू भरकर प्रतिवाद के हथियार का ही इस्तेमाल कर सकते थे। मगर इसमें भी कोई शक नहीं कि डा. ज़ाकिर हुसैन की कल्याण-कामना और जामिया मिल्लिया के प्रति उनकी सच्ची लगन बहुत गहरी थी।[1]

जिन अध्यापकों ने जामिया के अलीगढ़ से दिल्ली लाए जाने पर भी उसे न छोड़कर अपने भविष्य को खतरे में डाला था उनमें से कुछ-एक चिड़चिड़े स्वभाव के और अस्थिर चित्त वाले थे, और कुछ एक ऐसे भी, जिनकी बुद्धि और अपने काम में दिलचस्पी, संदिग्ध

---

[1]गेर्डा फ़िलिप्सबार्न की 1943 में कैंसर से मृत्यु हो गई। उनके पेट में बेहद दर्द हुआ करता था लेकिन उन्होंने तब तक कोई इलाज नहीं करवाया जब तक वह ला-इलाज नहीं हो गया। जब उनके रोग की पहचान हुई और उन्हें पता चला कि अब वह ज्यादा दिनों की मेहमान नहीं है, तो उन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन से कहा कि जब भी उन्हें वक्त मिले वह उनको कुरान पढ़कर सुनाया करें। उन्होंने यह भी उनसे कहा कि वह मुसलमानों की ही तरह दफनाए जाना चाहेंगी। उनकी ख्वाहिश पूरी भी की गई।

इस जीवनचरित को लिखते वक्त मैंने बेगम ज़ाकिर हुसैन से जानना चाहा कि उन दोनों के संबंधों के बारे में उनका खयाल क्या था। उन्होंने मुझे बताया कि गेर्डा फ़िलिप्सबार्न जब दिल्ली आने को थीं तब डा. ज़ाकिर हुसैन ने उन्हें बताया था कि उन दोनों की जान-पहचान किस तरह हुई थी, और किस तरह उसने एक दोस्ती की शक्ल अख्तियार कर ली थी। उस स्त्री के दिल में उनके लिये जो मुहब्बत थी उसका खयाल रखना उनके लिये लाजिमी था। मगर उससे ज्यादा इस मामले में और कुछ भी नहीं था।

थी। लेकिन जो लोग सचमुच ही अत्यंत उपयोगी थे उनमें न सिर्फ जोश था बल्कि नव निर्माण के लिये एक व्याकुलता भी थी। डा. ज़ाकिर हुसैन के आ जाने पर इस दबी हुई अकुलाहट को बाहर आ जाने का मौका मिल गया। जामिया के ही अहाते में एक रात्रि-स्कूल खोला गया जिसमें आकर पढ़ने वालों की संख्या काफी तेजी से बढ़ गई। फिर शहर के अंदर भी, बाड़ा हिंदू राव में उस स्कूल की एक शाखा खोली गई जिसके लिये एक लोकोपकारक व्यवसायी ने आर्थिक सहायता दी। अब्दुल मजीद ख्वाजा 'पयामे-तालीम' नाम की शिक्षा पत्रिका प्रकाशित करने के लिये बहुत व्यग्र थे, जो मुख्यतः बच्चों के लिये हो, और शुरुआत का खर्च वह उठाने को तैयार थे। यह पत्रिका एक पाक्षिक वृतपत्र के रूप में शुरू हो गई जिसमें स्कूल जाने वाले विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-सामग्री रहती थी। 'जामिया' के नाम से एक साहित्यिक पत्रिका 1923 से ही निकलती आ रही थी। अब उसमें भी सुधार करने और उसकी ग्राहक संख्या बढ़ाने का फैसला हुआ। प्रसार-व्याख्यानों और विश्वविद्यालय के छात्रों के लिये विविध विषयों पर उर्दू में किताबें तैयार करने की दृष्टि से एक उर्दू अकादमी की भी स्थापना की गई जिसके सचिव डा. आबिद हुसैन थे। जामिया कालेज के विद्यार्थियों की संख्या बहुत ही कम थी, और यह देखा गया कि विश्वविद्यालय कहलाने के अपने दावे को साबित करने का जामिया मिल्लिया के सामने एक ही तरीका है, कि वह ज्ञान का प्रसार करे और आम लोगों में इसके प्रति आकर्षण बढ़ाये। आर्थिक अभाव एक भारी रुकावट थी, लेकिन कुछ ही बरसों के अंदर जामिया मिल्लिया को यह ख्याति मिलने लग गई कि ज्ञान-प्रसार का कार्य करने और शिक्षा का परंपरागत संस्कृति के साथ मेल बिठाने में दूसरे विश्वविद्यालयों के मुकाबले उसकी कहीं ज्यादा दिलचस्पी है।

डा. ज़ाकिर हुसैन के सुपुर्द जन-संपर्क, प्रशासन और अपने सहयोगियो के बीच सामंजस्य और सहयोग बनाए रखने के काम थे, और निश्चय ही, साथ-साथ शिक्षा संबंधी प्रयोगों का शुरू कराना और उनके लिये मार्ग-दर्शन देना। उन्हें उन जिम्मेदारियों को भी लेना पड़ जाता था जिन्हें उनका कोई सहयोगी लेना नहीं चाहता था, जैसा की मासिक पत्र 'जामिया' के संपादन के बारे में हुआ था, जिसे उन्हें सिर्फ इसीलिये लेना पड़ा कि और कोई उसके लिये तैयार नहीं था। कई कई महीने तक करीब-करीब सारे ही लेख अलग-अलग नामों से उन्होंने ही लिखे थे। मगर फिर भी वह विशुद्ध रूप से शिक्षण कार्यों को आगे बढ़ाने के लिये वक्त निकाल लेते थे। यह उन्हीं का फैसला था, जिसे सभी ने खुशी-खुशी मंजूर किया था, कि जामिया मिल्लिया पहले प्राइमरी स्कूल के निर्माण पर अपनी शक्ति को केंद्रीभूत करे। उन्हें एक योग्य सहायक के रूप में अब्दुल गफ्फार मुधोली भी मिल गए, जो कि मोगा में 'प्रयोजना-प्रणाली' (प्रोजेक्ट मैथड) का प्रशिक्षण प्राप्त करने के बाद उसके हैडमास्टर नियुक्त हुए। इस पद्धति का उन्होंने सराहनीय सूक्ष्मता के साथ उपयोग किया और साधनों तथा पद्धतियों के निर्धारण में भी अपनी ही ओर से कदम

उठाते रहे। जल्द ही इस स्कूल ने शिक्षा क्षेत्र में एक आदर्श स्थापित कर दिया, और उसके बच्चों के अंदर आत्मविश्वास, स्वतः प्रवृति और सहयोग भावना विलक्षण रूप में दिखाई देने लगी। 'नवीन शिक्षा फैलोशिप' का एक प्रतिनिधिमंडल जब अपनी विश्व यात्रा के सिलसिले में भारत आया था तो उसके कुछ सदस्यों ने उसकी अत्यधिक प्रशंसा की थी। इस स्कूल के काम के साथ-साथ बाल-साहित्य की भी रचना का काम होता था। मकतबा, यानी जामिया का प्रकाशन विभाग, एक बड़े ही सक्रिय व्यक्ति हमीद अली खां के सुपुर्द था। डा. ज़ाकिर हुसैन अपने उन सभी सहयोगियों पर जिनमें कि बालोपयोगी पुस्तकें लिखने की साहित्यिक प्रतिभा थी, इस तरह की पुस्तकें लिखने के लिए जोर डालते रहे, और खुद भी ऐसा करके उन्होंने उनके सामने उदाहरण रखा।[1] एक जानदार शैली में, बातचीत के तौर पर, लिखी हुई उनकी कहानियां शीघ्र ही प्रमाणरूप मानी जानी लगीं। इस क्षेत्र में जामिया को जो सफलता मिली उसे देखकर अन्य उद्यमशील प्रकाशकों ने भी बच्चो के लिये किताबें छापनी शुरू कर दीं।

लेकिन न तो अपने जानदार और सफल प्राइमरी स्कूल के बल जामिया अपना अस्तित्व कायम रख सकता था, और न अपने प्रकाशनों तथा सुव्यवस्थित सभा द्वारा होने वाले आदर्शों के प्रचार से; न्यूनतम आवश्यक धन की व्यवस्था करना अनिवार्य था। डा. ज़ाकिर हुसैन इस स्थिति को बखूबी समझते थे, लेकिन अधीर हो उठने वालों की वजह से उनके अंदर कोई हड़बड़ी नहीं पैदा हो पाती थी। सही वक्त आने का वह इंतजार करते थे। हकीम अजमल खां की मृत्यु के करीब छह हफ्ते बाद, फरवरी 1928 में होने वाली सभा मे, वह कुछ भी नहीं बोले थे। अजमल जामिया फंड के लिए, जिस नाम से ही फरवरी वाली उस सभा में उपस्थिति नेताओ ने जामिया के लिए धन-संग्रह की व्यवस्था की जब एक ऐसे मुसलमान धन-कुबेर ने, जो हकीम अजमल खां की कृपा की बदौलत धनी हुए थे, सिर्फ 250 रुपये जैसी क्षुद्र रकम चंदे मे दी, तभी उन्हे लगा होगा कि इस फंड में कुछ ज्यादा रकम शायद ही आए। हुआ भी वैसा ही, और उस फंड के लिए सिर्फ 15,000 रुपये इकट्ठे हो सके। अगले साल, समुचित तैयारी के बाद, वह सिर्फ एक ही जगह, मद्रास के सेठ जमाल मुहम्मद और उनके घर वालो, से करीब-करीब इसकी दुगनी रकम पाने में कामयाब हो गए। 1930 के अंत की ओर, कुछ महीनों के प्रचार कार्य के बाद, उन्हें 50,000 नगद दान-स्वरूप मिले, और निजाम सरकार से 1,000 रुपये माहवार की मदद का वायदा भी मिल गया। इस कामयाबी की वजह यह नहीं थी कि निजाम सरकार मे जो प्रभावशाली लोग थे वे जामिया मिल्लिया और उनके आदर्शों से किसी हद तक प्रभावित हो गए थे, बल्कि इसका कारण था व्यक्तियों को परखने की डा. ज़ाकिर हुसैन की विलक्षण क्षमता, उनका कौशल और उनका लुभावना व्यक्तित्व। दरअसल उन्हें अकबर यार जंग से मदद मिली, जो कायमगंज के ही थे और उनके रिश्तेदार भी, लेकिन अकबर

[1] (1)उन्होंने अपनी दूसरी बेटी रुकैया रेहाना के छद्मनाम से ये लेख लिखे।

यार जंग ने सिर्फ बिना खर्च उनके ठहरने और खाने-पीने का इंतजाम कर दिया था और काम के कुछ लोगों से उन्हें मिलवा दिया था। निजाम सरकार की कौंसिल से इस मदद को मंजूर करा लेने के लिए बड़े ही दांवपेचों और हिकमत की जरूरत थी। फिर भी इस मदद के मामले में, ठीक आखिरी वक्त पर, कौंसिल के एक बड़े ही दकियानूस और राजभक्त सदस्य, निजामत जंग के कहने से, एक बड़ी ही भद्दी शर्त लगा दी गई थी, इस रकम की अदायगी दिल्ली के चीफ कमिश्नर की माहवारी मंजूरी पर ही हुआ करेगी।

अगर हम उस संदर्भ को ध्यान में रखें जिसमें यह हुआ, तो हमें डा. ज़ाकिर हुसैन के आत्मविश्वास और उनकी व्यवहार-कुशलता का कुछ अंदाजा हो सकेगा। नमक सत्याग्रह और उसके बाद का सत्याग्रह आंदोलन मार्च, 1930 मे शुरू हुआ था। जामिया मिल्लिया के अध्यापक और विद्यार्थी राजनीतिक घटनाओ के प्रवाह से कभी भी अपने को अलग नहीं रखते थे, और उनमें से जो लोग ज्यादा जोशीले और प्रभावशाली थे वे पूरे दिल और उत्साह के साथ गांधी जी और कांग्रेस राजनीति के पक्ष में थे। गांधी जी के स्वराज फंड का पहला चंदा जामिया में ही विद्यार्थियों और अध्यापकों से मिला था। हर साल 'राष्ट्रीय सप्ताह' (7 से 13 अप्रैल तक) सभाएं होती आई थीं जिनमें जोशीले भाषण दिए जाते थे; सप्ताह के आखिरी दिन 13 अप्रैल को, छात्रावास के नौकरों का, चपरासियों का, रसोइयों का, भंगियों का सारा काम अध्यापक और छात्र खुद करते थे, और एक सहभोज के साथ उस दिन कार्यक्रम पूरा होता था। तीन-चार साल तक तो करौलबाग की एक समूची बस्ती में सफाई का काम किया जाता रहा, जिसमें उस बस्ती में रहने वालों को भी शामिल करने की कोशिश होती थी। नमक सत्याग्रह ने एक कठिन समस्या पैदा कर दी। शफ़ीकुर्रहमान किदवई और हाफ़िज़ फ़ैयाज़ अहमद सत्याग्रह आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने का अपना इरादा पहले ही बतला चुके थे, और ऐसा ही देवदास गांधी ने भी किया था, जो तब जामिया के स्टाफ पर थे। सी. कृष्णन नायर, के. सी. डेगा और हसीन हस्सन उन विद्यार्थियों में थे जिन्होंने भी उसमें भाग लेने का फैसला किया। यह तय किया जाना था कि जामिया का इस प्रश्न पर क्या रुख रहे ?

यह बात तो सभी मानते थे, शफ़ीकुर्रहमान किदवई भी, कि राष्ट्रीय आंदोलन में हिस्सा लेने के लिए गुजरात विद्यापीठ या काशी विद्यापीठ की तरह जामिया मिल्लिया भी अगर अपनी पढ़ाई का काम अगर रोक देता है तो उसके बाद वह फिर चालू हो सकेगा या नहीं, यह उस राजनीतिक संघर्ष के परिणाम पर निर्भर करेगा। अगर आजादी हासिल हो जाती है तो जामिया मिल्लिया सबसे ज्यादा लोकप्रिय मुस्लिम संस्थाओं में गिनी जायगी; अगर नहीं, तो अधिक से अधिक लगन वाले भी राष्ट्रवादी मुसलमान जामिया मिल्लिया को फिर आगे नहीं चला सकेंगे। भारतीय मुसलमान के अंदर वह लगन है ही नहीं जो किसी बड़ी जरूरत के वक्त छोड़ दिये जाने वाले काम को फिर से शुरू करा सके। डा. ज़ाकिर हुसैन को अब यह फैसला करना था कि जामिया मिल्लिया का काम चलता रहे या वह बंद कर दिये जाए, और उन्होंने पक्का फैसला कर दिया कि उसका काम चलता रहेगा—यह जानते

हुए भी कि उससे गलतफहमियां पैदा हुए बिना नहीं रहेंगी। जैसा कि उन दिनों के अपने एक भाषण में उन्होंने कहा भी था, जामिया का काम है नौजवानों को प्रशिक्षित करके ऐसे नागरिक बनाना जो आजादी की लड़ाई को जारी रख सकें और जब आजादी मिल जाए तब उसे सार्थक बना सकें और उसे मूर्त रूप दे सकें। अपने इस काम में कोई रद्दोबदल करने की बात उसके सामने आती ही नहीं है। लेकिन जो लोग सत्याग्रह आंदोलन में हिस्सा लेना अपना कर्त्तव्य मानते हैं उन्हें जरूर ऐसा करना चाहिए। वे लोग पहले से इसकी सूचना दे दें, ताकि जामिया का शैक्षिक कार्य न रुकने पाए। 13 अप्रैल 1930 की सभा मे शफ़ीकुर्रहमान किदवई ने सत्याग्रह अंदोलन में हिस्सा लेने के अपने इरादे का ऐलान किया; डा. ज़ाकिर हुसैन ने उन्हें बधाई दी और अपना यह विश्वास प्रकट किया कि उन्होंने अपनी कर्त्तव्य भावना से प्रेरित होकर ही यह फैसला किया है जिसकी सभी को कद्र करनी चाहिए। और इस तरह, जहां एक ओर जामिया मिल्लिया पहले की ही तरह अपने काम में लगा रहा, वहां दूसरी ओर शफ़ीकुर्रहमान किदवई, हाफ़िज फ़ैयाज अहमद और सी. के. नायर ने सरकार विरोधी कार्रवाइयों में प्रमुख हिस्सा लिया। सितबंर में डा. ज़ाकिर हुसैन उसी संस्था के लिए धन-संग्रह करने हैदराबाद जा पहुंचे, जिसने इन विद्रोहियों को पैदा किया था, और पूरी तन्मयता और लगन के साथ अपने काम में लगे रहे।

20 मार्च, 1931 को होने वाली कार्यकारिणी समिति की बैठक मे उन्होंने निजाम सरकार से तदर्थ सहायता की प्राप्ति और एक माहवारी रकम के वायदे की विधिवत् घोषणा की। रुपये की कीमत में गिरावट आ गई थी, और उस समय से अनुदानों और दानों के रूप में मिलने वाली रकमों में जामिया निवासियों को कितनी बड़ी राहत मिली थी इसका अंदाज कर सकना मुश्किल है। लेकिन तदर्थ अनुदान एक इमारत के लिए थी, और मासिक अनुदान वाली रकम को ही वेतनों या दूसरे रोजमर्रा के खर्चों के लिए इस्तेमाल किया जा सकता था, जिन मदो मे ही भारी कठिनाई का सामना करना पड़ रहा था। जब यह बात मालूम हुई थी कि चीफ कमिश्नर सर जान थामसन ने इस बिना पर उसकी उदायगी रुकवा दी थी कि जामिया मिल्लिया ने सत्याग्रह आंदोलन मे हिस्सा लिया है, तब जबर्दस्त मायूसी पैदा हो गई थी। मगर सही तौर पर इसे साबित नहीं किया जा सकता था। इसके अलावा, चीफ कमिश्नर ने जब निजाम सरकार के पास अपनी नामंजूरी की खबर भेजी तब तक वाइसराय लार्ड इर्विन गांधी जी के साथ समझौते की बात चलाने के लिए उन्हे जेल से रिहा करके अपना पहला कदम उदम उठा चुके थे, और 5 मार्च को गांधी इर्विन समझौता हो चुका था। फिर भी, चीफ कमिश्नर का भारत-विरोधी रुख जाना हुआ था, और इसमें संदेह नहीं की उनका यह मानना बिलकुल ही निराधार नहीं था कि जामिया के लोग सरकार के भक्त नहीं हैं। इसलिए वह अनुदान दिया जाना वह भला कैसे मंजूर कर लेते। डा. ज़ाकिर हुसैन उनसे मुलाकात करने के लिए जब रवाना हुए तब मेरे सामने घोर निराशा ही थी। मैं उन दिनों उन्हीं के घर रहता था, और मेरी आंखों के सामने आज भी तस्वीर साफ है जब वह अपनी सफेद-बुर्राक पोशाक में चेहरे पर एक तनाव लिए,

तांगे पर जा सवार हुए थे, और मुझे यही लगा था कि वह एक ऐसे काम पर जा रहे हैं जहां से उन्हें खाली हाथ ही लौटना पड़गा, और जो ध्येय उनके साभने है उसकी पूर्ति की आशा अगर किसी को रह गई है तो अकेले उन्हीं को।

अपनी उस मुलाकात के बारे में उन्होंने न वहां से लौटने के बाद ही तफसील के साथ बताया, न कभी बाद को ही लेकिन बार-बार पूछे जाने पर उनसे मैंने इतनी जानकारी जरूर हासिल कर ली कि थामसन यों जरूर कठोर शासक दिखाई देते हैं, लेकिन बातचीत के दौरान वह सफाई पर सफाई देते रहने के लिए ही मजबूर कर दिये गए, और वह भी समझ गए कि जामिया के खिलाफ उन्होंने जो कार्रवाई की है उसे उचित ठहराने के लिए कोई ठोस दलील उनके पास नहीं है। जो भी हो, डा. ज़ाकिर हुसैन उन्हें अपना फैसला वापस लेने के लिए राजी नहीं कर सके। लेकिन सद्भावपूर्ण वातावरण में दोनो की मुलाकात इस जगह आकर, खत्म हुई, कि इस मामले पर फिर दोंनों के बीच बातचीत होगी। लेकिन थामसन फिर सेवा-निवृत्त हो गए, और उनके उत्तराधिकारी जानसन यों तो काफी खेद प्रकट करते जान पड़े, लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन से उन्होंने अभी रुकने के लिए ही कहा। आखिर चार साल बाद ही कहीं जाकर उस अनुदान को मंजूरी मिली, और साथ-साथ बकाए की पिछली रकम भी वसूल हो गई।

डा. ज़ाकिर हुसैन की ही यह खूबी थी कि भारी आर्थिक तंगी वाले दिनों में भी उन्होंने विदेशी अतिथि-प्राध्यापकों को अमंत्रित करने की योजना बनाई। डा. अंसारी को यह खयाल पंसद आया, और उन प्राध्यापकों को अपना अतिथि बनाने की बात उन्होंने अपनी ओर से रखी। 1933 में हुसैन रऊफ़ बे आए, 1934 में काहिरा के डा. बहज्ज़त वाहबी, और 1935 में हालिदा अदीव हानूम। हुसैन रऊफ़ बे प्रथम महायुद्ध में 'हमीदिया' नामक ध्वंसक युद्धपोत के कप्तान थे और उनके कारनामे 'एमडेन' जैसे ही थे, हालांकि उससे कहीं ज्यादा छोटी परिधि में। उन्होंने ही अपने देश की ओर से मुद्रोस की विराम-संधि पर हस्ताक्षर किए थे, और तुर्की के राष्ट्रीय मुक्ति-संग्राम के प्रमुख नेताओं में थे। कमाल अतातुर्क के साथ मतभेद हो जाने की वजह से उन्होंने अपना देश छोड़ दिया था, और भारत की इस यात्रा पर आने से पहले कई साल से पेरिस में रह रहे थे। हलीदा अदीब ने एक लेखिका तथा-सुधारक के रूप में न केवल तुर्की में ख्याति पाई थी बल्कि पश्चिमी जगत में भी। लेकिन भारतीय नेताओं का न उन्हीं की ओर ज्यादा ध्यान जा सका और न हुसैन रऊफ़ बे की ओर ही, क्योंकि वे लोग अपने ही मसलों में उलझे हुए थे। मगर इस तरह जामिया के बारे में जानने वालों का दायरा बढ़ा। हलीदा अदीब की व्याख्यानमाला बाद को 'कनफ्लिक्ट आफ ईस्ट एंड वेस्ट इन टर्की' (तुर्की में पूरब और पश्चिम का संघर्ष) के नाम से प्रकाशित हुई।

1935 के आरंभ में दी गई इस व्याख्यानमाला के प्रकाशन के लिए तभी इसके संपादन का भार मुझ पर डाला गया था, और चूंकि डा. ज़ाकिर हुसैन ने महसूस किया कि मेरे ऊपर यों ही काफी भार है, इसलिए उन्होंने मेरी मदद करना जरूरी समझा। शाम हो गई और कुछ देर बाद उन्होंने आंखों में तकलीफ बताई। देखते ही देखते वह दर्द इतना ज्यादा बढ़

गया कि लिखने का काम उन्हें बंद कर देना पड़ा। शायद यह उस बीमारी का ही पहला लक्षण था जिसका निदान बाद को 'ग्लाकोमा' के रूप में किया गया। लेकिन उस दर्द के दौरे के गुजर जाने के बाद जब कभी भी कोई उन्हें उसकी याद दिलाता था और इलाज कराने का सुझाव पेश करता था तो वह खीज उठते थे। बल्कि उलटे वह अपने ऊपर और भी ज्यादती करते चले गए। यह कोई नई बात नहीं थी। 1932 में उन्हें इलाहाबाद की हिन्दुस्तानी अकादमी में एक व्याख्यानमाला के लिये आमंत्रित किया गया था। व्याख्यान उर्दू में होने थे, और विषय था : 'अर्थशास्त्र : उद्देश्य और पद्धतियां।' हमेशा की तरह, अपने दोस्तों के साथ उन्होंने सलाह किया, कि विषय का प्रतिपादन किस प्रकार किया जाए और लिखने की योजना का रूप क्या हो। लेकिन कागज पर उन्होंने एक लाईन भी नहीं लिखी, और सिर्फ तीन दिन बाकी रह गए। तब जाकर वह लिखने के लिए बैठे, और अड़तालीस घंटे तक करीब-करीब लगातार ही, सिर्फ खाने और नींद ले लेने के थोड़े-थोड़े वक्त को छोड़, लिखते चले गए, और इलाहाबाद वाली आखिरी गाड़ी के वक्त तक उसे पूरा कर डाला। यह एक तरह की अति थी, पर तंदुरुस्ती के लिए यह इतनी नुकसानदेह नही जितनी कि एक दूसरी अति, जिसकी उन्हें कुछ ज्यादा आदत पड़ गई थी। 1936 की शरद ऋतु में एक दिन वह दफ्तर से वह सबेरे ग्यारह बजे घर आए; उन्हें भूख लगी हुई थी। जल्दी-जल्दी उनके लिए कुछ खाने लिए तैयार किया गया और उन्होने जी भर कर खाया। करीब बारह बजे अलीगढ़ से एक दोस्त आ पहंचे। उसके लिए खाना बनाया गया और डा. ज़ाकिर हुसैन भी बदस्तूर खाने में शामिल हुए, मगर रस्म-अदाई की खातिर नहीं, बल्कि पूरी तरह से। मुश्किल से उनका वह दूसरा खाना खत्म हुआ था कि नई दिल्ली के एक दोस्त, जो उन्हे दोपहर के खाने की दावत दिए हुए थे, अपनी मोटर से उन्हे लिवा जाने के लिए आ गए। डा. ज़ाकिर हुसैन इस दावत की बात बिलकुल ही भूल गए थे और उन्होने माफी चाही, मगर उन दोस्तों की स्त्री ने उनकी जानी हुई पसंद की चीजें तैयार करने मे बड़ी मेहनत की थी, इसलिए वह किसी तरह भी उन्हें छोड़ने को तैयार नहीं हुए। लाचार डा. ज़ाकिर हुसैन को उनके साथ जाना पड़ा, और चूंकि वह इस सिद्धांत के मानने वाले थे कि अगर कोई काम किया जाए तो पूरी लगन के साथ किया जाए, इसलिए उन्होंने सिर्फ खाया नहीं, बल्कि पूरा स्वाद ले-ले कर, और दोस्त की स्त्री द्वारा अपनी खातिर बनाए गए हर खाने की तारीफ करते गए।

अगले ही दिन ग्लाकोमा का जबर्दस्त दौरा हुआ और वह घंटो एक ऐसी यंत्रणा भोगते रहे जैसी पहले कभी नहीं भोगी थी।[1]

---

[1] दिल्ली में कुछ प्रारंभिक चिकित्सा करने के बाद डा. ज़ाकिर हुसैन आंखों वाले एक जर्मन सर्जन से अपनी खराब आंख के शल्योपचार के लिह बंबई चले गए। मगर खांसी जुकाम की वजह से शल्योपचार को स्थगित करना पड़ा। तब आप हंसी-खुशी धनसंग्रह के एक दौरे पर निकल पड़े और अपनी खांसी और भी बढ़ाकर लौटे। तब शल्योपचार के लायक बनाने के लिए उन्हें कड़ी दवाइयां देनी पड़ीं।

जो कुछ उन्होंने किया था वह गलत था, इसमें शक नहीं। लेकिन प्रकृति और बुद्धिमानी के विपरीत उन्होंने जो कुछ किया था उसे हम उनसे अलग करके नहीं देख सकते। मुस्लिम संस्कृति में अच्छे खाने को बहुत अधिक महत्व दिया गया है और आदमी के लिए उसे खुदा की एक नियामत माना गया है जिसके लिए उसका शुक्रगुजार होना जरूरी है। मुसलमान जब किसी की खातिरदारी करे तब वह मेहमानों की पूरी आवभगत ही न करे बल्कि उन्हें उनकी पसंद का ही खाना खिलाए। ठीक इसी तरह मेहमान के लिए भी लाजिमी है कि उसके सामने जो आए उसे स्वाद के साथ ही नहीं इतनी ज्यादा मात्रा में खाए की मेजबान संतुष्ट हो जाए। कम खाना या यह न दिखलाना कि खाना उन्हें बड़ा अच्छा लग रहा है, मेजबान के दिल को ठेस पहुंचा सकता है, और ऐसा हर्गिज नहीं होना चाहिए। इस तरह मुस्लिम संस्कृति के अनुसार सामाजिकता का सर्वमान्य आधार आपसी बातचीत, और खाने-पीने की इच्छा तथा उसकी तारीफ करना ही है। डा. ज़ाकिर हुसैन अगर खाने-पीने के शौकीन न होते तब भी जो सामाजिकता उनकी प्रकृति में ही थी, और जो उनकी संस्कृति द्वारा भी सराहनीय थी, केवल उसी के कारण उन्हें यह दिखाने के लिए बाध्य होना पड़ता कि वह अच्छें खाने के शौकीन हैं, और इसे साबित करने के लिए उसी तरह खाना भी पड़ता था। जो लोग उनके प्रशंसक थे और उनकी सोहबत चाहते थे उन्हें भी, उसी प्रकार, अच्छे से अच्छे खाने की उन्हें दावत देनी होती थी और यही मानकर चलना होता था कि परोसी हुई हर चीज वह खूब डट कर खाएंगे। यहां तक कि जब यह बात प्रगट थी कि वह मधुमेह रोग से ग्रस्त हैं और चावल और मिठाइयां और गरिष्ट भोजन करना उनके लिए मना है तब भी मैं जामिया के अपने सहयोगियो को इस बात के लिए तैयार नहीं कर पाया कि उन्हें जब वे दावत दें तो दावतों वाला खाना न खिलाकर ऐसा सादा भोजन कराएं जो उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक न हो। यह बात नहीं कि उनकी स्वास्थ्य की चिंता उन्हें मुझसे कुछ कम थी; मगर उनके लिए यह बात अकल्पनीय थी कि उस तरह के मेहमान को बिलकुल मामूली और बेलज्जत खाना खिलाया जाए।

मगर डा. ज़ाकिर हुसैन को भी मैं निर्दोष नहीं सिद्ध करना चाहता। बढ़िया खाना खाने से अपने को वह रोक नहीं पाते थे।[1] लेकिन अगर हम आचार-व्यवहार के उनके उस समूचे स्वरूप पर भी ध्यान दें जिसके कि वह खुद भी कायल थे, तो हम देखेंगे कि वह भी अपने

इस चिकित्सा और शल्योपचार के वक्त वह डा. के. ए. हमीद के घर पर ठहरे थे। डा. और श्रीमती हमीद ने जिस स्नेह और हार्दिकता के साथ उनकी देखभाल की थी उसकी वह गहरी कृतज्ञता के साथ याद करते थे।

[1] खानेपीने का जब उनका सख्त परहेज चल रहा था उन्हीं दिनों एक बार मैंने उनके साथ हैदराबाद की यात्रा की थी। रवाना होने से पहले मैंने उनसे कहा कि रेस्तोरां-कार से जो खाना मैं मंगा कर दूं वही वह खाएंगे, और कुछ भी नहीं। "जो ठीक समझो, करो। मैं तो अब तुम्हारी ही मेहरबानी पर हूं" उन्होंने जवाब दिया। चौबीस घंटे तक तो मेरी चली। वर्धा स्टेशन पर रेवड़ी बेचने वाला एक लड़का आकर हमारे डब्बे में दरवाजे-

हर दिन की खुराक लेते वक्त शुक्रगुजार महसूस करते थे, हालांकि जैसा खाना उन्हें मिलता था वह उनकी मुख्तसर-सी आमदनी के हिसाब से ही हो सकता था। गेर्डा फिलिप्सबार्न ने एक बार उनके शाम के खाने के लिए जर्मन तरीके से कलेजी और प्याज का एक खाना बनाया। वह आ नहीं सके, तो उन्होंने अगले दिन के भोजन के लिए उसे उठाकर रख दिया। मौसम गरमी का था और अगले दिन गोश्त खराब हो चुका था। डा. ज़ाकिर हुसैन जब आए तो अपने साथ अपने सहयोगी हमीद अली खां को भी लेते आए। कलेजी को चखने के बाद डा. ज़ाकिर हुसैन ने हमीद अली खां को उसे न खाने की सलाह दी। नतीजा यह हुआ कि गेर्डा फिलिप्सबार्न और हमीद अली खां ने ताजी पकाई हुई सब्जियां खाईं और डा. ज़ाकिर हुसैन ने पूरी-पूरी कलेजी खुद खा डाली। बाद को जब उन्हें यकीन हो गया कि वह बच जाएंगे तब कहीं जाकर उन्होंने हमीद अली खां को उस गोश्त के खराब हो जाने वाली बात बताई और इस बात की सफाई पेश की कि सिर्फ उन्होंने ही उसे क्यों खा डाला।

आचार-व्यवहार के इस रूप को पूरी तरह निभाने वाले मुसलमान पर इस बात की भी पाबंदी है कि आए हुए किसी मेहमान को वह लौटा न दे, क्योंकि वह जरूरतमंद हो सकता है। डा. ज़ाकिर हुसैन जब नयाचार (प्रोटोकोल) के बंधन में बंध गए उसके बाद भले ही कभी ऐसे मौके आए हों कि उसकी वजह से वह लोगों से न मिल पाए, लेकिन बिहार के राज्यपाल बनने से पहले तक कोई भी उनसे मिलने के लिए पहुंच सकता था और वह इंकार नहीं कर सकते थे। फिर उनके अपने लिए उसका चाहे जो नतीजा भी हो।

एक बार काफी तेज बुखार लिए वह अपने बिस्तर पर घर में अकेले ही पड़े रहे। बेगम ज़ाकिर हुसैन कायमगंज गई हुई थीं; नौकर लड़का भी कहीं गया हुआ था। उनके सेक्रेटरी को, जो अलग ही रहते थे, उनकी हालत के बारे में कुछ पता नहीं था। किसी आगंतुक ने दरवाजे पर दस्तक दी, और जब कोई बाहर नहीं निकला, तो सीधे अंदर चला आया और

के सामने खड़ा हो गया और रेवड़ी खरीदने के लिए खुशामद करने लगा। मैंने उसे भाग जाने के लिए कहा। मगर डा. ज़ाकिर हुसैन बिगड़ खड़े हुए, "तुम्हें किसी का कोई ख्याल नहीं, किसी पर रहम नहीं? यह गरीब लड़का कुछ बेचना चाहता है और तुम इतने सख्तदिल हो कि उससे दो पैसे की चीज भी नहीं खरीद सकते।" आखिर मुझे झुकना पड़ा, और दो पैसे की रेवड़ियां खरीद लेनी पड़ी। लेकिन रेवड़ियो वाली पुड़िया को मैं अपने पास अपनी बंद मुट्ठी में कस कर पकड़े रहा। जब उन्होने देखा कि मैं रेवड़ी देने वाला नहीं हूं तो बोले, "यह अच्छा तमाशा है। रेवड़ी नहीं खरीदनी थी तो न खरीदते लेकिन जब खरीद ही ली तो इन्हें न खाने का क्या मतलब?" मैंने सबसे छोटी दो रेवड़ियां चुनकर निकाली और उन्हे दे दीं। फिर मैं मौके की ताक में रहा की बाकी को अपने बिस्तर के नीचे छिपा दूं। कोई घंटे भर बाद मुझे फिर उन रेवड़ियों का खयाल आया और देखने की इच्छा हुई कि आखिर वह अपनी जगह पर तो हैं न। मगर वहां तो वह पुड़िया वाला वह कागज ही बाकी था। मैं जब गुसलखाने में था, रेवड़िया तभी गायब हो चुकी थीं। मैंने शक की निगाह से डा. ज़ाकिर हुसैन की ओर ताका। मगर हजरत के चेहरे पर सिवा एक भोली अदा के और कुछ नहीं था।

डा. ज़ाकिर हुसैन के बिस्तर के नजदीक जाकर बैठ गया। अपरिचित आदमी था जिसने अपने हालात और जरूरतों के बारे में एक बड़ी भूमिका पेश करने के बाद कुछ रुपये मांगे। डा. ज़ाकिर हुसैन ने उसे बतांया कि वह बीमार हैं, उनकी स्त्री बाहर गई हुई हैं, और इस वक्त देने के लिए उनके पास कुछ भी रुपये नहीं हैं। "आप जो कह रहे हैं वह ठीक ही है। मैं देख ही रहा हूं कि आप बीमार हैं, और जब आप कहते हैं तो यह भी सही होगा कि आपके पास रुपये नहीं है। लेकिन जब मैंने एक मांग पेश की है, तब आप उसे ठुकरा कैसे सकते हैं ?" डा. ज़ाकिर हुसैन के पास इसका कोई जवाब नहीं था। इस अजनबी को उन्होंने अपने सेक्रेटरी का नाम बताया और यह भी कि वह उस वक्त कहां होंगे। वह व्यक्ति भी उसी दम जाकर सेक्रेटरी को लिवा लाया। डा. ज़ाकिर हुसैन ने उनसे कहा कि वह कहीं से कर्ज लेकर इस व्यक्ति ने जितना रुपया कर्ज मांगा है दिला दें।

इस तरह की सबसे जबर्दस्त मिसाल मुझे उन दिनों देखने को मिली जबकि उन पर ग्लाकोमा का पहला दौरा पड़ा था। वह बिस्तर पर पड़े दर्द से छटपटा रहे थे, कमरे के दरवाजे बंद थे और उनके कुछ दोस्त पहरे पर थे, ताकि कोई उन्हें परेशान न करे। लेकिन किस्मत की बात, कि तभी पंजाब के किसी स्थान से एक मुसलमान सज्जन आ पहुंचे और उनसे मिलना चाहा। उन्हें बताया गया कि डा. ज़ाकिर हुसैन सख्त बीमार हैं और किसी से मिल नहीं सकते। लेकिन आगंतुक टस से मस न हुए, और बोले कि वह इतना रास्ता तय करके पंजाब से आए हैं, डा. ज़ाकिर हुसैन से मिले बिना हर्गिज वापिस नहीं जाएंगे। यह देखकर कि हम भी उन्हें अंदर न जाने देने पर तुले हुए हैं वह और भी जोर-जोर से चिल्लाने लगा। आखिरकर हम लोगों के झगड़े की आवाज डा. ज़ाकिर हुसैन तक भी पहुंच गई और उन्होंने जानना चाहा कि बात क्या है। उन्हें उस जिद्दी आदमी के बारे में बताया गया और यह भी कि उसे कितना समझाया-बुझाया गया है कि वह जरा आपकी तकलीफ का खयाल करे। डा. ज़ाकिर हुसैन ने उस व्यक्ति को अंदर ले आने के लिए कहा। जब उनके दोस्तों ने इंकार कर दिया तो वह बहुत ही बेचैन हो उठे और यह धमकी तक दे डाली कि अगर उस व्यक्ति को अंदर नहीं आने दिया गया तो वह खुद उठकर बाहर जाएंगे। उनके दोस्तों को तब मजबूर हो जाना पड़ा।

उनके इस तरह के व्यवहार का ही एक दूसरा पहलू तब देखने को मिला जब कि 1933 में उनकी शिशु कन्या रिहाना चल बसी। बड़ी प्यारी बच्ची थी-गुलाबी गाल, भूरे बाल और बड़ी-बड़ी गंभीर आंखें। डा. ज़ाकिर हुसैन उसे बहुत प्यार करते थे। इम्तिहान में पास होने वाले प्राइमरी स्कूल के लड़कों को वह मिठाइयां बांट रहे थे जब एक चपरासी ने आकर उनके कानों में कुछ कहा। वह उसी तरह मिठाई बांटते रहे। कुछ देर बाद फिर वह चपरासी आया और फिर उनके कानों में कुछ कहा। डा. ज़ाकिर हुसैन का चेहरा एक दम पीला पड़ गया, मगर मिठाई बांटने का काम उन्होंने नहीं रोका। इसी बीच जोर-जोर से घंटा बजना शुरू हुआ और बजता ही चला गया। लोगों के बीच खलबली मच गई, कि

बात क्या है । पता चला कि बिलकुल अचानक ही रिहाना चल बसी ।[1] सारा कामधाम बंद हो गया और जामिया के लोग डा. ज़ाकिर हुसैन के घर पर इकट्ठे होने लगे । वह खुद सबसे आखिर में पहुंचे । देर की वजह पूछे जाने पर बोले कि यह बुरी खबर उन्हें मिल तो गई थी, मगर वह स्कूल के एक समारोह में शरीक थे और बच्चे इतने खुश दिखाई दे रहे थे कि वह उन्हें बीच में ही छोड़कर नहीं आ सकते थे । कुछ गुमसुम से जरूर नजर आए, मगर वैसे उनमें कोई खास फर्क नहीं दिखाई पड़ रहा था; उन्होंने यह जाहिर नहीं होने दिया कि वह अपनी एक बहुत प्यारी बच्ची का अंतिम संस्कार कर रहे हैं । बाद को मैंने बेगम ज़ाकिर हुसैन की जबानी सुना की कई दिन तक रोज सबेरे उनका तकिया गीला पाया गया; तभी वह भी जान पाई कि वह सारी रात रोते रहे थे ।

मुसीबत और तकलीफ के वक्त वह कहां से सहारा लेते थे ? अगर उनसे यह सवाल किया जाता तो यह इसका जवाब देते ही नहीं । अपने सहयोगियों से वह कहा करते थे कि हर बीते हुए दिन के लिए हमें शुक्रगुजार होना चाहिए । या कभी-कभी वह उनसे यह भी कहा करते थे कि अगर किसी लक्ष्य को सामने रखकर हम चल रहे हैं तो इतना काफी है : सारी बातों को देखा जाए, तो किसी आदमी की जिंदगी की कीमत ही क्या है ? उनके अंदर एक ऐसी विनोदशीलता थी कि जिन लोगों के बीच वह जिस वक्त होते थे सिर्फ उन्हीं के बीच जान नहीं डाल देते थे बल्कि खुद भी रोजमर्रा की चिंता से इतने ऊंचे उठ जाते थे कि हास-परिहास के वक्त अपने को भी नहीं बख्शते थे । उनकी जिंदगी को गढ़ने में गांधी जी के व्यक्तित्व का जबर्दस्त असर था, मगर उन्होंने एक नहीं कई बार यह बात कही थी कि गांधी जी की जिस बात ने उन्हें सबसे ज्यादा लुभाया था वह थी खुद अपना मजाक उड़ा सकने की उनकी क्षमता ।

मगर यहां सवाल इस बात का है कि उनकी आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति के मूल स्रोत क्या थे । इस सवाल का जो जवाब मैं देना चाहूंगा वह दकियानूसी और बिलकुल पुराने ढंग का लगेगा, हालांकि वहीं मुझे सही मालूम होता है; उनकी शक्ति के स्रोत थे कुरान और फारसी काव्य ।

जामिया मिल्लिया का दायित्व उन पर आ पड़ने के बाद शुरू के दस साल तक सिर्फ मुसलमानों से ही उसमें दिलचस्पी लेने की उम्मीद की जाती थी, उसके लिए यह जरूरी था कि उनकी मजहबी भावनाओं को महत्व दिया जाए । लेकिन उस जमाने के लिए अपने अधिक से अधिक प्रभावशाली भाषणों में डा. ज़ाकिर हुसैन ने धार्मिक विचारों वाले व्यक्ति के रूप में कभी बात नहीं थी । पांच बार नमाज पढ़ने की रूढ़ि का भी वह नियमपूर्वक पालन नहीं करते थे । लेकिन नमाज वह पढ़ते थे, ज्यादातर रात को और तड़के सबेरे । कुरान वह नियमित रूप से पढ़ते थे; रमजान के दिनों में तो वह उसे जितने बार भी मुमकिन हो सकता था पूरा का पूरा पढ़ जाते थे । यह हमेशा से चले आने वाले कायदे के

---

[1] उसकी मृत्यु हृदय की किसी क्रिया की गड़बड़ी से हुई ।

ही मुताबिक था। रोजा (उपवास) भी वह बराबर रखते थे। कोई यह नहीं कह सकता था कि वह रूढ़िवादी नहीं हैं; न कोई यही कह सकता था कि वह रूढ़िवादी हैं। मगर मुझे याद है कि एक बार जब हम मुसलमान की परिभाषा करने की कोशिश कर रहे थे तब उन्होंने कुरान की एक आयत सुनाई थी जिसमें आस्तिक उन्हें बताया गया है जो दृढ़निश्चय, ईमानदार, आज्ञाकारी और परोपकारी हैं और जो दिन निकलते ही क्षमा याचना करते हैं।[1] इनमें से पिछली यानी क्षमा याचना वाली बात पर ही वह ज्यादा जोर देते थे। अब यह मेरे ऊपर था कि इसका मतलब मैं जो चाहूं लगाऊं।

जहां तक कि फ़ारसी काव्य का सवाल है, हमें यह याद रखना होगा कि डा. ज़ाकिर हुसैन एक ऐसे समाज में पाले-पोसे गए थे जिसमें काव्य सौंदर्यवादी तथा बौद्धिक स्वतंत्रता का, मनुष्य के रूप में अपने दावे को पेश करने का प्रतीक रहा है और जहां काव्य ने मानव मन को आंदोलित करने वाली हर दूसरी चीज के सामने–धर्म, किताबी ज्ञान, सांसारिक विचार साधारण बोध–अपने इस दावे की वजह से, कि वह प्रेम का अर्थात एक से विधान का प्रतिनिधित्व करता है जो सभी दूसरे विधानों से ऊपर है, अपने को उनके प्रतिद्वंदी के रूप में रखा है। हर क्षण ने, हर बड़ी घटना ने, अपने विशिष्ट कवि उत्पन्न किये हैं, अपनी विशिष्ट कविता को जन्म दिया है। जामिया मिल्लिया की स्थापना की यादगार में हमेशा कविता पढ़ी जाती थी और हर ऐसे मौके पर भी जबकि जोश पैदा करने की जरूरत पड़ती थी। ऐसे शायरों में एक थे मौलाना मुहम्मद अली, एक दूसरे शायर थे धर्मतत्वज्ञ एवं विद्वान मौलाना मुहम्मद अस्लम जैराजपुरी–ऐसे लोग जिनसे इस बात की जरा भी उम्मीद नहीं कि जा सकती थी कि काव्य की देवी के भी वे कृपापात्र हो सकते हैं। डा. ज़ाकिर हुसैन उन लोगों में नहीं थे जो भावुकता क प्रवाह मे अपने को बहने देते हैं। फारसी और हिंद फारसी के शायरों को उन्होंने काफी पढ़ा था और प्रभावशाली ढंग से उनकी शायरी से उद्धरण देते रहा करते थे। किंतु किसी साहित्यिक के रूप में वह काव्य-चर्चा नहीं करते थे। उन्होंने अपने कवियों को अपनी पसंद के मुताबिक चुन लिया था और उनसे वह अपनी अंतरात्मा के लिए बल पाते थे, किसी कवि के उन क्षणों को आत्मसात करते थे जिनके अंदर अनंत में विलीन हो जाने पर भी किसी अनुप्राणित क्षण की पूरी शक्ति कायम रहती थी।

रहस्यवादी कवि सरमद की एक चौपदी है जिसे उन्होंने जामिया के सबसे बड़े खुशनवीस उस्ताद अली मुहम्मद खां से सजावट के तौर पर अपने पास रखने के लिए लिखवाया था :

सरमद गिलः इख्तिसार मी बायद कर्द
यक कार अजीं दो कार मी बायद कर्द
या जॉं ब रजाए दोस्त मी बायद दाद
या कते नजर जे यार मी बायद कर्द

---

[1]कुरान-3,15। एन. जी. दाऊद वाला अंग्रेजी अनुवाद। पैंगुइन बुक्स, लंदन, 1956 पृ. 398।

यानी–ऐ सरमद, अपने दुख की नीरस कहानी छोड़ । रास्ते दो ही हैं और इनमें से एक ही तुझे चुन लेना है: या तो खुद की मर्जी पर पूरी तरह अपने को छोड़ दे और या कह दे कि वह तेरा कोई नहीं–न दोस्त न दुश्मन ।

यह उनके अपने ही व्यक्तिगत फैसले के प्रतीक के तौर पर था । 1946 में जामिया मिल्लिया की रजत जयंती के अवसर पर भारतीय नेताओं को संबोधित करते हुए उन्होंने जो कुछ कहा था उसमें हम काफी स्पष्टता के साथ उनके चिंतन और उनकी भावना की उस पूरी गहराई को देख पाते हैं जो उनकी पसंद के शेरों के ही इर्द गिर्द उनकी विचार प्रणाली को स्पष्ट करती है । उनके चिंतन का ढांचा और वे शेर जो उस पूरे खाके की मूलभूत इकाइयों के रूप में थे, इस हद तक एक-दूसरे में गुंथे हुए हैं कि उनका विकास उनके दिमाग में जरूर ही एक लंबे अरसे से साथ-साथ होता आया होगा । इस संयोग को हम किसी तरह की बढ़िया साहित्यिक कारसाजी नहीं मान सकते; विचार और उसकी अभिव्यक्ति के बीच जो आभ्यंतरिक सामंजस्य है वह बहुत ही साफ तौर पर एक गहन और प्रचंड सच्चाई की उपज है ।

पहले वह अपनी धर्मनिष्ठा की घोषणा करते है । ''सार्वजनिक सेवा का कोई काम अगर हम ऊंचे इरादों से अपने हाथों में लेते है–अल्लाह ताला की खिदमत के लिए, तो चाहे जितनी भी सख्तियां झेलनी पड़ें और कड़े-से-कड़े इम्तिहानों में से गुजरना पड़े, वह भी मदद करने के लिए अपना हाथ बढ़ाता है जिसकी खिदमत में हमने वह काम संभाला है और लड़खड़ाते कदमों को वह मजबूती देता है, दिल के टूट-टूट जाने पर भी वह उसे फिर पुख्ता बना देता है ।'' इसके बाद शायर नजीदी का एक शेर सुनाया :

दिल शकस्त: दरां कूए मी कुनंद दुरुस्त
चुनांके खुद ज़ज़नासी के अज़ कुजा बशकस्त

यानी–उस गली मे तेरे चुटीले दिल का ऐसा इलाज हो जाएगा, कि तुझे लगेगा, वहां कभी कोई दर्द था ही नहीं ।

और, कुरान की भी दो आयतें–प्रभावशाली बनाने के लिए दो बार कही जाने वाली एक स्वीकारात्मक उक्ति:

''दरअसल हर सख्ती के बाद आराम भी आता है । हर सख्ती के बाद आराम भी आता है ।''[1]

जामिया मिल्लिया की स्थापना जिस आदर्शवाद के कारण हुई थी और अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए उसे जो संघर्ष करना पड़ा था उनकी भूरि-भूरि सराहना करने के बाद उन्होंने उससे हमदर्दी रखने वाले उन लोगों को, जो उसकी अभावग्रस्तता पर तरस खाते हैं, सुनाते हुए एक शेर कहा:

ब सादगीए तो रहम आमदम दरीं बाजार
के तंग दस्तीओ उम्मीदवार मी गुज़री

[1]कुरान-94, 5-6 ।

यानी—तेरे भोलेपन पर मुझे तरस आता है; इस बाजार में आकर तू खाली हाथ और चेहरे पर उम्मीद लिये लौट जाता है ! और फिर उन लोगों का, जो अपने आदर्श की खातिर गरीबी को गले लगाने को तैयार हैं, यह मुंहतोड़ जवाब :

उर्फी दिले आबाद बयक जौ न खुरद इश्क
मन हम दिले बीरां ब दो आलम न फरोशम

यानी—ऐ उर्फी[1] जौ के एक दाने से प्रेम किसी प्रसन्न और संतुष्ट हृदय को नहीं खरीद सकता; और मैं भी अपने टूटे हुए दिल के बदले में सारी पृथ्वी और आकाश को भी नहीं लूंगा।

आदर्श की ओर, सच्ची शिक्षा के आदर्श की ओर, दृढ़तापूर्वक बढ़ते जाने के दृढ़ संकल्प की परीक्षा इस बात में है कि वह कितने लंबे वक्त तक अडिग रहता है। राजनीति जहां तीव्र गति की मांग करती है, वहां शिक्षा अध्यवसाय की। राजनीतिक कार्यक्रम जल्दी-जल्दी बदलते रहते हैं; लेकिन शिक्षा का तो सर्वप्रथम ध्येय ही इतना व्यापक है कि उनकी उपलब्धि की प्रक्रिया कभी भी पूरी नहीं होती। यह कोई ऐसी मंजिल नहीं है जहां हम जाकर ठहर जाएं, बल्कि एक दिशा है जिसकी ओर हम बढ़ते रहते हैं:

मलाले आलमियां दम ब दम दिगर गूनस्त
मनम के मुद्दते उम्रम ब यक मलाल गुजिश्त

यानी—नई-नई इच्छाओं और क्षणिक स्वप्नों के पीछे दौड़ने वालों को दुख ही दुख मिलता है और इधर मैं हूं कि सिर्फ एक दुख दिल में लिये मैंने सारी उम्र गुजार दी।

शिक्षा के ध्येय भले ही सदा के लिए एक साथ उपलब्ध न हो पाएं, लेकिन शिक्षा की एक प्राकृतिक अवधि है। जब उसके अंदर ताकत नहीं रह जाती और वह आगे नहीं बढ़ पाता तब वह किस तरह अपने को तसल्ली दे ? इसका जवाब गालिब देता है:

आगुश्ताएम हर सरे खारे बखूने दिल
कानून बागबानिए सहरा नविश्ता एम

यानी—रेगिस्तानों में बाग लगाने के कानून हमने अपनी जिंदगी के ही खून में डुबा-डुबाकर कांटों में लिखे हैं।

जामिया मिल्लिया की आकांक्षा यह थी कि शिक्षा की एक ऐसी पद्धति का वह विकास करे जो ईश्वर निष्ठा और ज्ञान के बीच एक सहज समन्वय स्थापित करे। उनकी अभिधारणा ने जो रूप ग्रहण किया था कि आधुनिक विश्वविद्यालयों और ईश्वरपरक शिक्षणालयों के बीच मेल बिठाया जा सकता है, और राष्ट्रवादी 'उलमा' की मूलभूत धारणा भी यही थी। उन सभी अच्छे मुसलमानों को जिन्होंने इनमें एक भी प्रकार की संस्था पर गंभीरतापूर्वक विचार नहीं किया था, यह विचार बड़ा आकर्षक लगा था। किंतु यह दावा आसानी से किया जा सकता था कि यह विचार वस्तुतः ईश्वर–निष्ठापरक नहीं था बल्कि ज्ञान की रहस्यवादी धारणा के अनुरूप था, और डा. ज़ाकिर हुसैन अक्सर रूमी का यह शेर

[1]शायर का तखल्लुस।

सुनाया करते थे:

इल्म रा बर तन जनी मारे बूद
इल्म रा बर दिल जनी यारे बूद

यानी—अगर बदन पर चोट कर, तो ज्ञान एक सांप है; उसके दिल पर चोट कर, तो वह तेरा दोस्त है, दोस्त।

रूमी में उन्हें उन लोगों के लिए भी जवाब मिल गया था जो यह जानना चाहते थे कि इस तरह के ज्ञान की प्राप्ति किस प्रकार हो सकती है:

तिश्नगां जूयन्द आब अंदर जहां
आब हम जूयद ब आलम तिश्नगां
आब कम जू तिश्नगी आवर बदस्त
ता बजोशद आबत अज बालाओ पस्त

यानी—प्यासा सभी जगह ही पानी ढूंढ़ता फिरता है : यह जान ले, कि पानी को भी प्यासे की तलाश रहती है। पानी न मांग कर पहले प्यास जगा, फिर देख कि हर तरफ पानी उछल रहा है या नहीं।

किंतु यदि हमें बिलकुल अकेले ही आगे बढ़ना पड़े तो ये रहस्यवादी प्रेरणाएं हमें ध्यान अथवा मनन, साधना और उपलब्धि के जिस जगत में ले जाती हैं वह शून्य में ही परिणत हो जाता है। उन दिनों मुझे कभी पूरी तरह इतमीनान नहीं हो पाया कि डा. ज़ाकिर हुसैन किसी शून्य की ओर ही नहीं बढ़े जा रहे हैं, और अपने सहयोगियों द्वारा परेशान किये जाने पर उन लोगो के चिढ़ जाने पर जब वह मेरी ओर ताकने लगते थे और रूमी का एक और शेर सुनाने लगते थे :

मनज तरीक न गोयम रफीक मी जोयम
के गुफ्ता अंद नखुस्तीं रफीक बादे तरीक

यानी—मैं रास्ते की बात नहीं कह रहा हूं, मैं तो उसकी तलाश में हूं जो उस रास्ते पर मेरे साथ चले : कहा गया है कि रास्ते का साथी पहले, फिर रास्ता तो मैं समझ नहीं पाता था कि मैं कहां पनाह लूं।

उनके दिल की सबसे बड़ी तमन्ना तो यह थी, और जिन मौकों से फायदा उठाया जा सकता था वे जब—जब सामने दिखाई देते थे तो यह ओर भी बढ़ जाती थी, कि उन्हें कोई ऐसा साथी मिले जिसके अंदर भी हाथ में आए काम को पूर्णता के साथ आयोजित और संपन्न करने की वही तड़प हो जो कि उनके अंदर है। इस तरह की तमन्ना किसी ऐसे व्यक्ति के लिए, जिसकी कल्पना का प्रवाह कभी रुकता नहीं था, और भी ज्यादा हतोत्साह कर देने वाली थी। हम देख ही चुके हैं कि जिस तेजी के साथ वह नए-नए विचारों को पेश करते रहते थे उनसे जामिया मिल्लिया के उनके सहयोगी प्रभावित भी होते थे, और उनकी हिम्मत भी टूट जाती थी। बाद को तो जो लोग उनके संपर्क में आए वे और भी ज्यादा प्रभावित हुए, लेकिन बिना किसी परेशानी के वे अपने ही रास्ते पर बढ़ते रहे। झेलना

जो कुछ पड़ा वह सिर्फ डा. ज़ाकिर हुसैन को, क्योंकि पूर्णता से कम में संतुष्ट न होने वाला उनका अंतःकरण अत्यंत संवेदनशील था, और उन्होंने अपनी व्यथा बिलकुल अकेले ही झेली।

जामिया मिल्लिया को गढ़कर तैयार करने वाले इस खास काम में डा. ज़ाकिर हुसैन की उपलब्धियों के बारे में हमारा मूल्यांकन किस रूप में किया जाए—क्या इस रूप में, कि उन्होंने रेगिस्तान में बाग लगाना चाहा ?

उनके सहयोगी जब मायूस हो जाते थे और भला-बुरा सुनाने लगते थे तो अक्सर वह यही कहते थे कि हमें कदम बढ़ाए चलना है; हमारे धीरज का इनाम हमें आखिर में मिलकर ही रहेगा। अपने अंडे को तोड़ एक चूजा किस तरह बाहर निकल आया इसे लेकर उन्होंने जो एक कहानी लिखी थी उसका एक वाक्य सुनाते हुए वह कहते : 'चोंच मारते रहो; कुछ-न-कुछ होकर ही रहेगा।' इस प्रकार, लाभ के खाते में जो पहली बात दर्ज की जाएगी वह यह कि अपने सहयोगियों को उन्होंने बिखरने नहीं दिया। यह एक ऐसे दृढ़ संकल्प का उदाहरण है जो मुसलमानों के बीच शायद ही कभी देखने को मिलता है, और ऐसी आकांक्षाओं का भी, जिन्हें दिल में महसूस तो बहुतेरे करते हैं पर जिन्हें पूरा करने के लिए प्रयत्न करने का साहस नहीं होता। उनकी दूसरी सफलता इस बात में है कि एक बहुत छोटी संस्था को, जिसे चलाना ही इतना कठिन हो रहा था, उन्होंने वह इज्जत दिला दी जो उसे सामान्यतः नहीं मिलनी चाहिए थी। डा. ज़ाकिर हुसैन के रहते, जामिया मिल्लिया सिर्फ अपनी इमारतों तक महदूद नहीं रहा, बल्कि वह आसमान छूता रहा। साथ ही उसकी भौतिक संपत्ति भी बढ़ी। 1938 तक उसने ओखला में जमीन खरीद ली। धन-संग्रह के लिए शफ़ीकुर्रहमान द्वारा स्थापित 'हमदर्दा ने जामिया' नामक उसका एक विभाग उसके उद्देश्यों के प्रचार करने के साथ-साथ धन-संग्रह का भी एक प्रभावशाली माध्यम बन गया था। 1938 के बाद से हमदर्दाने जामिया को मिलने वाले धन में कमी होती गई, और डा. ज़ाकिर हुसैन के सहयोगियों तक में कुछ ऐसे थे जिनका खयाल था कि यदि उन्होंने बुनियादी तालीम के प्रचार का काम हाथ में न लिया होता तो यह कमी न हो पाती। एक हद तक यह सही भी था। लेकिन 1939 में अपनी चिकित्सा कराने के लिए जर्मनी जाने से पहले डा. ज़ाकिर हुसैन हैदराबाद से एक लाख की मदद दिलाने में सफलता पा गए थे, और हमदर्दाने जामिया का काम भले ही एक सीमा से आगे न बढ़ाया जा सका हो, डा. ज़ाकिर हुसैन की जिन अगणित बातों में दिलचस्पी थी उनकी बदौलत होने वाले उसके लाभों की भी कोई सीमा नहीं थी।

1942 में किसी वक्त उनकी मुलाकात तबलीगी जमात के संस्थापक मौलाना इल्यास से हुई, और मौलाना उनके व्यक्तित्व से, और विचारों को भली-भांति समझने और उनका प्रतिपादन करने की उनकी क्षमता से, उनकी ओर अत्यंत आकर्षित हुए। तबलीगी जमात का उद्देश्य यह था कि जिन मुसलमानों में अपने मजहब की जानकारी भी है और उसके प्रति सजगता भी, वे उसकी हिदायतों पर खुद भी अमल करें और दल बना कर उन लोगों

के बीच जाएं जो केवल नाम के लिए मुसलमान हैं मगर इस्लाम की शिक्षाओं को जानते तक नहीं; उन्हीं के बीच वे रहें और मजहब के बुनियादी सिद्धांतों और आचरण पर चलने के लिए उन्हें तैयार करें; और इस तरह मुसलमानों के बीच मजहबी एकता बढ़ायी जाए। मौलाना इल्यास ने इस कार्य के प्रति अपने को पूरी तरह समर्पित कर दिया था, और मेवाती मुसलमानों के बीच जो धार्मिक और सांस्कृतिक जागृति पैदा हो पाई उसका प्रायः पूरा का पूरा श्रेय उन्हीं के शिक्षा-प्रयत्नों को है। लेकिन अपने कार्य का विस्तार करने के लिए उन्हें शिक्षित मुसलमानों की सहायता की जरूरत थी, जिसकी वजह से ही वह दिल्ली के उच्चवर्गीय मुसलमानों के संपर्क में आए। वक्ता के रूप में अपनी योग्यता वहां उन्हें बहुत ही हल्की दिखाई दी, और इसलिए डा. ज़ाकिर हुसैन से परिचय होना ख़ुदा से की गई अपनी प्रार्थना के जवाब जैसा ही नजर आया। इधर डा. ज़ाकिर हुसैन भी मौलाना इल्यास की लगन से, और उससे भी ज्यादा, धार्मिक और सामाजिक चेतना को बढ़ाने के उनके आदर्श और तरीके से, बहुत ही प्रभावित हुए। कुछ वक्त के लिए तो वह भी इस आंदोलन में पूरी तरह कूद पड़े, और मौलाना ने भी उन्हें अपना सबसे जबर्दस्त समर्थक माना। डा. ज़ाकिर हुसैन ने मुझे बताया कि जब कभी किसी समूह में वे दोनों एक साथ होते, मौलाना उनसे कहते, "भाई ज़ाकिर, मैं तो एक सीधा-सादा आदमी हूं। मैं तो अपने ख़यालात को समझा तक नही सकता। तुम उन्हें मुझसे भी ज्यादा अच्छी तरह समझते हो। भाई, तुम्ही मेरी ओर से बोलो।"[1] इस संपर्क का एक अप्रत्यक्ष फल यह हुआ कि जो लोग यह समझ बैठे थे कि डा. ज़ाकिर हुसैन पक्के मुसलमान नहीं है क्योंकि वह वर्धा योजना में शामिल हैं, उनकी भी आंखें खुल गईं। 1943 में डा. ज़ाकिर हुसैन धन-संग्रह के लिए जब जामिया को मेरे ऊपर छोड़ हैदराबाद गए तब रोज की जरूरतों को पूरा करने के लिए भी हमारे पास रुपया नहीं था। वह जिस दिन गए थे उसी सुबह को उनके चले जाने के बाद मुझे अपनी मेज पर एक बड़ा लिफाफा मिला। उसके अंदर 10,000 रुपयों के नोट थे, जो पिछली शाम को कोई गुमनाम आदमी वहां छोड़ गया था। बाद को पता लगा कि वह गुमनाम दाता एक ऐसे व्यक्ति के व्यापार में इनका साझीदार था जिसने तीन साल पहले, हमदर्दाने जामिया को 10 रुपये माहवार का अपना चंदा देना बंद कर दिया था।

1943 वाली हैदराबाद-यात्रा के फलस्वरूप डा. ज़ाकिर हुसैन को उस रियासत से मिलने वाली 1,000 रुपये मासिक की सहायता को बढ़वा कर 3,000 रुपये मासिक करा लेने में सफलता मिल गई। 1944 बीतते-बीतते जामिया की रजत जयंती के लिए धन-संग्रह का काम शुरू हो गया। यह 1945 में पड़ती थी। 'टाटा ट्रस्ट्स' जैसे कुछ दाताओं ने बड़ी शालीनता के साथ दान दिया। डा. ज़ाकिर हुसैन प्रो. चोकसी से मिले,

---

[1]लेकिन मौलाना इल्यास के उपदेशों पर अमल करने की डा. ज़ाकिर हुसैन की कोशिशें बहुत ज्यादा कामयाब नहीं हुईं। जब कभी भी वह किसी दल के साथ इस प्रकार के प्रचार कार्य के लिए बाहर गए, बीमार पड़ गए और उन्हें वापस लाना पड़ा।

जिन्होंने डायरेक्टरों के साथ दोपहर का खाना खाने के लिए उन्हें दावत दी, और उसके बाद उन लोगों ने जामिया की तकनीकी शिक्षा के लिए सहायता की एक रकम मंजूर कर दी। लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन और उनके सहयोगियों, शफ़ीकुर्रहमान किदवई और मुईनुद्दीन हैरिस, को 'दर-दर' घूमना भी पड़ा, और जिस धीरज और अध्यवसाय का उन्होंने परिचय दिया वह कुछ ही लोगों के बस की चीज है। इससे उनकी सेहत पर बहुत बुरा असर पड़ा। वह फिर हैदराबाद गए, जब कि सर मिर्जा इस्माइल वहां के दीवान थे। यह एक ऐसा मौका देखने को मिला जब एक भद्र पुरुष दूसरे भद्र पुरुष के साथ उस शिष्टाचार और आदर के साथ पेश आया जिसका कि वह हकदार था। डा. ज़ाकिर हुसैन को खुद कुछ भी नहीं कहना पड़ा। उन्हें दोपहर के खाने पर दावत दी गई और 5 लाख रूपये का चैक उनके हवाले कर दिया गया।

जामिया को दूसरे रूपों में भी मान्यता मिलने लगी। दिल्ली के चीफ कमिश्नर सर ईवान जेनकिंस ने, 1939 के आरंभ में, डा. ज़ाकिर हुसैन को उस स्कूल में बुनियादी तालीम का प्रयोग करने के लिए आमंत्रित किया जिसे वह ओखला में खोलने जा रहे थे। 1943 में भारत सरकार के शिक्षा आयुक्त सर जान सार्जेंट ने जानना चाहा कि अगर कोई सरकारी समिति जामिया मिल्लिया के सर्टिफिकेटों और डिगरियों को मान्यता देने की दृष्टि से उसके काम का निरीक्षण करे तो उसमें उन्हें कोई एतराज नहीं है।[1] एक समिति गठित की गई जिसने जामिया मिल्लिया की सभी डिग्रियों को मान्यता देने की सिफारिश की। लेकिन सरकार ने सिर्फ उसके मैट्रिकुलेशन (प्रवेशिका) और शिक्षक-प्रशिक्षण वाले उपाधि-पत्रों (डिप्लोमाओं) को ही मान्यता दी। परंतु आगे बढ़ने की ओर यह भी एक कदम तो था ही।

जामिया मिल्लिया की शिक्षा मान्यता का एक प्रमाण यह भी माना जा सकता है कि दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति सर मारिस ग्वायर ने 1944 में डा. ज़ाकिर हुसैन को कीका भाई प्रेमचंद व्याख्यानमाला देने के लिए आमंत्रित किया, जो बाद को 'कैपिटलिज्म : ऐन एसे इन अंडरस्टैंडिंग[2] (पूंजीवाद : उसका पक्ष समझने का एक प्रयास) के शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इस भाषणमाला में कोई मौलिक विचार तो नहीं मिलते, लेकिन शैली रोचक है, और इनमें आर्थिक विकास की समस्याओं को समझना उन लोगों के लिए भी आसान हो जाता है जिनमें अर्थशास्त्र की रुचि नहीं है, बल्कि उनके लिए भी जो उससे दूर ही रहना चाहते हैं। अफसोस इस बात है कि उस व्याख्यानमाला ने लोगों का ध्यान उस हद तक नहीं खींचा जितना कि चाहिए था।[3]

---

[1]इसकी नौबत इसलिए आई थी कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कोर्ट में जो लोग डा. ज़ाकिर हुसैन के समर्थक थे उनकी मांग थी कि जामिया मिल्लिया की मैट्रिक परीक्षा के सर्टिफिकेट को उस विश्वविद्यालय की मान्यता दिलाने के बारे में भारत सरकार से बात चलाई जाए।

[2]एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई, से 1966 में पुनर्मुद्रित और प्रकाशित।

[3]इस व्याख्यानमाला का अलिखित अंश भी उतना ही रोचक है। डा. ज़ाकिर हुसैन का तरीका यह था कि लिखने वाला काम आखिर तक छोड़ रखते थे। नतीजा यह होता था कि टाइपिस्ट को भी उनके पास बैठे रहना होता था और जैसे-जैसे वह लिखकर देते जाते थे वह टाइप करता चलता था, और उनके दोस्तों को

आदर्शवादियों और सुधारकों के व्यक्तिगत उद्यम के रूप में कई शिक्षा संस्थाएं बनीं। लेकिन वे सभी पूर्व-स्थापित शिक्षा-प्रणाली का ही विस्तार करने वाली थीं, और उनके सामने कोई कठिनाई आती थी तो इस बात की कि जहां के लोगों या जिस विशेष धार्मिक संप्रदाय के लाभ के लिए वे बनी थीं उनसे उन्हें काफी सहयोग नहीं मिला। जामिया मिल्लिया ने चालू पद्धति का परित्याग कर दिया, और चालू पद्धति ने भी उसका परित्याग किया; उसकी शिक्षा से विद्यार्थियों का भी कोई भौतिक लाभ नहीं था। वह तो एक प्रतीक बन कर रह सकता था, और किसी प्रतीक के रूप में उसका मूल्य पूरी तरह इसी बात पर निर्भर करता कि उसे चलाने वाला या चलाने वाले व्यक्ति किस किस्म के हैं। डा. ज़ाकिर हुसैन यह अच्छी तरह समझते थे और जानते थे कि वह तब तक इस क्षेत्र में न तो कोई नेतृत्व दे सकेंगे और न ही जामिया मिल्लिया के भविष्य को सुरक्षित रख सकेंगे जब तक कि उनकी निगाह उससे भी आगे नहीं जाएगी और, अपने निजी व्यक्तित्व द्वारा तथा शिक्षा संबंधी आंदोलनो और अन्य संस्थाओं के लाभ तथा उन्नति में योगदान देकर भी, वह बाहर भी, उसका प्रतिनिधित्व करने के हर मौके से फायदा नहीं उठाएंगे। मुझे याद है कि जर्मनी से उनके लौटने के कुछ वक्त बाद जब यह संभावना दिखाई दी थी कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कोर्ट में वह भी चुन लिए जाएं तो उस विश्वविद्यालय में उनके दिलचस्पी लेने का मैंने विरोध किया था। मै यह महसूस करता था कि उन्हें अपना पूरा वक्त जामिया मिल्लिया को ही देना चाहिए। लेकिन उनके सदस्य हो जाने का नतीजा यह हुआ कि करीब-करीब हर बैठक में वही सबसे आगे दिखाई देते थे, और उन्होंने हैदराबाद के दीवान सर अकबर हैदरी जैसे उन लोगों को भी प्रभावित किया जो उनके विरोधी थे। जब वह हिंदुस्तानी तालीमी संघ के अध्यक्ष हुए तो सारे देश ने उनको जाना, और बुनियादी तालीम के प्रचार के सिलसिले में उन्होंने ऐसे हजारों लोगों के दिमाग पर जामिया मिल्लिया की एक तस्वीर अंकित कर दी जिन तक उसकी बात वैसे पहुंच ही नहीं सकती थी, और उसके लिए एक ऐसी सद्भावना भी उत्पन्न कर दी जो अन्यथा असंभव ही थी।

लेकिन एक दूसरा भी दृष्टिकोण तो है ही। एक सहयोगी ने, जो 1920 में जामिया मिल्लिया में आए और चालीस साल बाद सेवा-निवृत्त हुए, मुझे लिखा है कि ज़ाकिर हुसैन ने जितना जामिया मिल्लिया को आगे नहीं बढ़ाया उतना खुद अपने को और अपनी प्रतिष्ठा को बढ़ाया है, और मैं जानता हूं कि यही राय कई अन्य सहयोगियों की भी रही है। यह सही है कि आजादी के बाद पैदा हुए हालात के साथ जामिया मिल्लिया अपना पूरा सामंजस्य बिठा भी नहीं पाया था, कि उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का कुलपति होना स्वीकार कर लिया। लेकिन इस मामले में जो बात उनके बारे में कही जाती है वह हमारे

बराबर डर बना रहता था, और वे उनके ही आसपास खड़े उन्हें और भी घबराहट में डालते चले जाते थे। एक बार तो आखिरी कुछ पन्ने टाइप हो भी नहीं पाए, और टाइप कराके उन्हें उस वक्त उनके हाथ में दिया गया जब कि उनका व्याख्यान शुरू हो चुका था।

जमाने के, या उससे पहले जमाने के, हर प्रतिष्ठित व्यक्ति पर लागू होती है जो स्वेच्छा से या अन्य प्रकार से एक छोटे कार्यक्षेत्र से ज्यादा बड़े कार्यक्षेत्र में जा पहुंचा। संभव है कि सभी दृष्टियों से यह परिवर्तन सदा ही लाभदायक न रहा हो। ज्यादा छोटे कार्यक्षेत्र में अधिक एकाग्रता और अधिक अध्यवसाय के साथ काम करने के अवसर मिलते हैं और उनके परिणाम भी ठोस और स्पष्ट होते हैं, जबकि ज्यादा बड़े कार्यक्षेत्र के परिणाम अक्सर टिकाऊ नहीं होते। लेकिन एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में स्थानांतरण होना एक अनिवार्य प्रक्रिया है। डा. ज़ाकिर हुसैन यदि स्वयं अपना निर्माण न करते तो जामिया मिल्लिया का भी निर्माण न कर पाते, और जब एक बार उनका अपना निर्माण हो ही गया तो उसका बिगाड़ करना उनके बस में नहीं था, जिस तरह कि पहाड़ों में इकट्ठा होते जाने वाला पानी जब एक प्रवाह का रूप लेता है तब नदी बनकर मैदानों मे बहने से उसे रोका नहीं जा सकता।

4. शिक्षा संबंधी विचार और आदर्श

शिक्षा संबंधी चिंतन विशिष्ट ऐतिहासिक स्थितियों का परिणाम होता है, लेकिन चूंकि मूलभूत शारीरिक, सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताएं, तथा कतिपय नैतिक एवं आचारशास्त्रीय विचार ऐसे भी है जो सभी स्थितियों पर लागू होते हैं, इसलिए ऐसे निष्कर्षों पर भी पहुंचा जा सकता है जिनकी संगति सभी के साथ है, और जिनकी कसौटी पर विशिष्ट परिस्थितयों वाले विचारों को परखा जा सकता है। भारत में अपनी सत्ता स्थापित करने में अंग्रेजों को जो सफलता मिली वह शिक्षा की भारतीय पद्धति के लिये एक चुनौती थी, जिसकी प्रतिक्रिया अंग्रेजों में भी हुई और भारतीयों में भी। इस सदी के दूसरे दशक में राजनीतिक और सामाजिक स्थितियों में एक और भी बड़े परिवर्तन के लक्षण दिखाई दिये, और स्वाधीनता की नई आकांक्षा के साथ-साथ देश के भिन्न-भिन्न भागों में ऐसी शिक्षा संस्थाएं स्थापित होने लगीं जिनके शिक्षा संबंधी लक्ष्य और तरीके उस आकांक्षा के साथ मेल खाने वाले थे। 1857 में अलीगढ़ में स्थापित मुहमडन एंग्लो-ओरियंटल कालेज, और उसी जगह 1922 में स्थापित जामिया मिल्लिया इस्लामिया, शिक्षा संबंधी चिंतन की जिन पद्धतियों का प्रतिनिधित्व करते हैं वे मुसलमानों को समय की आवश्यकता के अनुरूप शिक्षा देने के प्रयत्न का परिणाम हैं। इनमें से एक चिंतन-पद्धति शुरू से ही सर सैयद अहमद खां के नाम के साथ जुड़ी रही है; दूसरी को अब डा. ज़ाकिर हुसैन का कहा जा सकता है। अपनी पृथक सत्ता बनाए रखने के मुसलमानों के अधिकार वाले मामले को छोड़, बाकी किसी भी बड़ी बात पर उनके बीच कोई मेल नहीं है। सर सैयद अहमद खां की शिक्षा संबंधी धारणा, यदि अवसरवादी नहीं, तो उपयोगितावादी थी; आज की भारतीय शिक्षा संबंधी उसी धारणाने अपने चेहरे पर जो एक मुखौटा चढ़ा रखा है वह भी उस पर नहीं था। डा. ज़ाकिर हुसैन के मत में आदर्शवादिता और व्यापकता थी, जिसकी प्रमाणिकता आंकड़ों पर आधारित तथ्यों और आवश्यकताओं के संकीर्ण दृष्टिकोण पर नहीं बल्कि चरम मूल्यों पर निर्भर थी। चाहे वह मुसलमान होने के नाते मुसलमानों के बीच बोल रहें हों, चाहे भारतीय होने के नाते भारतीयों के बीच, ये मूल्य सदा उनके सामने रहते थे। 1928 में मैसूर में होने वाले विश्व-धर्म सम्मेलन में, मार्च 1937 में अलीगढ़ में

होने वाले अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन में, और दिसंबर 1934 में होने वाले अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन में उनके जो अभिभाषण हुए उन्हें एक साथ देखने पर हमें शिक्षा संबंधी उनकी धारणा की स्पष्ट झांकी मिल जाती है।

किंतु आवश्यक स्पष्टीकरण के रूप में पहले एक बात कह दी जाए। डा. ज़ाकिर हुसैन जब उपराष्ट्रपति और राष्ट्रपति के उच्च पदों पर रहे तब उनके धर्मनिरपेक्ष होने की तारीफ अक्सर की गई। इस तरह की तारीफ करने वालों का मतलब अगर यह था कि इस देश का सर्वोच्च पद उन्हें सिर्फ इसलिये दिया जा सकता था कि वह बहुत कम मात्रा में मुसलमान थे। भारत के राष्ट्रपति के रूप में वह जामिया मिल्लिया के प्रधान की तुलना में कहीं बड़े मुसलमान बन कर रहे। मगर दूसरी ओर, जो मुसलमान यह भान बैठे थे कि पूरे मुसलमान न होने की छाप डाल कर ही उन्होंने उस उच्च पद को प्राप्त किया था, वे भी उतनी ही बड़ी गलती कर बैठे थे। 'धर्म' और 'धर्म-निरपेक्ष' पदों का व्यवहार इतने बेहूदा ढंग से किया जाने लगा है कि उनका कोई अर्थ ही नहीं रह गया है, और यह घपला इसलिये और भी बढ़ गया है कि हम लोग कर्त्तव्यों के नहीं अधिकारों के ही बारे में हमेशा सोचते और बात करते रहते हैं। किसी ऊंचे से ऊंचे पद ने भी डा. ज़ाकिर हुसैन को अच्छे, बल्कि पक्के मुसलमान बने रहने के अधिकार से वंचित नहीं किया था, बल्कि ऐसे हर पद के साथ यह नैतिक दायित्व था कि उसे ग्रहण करने वाला अपने द्वारा अवधारित उच्चतम मानदंडों के अनुसार अपने कर्त्तव्यों का पालन करेगा। उनके लिये ये उच्चतम मानदंड वही इस्लामी मानदंड थे जिन्हें जिंदगी भर वह अपने अंदर पोसते आए थे, भले ही दूसरों की निगाहों में वह उस आम कसौटी पर न उतरते हों जिस पर हम किसी विशेष धर्म और परंपरागत संस्कृति के प्रतिनिधियो के रूप में एक दूसरे को परखते हैं।

अपने विचारों को उन्होंने 1928 में मैसूर में होने वाले विश्वधर्म सम्मेलन में ही शायद पहलेपहल, मुख्यतः एक गैर-मस्लिम श्रोतामंडली के सामने रखा था। वहां उन्होंने मुसलमानो की पृथक सत्ता के अधिकार को पूरी तरह सही बताते हुए, मुसलमानों को यह चेतावनी दी थी कि इस्लाम तभी कायम रह सकता था जब कि वह एक सक्रिय रचनात्मक शक्ति के रूप में अपना काम यानी अपना वह कर्त्तव्य पूरा करता रहे जो उसकी उत्पत्ति और इतिहास में निहित है।

"अगर कुछ लोग यह समझते हैं कि किसी निरंकुश राजसत्ता के प्रमुख को हटा देने से, या औरतों को गंदे घरों की चहारदीवारी से बाहर निकाल लाने से, इस्लाम खत्म हो जाएगा, तो फिर इस्लाम खत्म हो ही जाएगा। और जो लोग उस इस्लाम को बचाकर रखना चाहते हैं उनकी उम्मीदें पूरी नहीं होंगी। लेकिन अगर इस्लाम ऐसा धर्म है जो नास्तिक को आस्तिक बनाता है, असभ्यों को सभ्य बनाता है, औरतों को समाज में वह हैसियत और जगह देता है जो पहले उन्हें नहीं मिली हुई थी, जो मनुष्यों को भाई-भाई मानते हुए उनके बीच केवल एक ही उच्च वर्ग को स्वीकार करता है जिसका आधार चरित्र है–तो ऐसा इस्लाम, मुझे यकीन है, जिंदा रहेगा, और मानव समाज को समृद्ध बनाने में

अपना योग दान देता रहेगा ।"[1]

भारतीय समाज के संदर्भ में यह संप्रदाय, अपने अलग ही धर्म, अपनी अलग ही परंपरा और इतिहास को लिये हुए, इसी प्रकार के अन्य अनेक विद्यमान संप्रदायों मे से ही एक के रूप में, एक तरह से उन्हीं समान अधिकारों का उपयोग कर रहा है जो कि व्यक्तियों द्वारा निर्मित किसी भी समाज में किसी व्यक्ति को प्राप्त हैं । उसके कर्त्तव्य भी समान ही हैं । जो नागरिक अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करता उसे नैतिक दृष्टि से अपने अधिकारों को पाने का कोई हक नहीं है । यही बात किसी संप्रदाय पर भी लागू होती है । उसके मानसिक और मनोवैज्ञानिक गठन का अध्ययन भी उसी तरह किया जाना चाहिए जिस तरह कि हम किसी व्यक्ति के इस प्रकार के गठन का अध्ययन करते हैं, और किसी व्यक्ति की ही तरह उसे भी शिक्षित करने की, पथप्रदर्शन की, प्रेरणा देने की आवश्यकता है । इसीलिये किसी संप्रदाय द्वारा अपनाए जाने वाले शिक्षा संबंधी विचारो और आदर्शों का एक तात्विक महत्व है । मुस्लिम शिक्षाविदो ने जिन आदर्शों को अपनाया था उन पर डा. ज़ाकिर हुसैन ने मार्च 1937 में अलीगढ़ में होने वाले अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन वाले अपने अभिभाषण में विचार किया था :

"अक्सर कहा जाता है कि मुसलमानो की शिक्षा का, जो शिक्षा के सरकारी विभाग पर ही निर्भर है और उसी के आदेश पर चलती है, कोई आदर्श ही नही है । मैं यह नहीं मानता । यह जरूरी नहीं है कि किसी आदर्श का विशेष रूप से उल्लेख किया ही जाए; इतना ही काफी है कि वह शिक्षा देने वालों, उसकी व्यवस्था करने वालों और उन लोगों के, जो कि शिक्षा देने के पक्षपाती हैं, दिमाग में मौजूद रहे और उनके कामों से जाहिर होती रहे ।

"तो, वह आदर्श क्या रहा है ? यही, कि इस देश के उच्च और मध्यम वर्गों के मुसलमान जितनी ज्यादा संख्या में अपने को खाने-पीने लायक बना सकें, निश्चिततापूर्वक आराम की जिंदगी बिता सकें, सरकारी नौकरी पाकर किसी रूप में सत्ताशाली होने का दावा कर सके उतना ही अच्छा हो । ये थोड़े से व्यक्ति अपने जीवन-स्तर को जितना ज्यादा ऊपर करते जाएंगे, उतनी ही मात्रा में हमे मुस्लिम संप्रदाय को भी अधिक समृद्ध मानना चाहिये । इस तरह के लोगो को जिन तमाम मुश्किलों का सामना करना पड़ता है उन्हें हर तरह से घटाया जाना चाहिये, यही, और इसी वक्त, साफ तौर पर जो फायदे मिल सकते हैं उनमें किसी बेहतर भविष्य के लिये बनाई जाने वाली अविश्वसनीय योजनाएं दखल न दें, व्यक्तिगत जीवन के आराम में राष्ट्रीय नियति की धारणाएं बाधा न डालें । पुराना रास्ता गलत है, इसलिये गलत है कि वह एक ऐसे बहुमान्य राष्ट्र के रास्तों से अलग है जिसका हम पर आधिपत्य है । राजनीति से दूर रहना चाहिए, क्योंकि यही साफ नहीं है कि उन्नति और ऊंची हैसियत पाने की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा को आगे बढ़ाने के लिये (मुस्लिम)

---

[1]वी. एस. माथुर (संपादक) : "ज़ाकिर हुसैन : एडुकेशनिस्ट एंड टीचर" (ज़ाकिर हुसैन : शिक्षाविद् एवं शिक्षक), आर्य बुक डिपो, नई दिल्ली, पृ. 59 ।

संप्रदाय का राजनीतिक शक्ति पाना जरूरी है; सरकार का रूप चाहे जैसा हो, जरूरी सिर्फ इतना है कि वह विधिव्यवस्था बनाए रखे, अपनी प्रजाओं के बीच होने वाले झगड़ों और मतभेदों को न्यायपूर्वक और निष्पक्षता के साथ निपटाती रहे, कुछ व्यक्तियों को ऊंचे ओहदे दे दें, ताकि वह अपने ही लक्ष्यों को पूरा कर सकें और हमें एक हैसियत दे सकें। मजहब को तो नहीं छोड़ा जा सकता, क्योंकि सदियों से वह सांप्रदायिक जीवन का केंद्रबिन्दु रहा है; उसे तो कायम रखना ही है, लेकिन इस तरह के सांसारिक लक्ष्यो के साथ उसका कोई संघर्ष न हो, या प्रगति के मार्ग में वह बाधक न बनने पाए। दूसरों के साथ संबंध रखने के बारे में उसकी जो शिक्षाएं हैं और उनमें जो समझदारी भरी है उन्हें ज्यादा सामने न लाया जाए; इस दुनियां में जो जातियां ज्यादा आगे बढ़ी हुई है उन्हीं के तौर-तरीकों को चुपचाप अपना लिया जाए। धर्म में आस्था रखने के और धार्मिक आदेशों का पालन करने के सिद्धांत पर जोर दिया जाए, लेकिन उन्हें अगर अमल में न लाया जाए तो कोई हर्ज नहीं। और इसमें भी कोई हर्ज नहीं कि धार्मिकता का भ्रम बनाए रखने के लिये धर्म के उन पहलुओं पर, जो तर्क के क्षेत्र से परे हैं, बौद्धिक और दार्शनिक चर्चाएं चलती रहें।

''इस आदर्श की प्राप्ति के लिये जो शिक्षा-पद्धति आवश्यक थी उसे स्थापित किया गया--कुछ तो हमारी अपनी ही कोशिशों से, लेकिन और भी कहीं ज्यादा विदेशी मदद से। यह तो साफ ही है कि इस शिक्षा-पद्धति का एकमात्र उद्देश्य यही हो सकता था कि नौजवान पढ़ना और लिखना सीख लें, अपने गुजारे के लिये सरकारी नौकरियां पा जाएं, अपनी जिंदगी को एक तरह से पश्चिम के लोगो की जिंदगी के नमूने पर ढाल लें, धर्म को बिलकुल छोड़ तो न दें, लेकिन अगर चाहें तो उसके उत्साहवर्द्धक और शक्तिदायक प्रभाव से अपने को अछूता रखें, और राजनीतिक झंझटों से अलग रहें। वक्त खुद उन्हें सिखा देगा कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये राष्ट्रीय हित की बात किस तरह और कब उठाई जाए। दूसरे शब्दों में, शिक्षा का मतलब इतना ही माना जाता था कि कुछ छोटे-मोटे हुनर हाथ में आ जाएं, आज्ञाकारिता के कुछ रूप दिल में बैठ जाएं, और व्यक्तिगत महत्वकांक्षाओं और प्रतिस्पर्धा वाली प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया जाएं।

''अब जरा उन संस्थाओं की ओर नजर डाली जाए जो खासतौर से मुसलमानों के ही फायदे के लिये खोली गई हैं और जिन पर हमने अपने वक्त, अपनी शक्ति और अपने साधनों को लुटाया है। क्या वे भी ठीक इसी आदर्श पर नहीं चलती आई हैं ? अकबर इलाहाबादी ने किसी शिक्षित व्यक्ति के जीवन का जो संक्षिप्त ब्यौरा पेश किया है, कि

बी. ए. किया, नौकर हुए,
पेंशन मिली, औ मर गए

वह क्या इन्हीं मुस्लिम संस्थाओं में पढ़े-लिखे लोगों पर नहीं लागू होता ? तो फिर किन अर्थों में हम इस संस्थाओं को मुस्लिम संस्था कहते हैं ? क्या इस्लाम ने समाज की परिकल्पना व्यक्तियों के एक ऐसे समूह के रूप में की है जो स्वार्थ से प्रेरित होकर संयोगवश एकत्र हो गए हों ? इस्लाम में जिस धार्मिकता की बात है वह क्या उतनी ही औपचारिकता

और बाह्य है जितनी कि इन संस्थाओं में होने वाले अमल से प्रकट होता है ? क्या इस्लामी राज्यतंत्र का मतलब यही है कि अपने पर आंच न आने दी जाए और जो हमें चाहिये उसकी भीख मांगते फिरें ? क्या इस्लाम यही कहता है कि हम सामाजिक परिवेश तथा सामाजिक लक्ष्यों के प्रति उदासीन रहे, और अपने व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे दौड़ें—जैसा कि हमने शिक्षित करने के अपने प्रयत्नों द्वारा अब तक सीखा ? नहीं, हजार बार नहीं।''[1]

इस पुराने आदर्श को अस्वीकार करने के बाद उन्होंने एक नए प्रकार के स्कूलों के बारे में कहना शुरू किया, जिसकी कि उन्हें जामिया मिल्लिया वाले स्कूलों से और इन स्कूलों में नए आदर्शों से प्रेरित होकर तैयार होने वाले नौजवानों के बारे मे उम्मीद थी।

''हमारे ये नए स्कूल, निस्संदेह, मुस्लिम स्कूल होंगे जिनके आदर्श इस्लामी आदर्श होंगे। लेकिन इन आदर्शों की कोई संकीर्ण या गलत व्याख्या करके इन्हें संप्रदायवाद और सांप्रदायिक स्वार्थपरता के प्रजननकेंद्र नहीं बनने दिया जाएगा। अनुचित राग-देष उन्हें इस यथार्थता की ओर से आंख नहीं मूंदने देगा कि अगर, मुसलमान होने के नाते, हम आजादी हासिल करने और उसे कायम रखने के लिये वचनबद्ध है, अगर हमारे लिये यही आदेश है कि पृथ्वी पर से हर प्रकार की गुलामी को हम मिटा कर रहें, अगर हम एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था चाहते है जहां अमीर और गरीब के बीच किये जाने वाले भेदभाव की वजह से अधिकांश लोगों को मानव प्रतिष्ठा और मानव अधिकारों से वंचित न किया जा सके, अगर हम समाज में दौलत को नहीं धार्मिकता को ऊंची पद मर्यादा देना चाहते हैं, अगर हम जाति और रंग संबंधी द्वेषभाव को जड़मूल से उखाड़ फेंकना अपना कर्त्तव्य मानते है, तो सबसे पहले हमें अपने इन सारे कर्त्तव्यों को अपने ही प्यारे वतन में पूरा कर दिखाना होगा और इन आदर्शों को यहीं प्राप्त करना होगा। इस देश की ही मिट्टी ने हमे बनाया है और इसी मिट्टी मे हमें फिर मिल जाना है।

''इसलिये हमारे ये नए स्कूल हमारे नौजवानों के दिलों में समाज सेवा के लिये इतना जोश पैदा कर देंगे कि उन्हें तब तक सुख की नींद नहीं आ पाएगी जब तक कि उनके इर्दगिर्द और उनके अपने घरों में गुलामी और गरीबी, तकलीफ और जहालत, बीमारी और अनैतिकता, क्षुद्रता और निराशा कायम हैं, और, इन बुराइयों को दूर करने में, वे अपने समय को और अपने मानसिक और भौतिक साधनों को खपा देंगे। अपने गुजारे के लिये जरूर वे कोई काम करेंगे, लेकिन उनका वह रोजगार पेट की खातिर की जाने वाली किसी की गुलामी नहीं होगा। यह रोजगार धर्म और देश की सेवा के लिये होगा, ऐसा रोजगार जो न सिर्फ भूख की तड़प को शांत करेगा बल्कि ह्दय और आत्मा की आकांक्षाओं की भी बड़े सुदंर ढंग से पूर्ति करेगा। अपने देश की सेवा का व्रत वे अपने धार्मिक आदर्शों के कारण ही लेंगे—उस देश की सेवा का व्रत, जिसे कभी दुनिया ने स्वर्ग का ही प्रतिबिंब

---

[1]'तालीमी खुतबात' (शिक्षा संबंधी भाषाओं का संग्रह), मकतबा जामिया नई दिल्ली, 1942, पृ. 42-45।

बताया था, लेकिन आज जो अगणित मनुष्यों के लिये नरक से भी गया गुजरा है। अपनी सेवा के जरिये वे इस देश की इस तरह कायापलट कर देंगे कि उसके भूखे, बीमार, दुखी, निराश और गुलाम निवासियों के बीच, जिन्हे कि कुछ लोगों की ज्यादतियों और क्रूरताओं ने, और, कुछ दूसरों की कमियों और उपेक्षा भाव ने, इस बुरी हालत पर पहुंचा दिया है कि उसका कुंठित अस्तित्व मानव जाति के पिता परमात्मा के नाम पर भी धब्बा लगाता है, वे परमात्मा के सामने अपना माथा झुकाते वक्त शर्मिंदा नहीं महसूस करेंगे, जिसे कि रहीम व करीम (दयालु और कृपालु), रोजी देने में सख़ी (उदार), बाकी (संद्रूप) और अबदी (शाश्वत) कहते हैं।

"केवल इतना ही नहीं। ये नौजवान, अपनी निःस्वार्थ सेवा के जरिए, अपने देशवासियों की अंधविश्वासपूर्ण कट्टर देशभक्ति के घृणित परिणामों से भी रक्षा करेंगे, अपने देश को मानव जाति तथा विश्व की सेवा का साधन बनाएंगे। हमारा देश अपनी समृद्धि के लिये कभी भी दूसरों को मुसीबत में नहीं डालेगा, अपनी उन्नति के खातिर दूसरों का कभी दमन नहीं करेगा, दूसरों की ताकत छीन कर अपने को ताकतवर नहीं बनाएगा और न अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने के लिये उन्हें गुलाम बनाएगा।"[1]

मुसलमानों के जिस खास वर्ग के बारे में डा. ज़ाकिर हुसैन ने कहा है उसके साथ ही पूरे मुस्लिम संप्रदाय की शिनाख्त करने के बहुत बुरे राजनीतिक नतीजे हुए। इस संप्रदाय के आम लोगों—कारीगरों, किसानों, मजदूरों—की शिक्षा की उपेक्षा की गई जिसका नतीजा यह हुआ की वे अपनी जबान नहीं खोल सके और बोलने वाले उच्च वर्गों के हाथ की कठपुतली बन गए। जामिया मिल्लिया उन कुछ संस्थाओं में से है जिन्होंने उच्च वर्ग की इस घेराबंदी को तोड़ कर सीधे मुस्लिम जनता तक, बल्कि उससे भी आगे जाकर भारतीय जनता तक, पहुंचने की कोशिश की। उसका प्रमुख साधन था उसका प्रौढ़ शिक्षा विभाग, जिसे स्थानीय रूप से भारी सफलता मिली। एक अप्रत्यक्ष किंतु काफी कारगर साधन था उनका राष्ट्रीय स्वरूप जिसने उसे उन लोगों से अलग रखा जो शिक्षा को प्रारंभिक रूप में सरकारी नौकरी पाने की काबलियत के तौर पर देखते थे। उसके बहुतेरे अध्यापक जरूर, कहने को, मध्यम वर्ग के लोग थे, लेकिन सामाजिक भेदभाव को उन्होंने सिद्धांत रूप में भी त्याग दिया था और व्यवहार में भी। उसके निम्नस्तरीय कर्मचारी वर्ग को, जिसे सरकारी भाषा में चौथे दर्ज़े का कर्मचारी वर्ग कहा जाता है, अंजुमन (कोर्ट) और कार्य परिषद् में प्रतिनिधित्व प्राप्त था, और नियमों में इस तरह की रियायतें दी गई थीं कि वहां उपलब्ध शिक्षा-सुविधाओं से भी वे लोग लाभ उठा सकें।

लेकिन इस अभिभाषण से यह भी स्पष्ट है कि डा. ज़ाकिर हुसैन इस बात पर भी जोर देते थे कि परंपरागत धर्म और संस्कृति वाले संप्रदाय के रूप में मुसलमानों को अपनी पृथक सत्ता बनाए रखने का अधिकार है। 1935 वाले पिछले जमाने में भी उन्होंने काशी

---

[1] 'तालीमी खुतबात', पृ. 58-60।

विद्यापीठ के अपने दीक्षांत भाषण में कहा था :

"शिक्षा की राष्ट्रीय पद्धति में मुसलमानों को यह अधिकार दिया जाएगा या नहीं, कि वे अपने सांस्कृतिक जीवन को शिक्षा का माध्यम बना सकें ? आप लोग जानते है कि हमारे राष्ट्रीय जीवन में यह प्रश्न कितना संगीन है । संभव है कि भले इरादे वाले कुछ ऐसे अतिवादी लोग भी हों जो भारतीय राष्ट्रीयता के दृष्टिकोण से मुसलमानों को यह अधिकार देना दुर्बलता का एक स्रोत और प्रगति के मार्ग की एक बाधा मानें । किंतु यदि सद्‌भाव द्वारा प्रेरित अनुभवी शिक्षाविद् लोग देश के लिये किसी शिक्षा-पद्धति का निर्माण करेंगे तो मुझे यकीन है कि वे मुसलमानों की इस इच्छा को खुशी से स्वीकार कर लेंगे कि उनकी शिक्षा उन्हीं की संस्कृति पर आधारित हो, क्योंकि शिक्षा संबंधी सही सिद्धांत यही है और राजनीति का भी यही सही तकाजा है । आप मुझे माफ करेंगे अगर इस सम्मानित श्रोता-मंडली के सामने मैं साफ-साफ यह कहूं कि जहां एक ओर स्वार्थपूर्ण व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा, हृदय की संकीर्णता और देश के भविष्य के बारे मे कोई सही तस्वीर बना सकने की असमर्थता मुसलमानो को एक सर्व-सामान्य भारतीय राष्ट्रीयता के विचार से दूर करती जा रही है, वहां दूसरी ओर, उनके दिल में यह शक भी गहरा घुसा बैठा है कि किसी राष्ट्रीय सरकार के अंतर्गत मुसलमानों की सांस्कृतिक विशिष्टता को खत्म कर दिये जाने का खतरा है । यह एक ऐसी कीमत होगी जो मुसलमान किसी तरह भी नहीं देना चाहेंगे । और सिर्फ मुसलमान होने के नाते नहीं, बल्कि एक पक्के भारतीय होने के नाते भी, मुझे इस बात की खुशी है कि वे यह कीमत देना नहीं चाहते ।"[1]

अपनी पृथक सत्ता को कायम रखने की हर संप्रदाय की स्वाधीनता अब तो भारतीय संविधान मे ही सुप्रतिष्ठित की जा चुकी है और सभी निष्पक्ष और समझदार लोग उसे एक सिद्धांत के रूप में स्वीकार करते हैं । किंतु किसी शिक्षक के लिये इससे एक गंभीर समस्या पैदा हो गई है । जामिया मिल्लिया इस्लामिया इसका एक अच्छा दृष्टांत है । इसके संस्थापको की इच्छा और गांधी जी के आशीर्वाद से इस संस्था में शिक्षा को अपनी खुराक इस्लाम और परंपरागत मुस्लिम संस्कृति से ही लेनी थी । लेकिन इसके संस्थापक की यह भी इच्छा थी कि यहां के गैर-मुस्लिम विद्यार्थियों को अपने ही धर्म और संस्कृति के अध्ययन का मौका मिले । इसलिये यह, किसी मानी में भी सिर्फ एक संप्रदाय की संस्था बन कर नहीं रह सकती थी, लेकिन फिर भी अपने आधारभूत सिद्धांतों के प्रति इसे निष्ठावान रहना था । अपनी स्थापना के कोई तीन साल बाद इसने अपने राजनीतिक स्वरूप का परित्याग कर दिया । परंपरागत संस्कृति के प्रति निष्ठा रखने का जब एक ऐसा राजनीतिक अर्थ किया जाने लगा जो उदारता और मेल जोल के उसके आदर्श और आचरण के प्रतिकूल था, तब इसे अपने क्षेत्र में करीब-करीब अकेले ही रह जाना पड़ा । 1937 के आखिर में डा. ज़ाकिर हुसैन ने बुनियादी तालीम के प्रचार की जिम्मेदारी ले ली । उन मुसलमानों के बीच,

[1] 'तालीमी खुतबात', पृ. 21-22 ।

जो कांग्रेस विरोधी प्रचार के शिकार हो गए थे और यह मान बैठे थे कि बुनियादी तालीम की कुछ ऐसी बातें भी हैं जो इस्लाम के और मुस्लिम संस्कृति के खिलाफ हैं, कुछ वक्त के लिये इससे वह और जामिया मिल्लिया दोनों ही बदनाम हो गए। उनकी व्यवहार-कुशलता के कारण ही उनके विरोधी खुल कर सामने नहीं आ पाए, लेकिन यह एक ऐसा उदाहरण है जिससे प्रकट होता है कि अगर कोई शिक्षा संस्था किसी एक संप्रदाय के धर्म और परंपरागत संस्कृति को अपना कर चलती है तो इसी संप्रदाय के राजनीतिक रूप में सक्रिय तथा प्रचंड तत्त्वों के साथ, जो कि शिक्षा देने वाले का और परंपरागत संस्कृति संबंधी उसके उद्देश्यों और आदर्शों की धारणा का ही विरोध कर सकते हैं, उनका संघर्ष उत्पन्न हो सकता है। हमें यह भी याद रखना होगा कि परंपरागत संस्कृति को ज्यादातर तो बहुसंख्यक लोगों की आदतों, मनोवृत्तियों और हितों के रूप में ही देखा जाने लगता है, जो आमतौर पर आदर्श से बिलकुल ही भिन्न होते हैं। लेकिन इससे इतना ही सिद्ध होता है कि शिक्षा देने वाले का काम आसान नहीं है। जामिया मिल्लिया ने, बिना बहुसंख्यक लोगों के रागद्वेषों के लिये कोई छूट दिये, और इस्लाम की शिक्षाओं की रूढ़िवादी पर राजनीतिक व्याख्या को भी स्वीकार किये बिना ही, मुस्लिम परंपरा और संस्कृति का प्रतिनिधित्व किया है। सच पूछा जाय तो उसने मानी हुई परंपराओं और मनोवृत्तियों का समर्थन करने से ज्यादा उनसे उलटी ओर जाकर अपने एक अलग ही मुस्लिम चरित्र का निर्माण किया है। रूढ़िवादियों को इस बात में आपत्ति है कि जीवित प्राणियों की मूर्ति या तस्वीर बनाई जाए, मगर फिर भी डा. ज़ाकिर हुसैन ने स्कूल के पाठ्यक्रम मे चित्रकला को स्थान दिया। उन्होंने नाटको को लिखवाया भी और उन्हें रंगमंच पर भी प्रस्तुत कराया। प्राइमरी स्कूल में लड़कियों को भी भरती करके उन्होंने सह-शिक्षा के लिए जमीन तैयार की। रूढ़िवादी बातों को उन्होने किसी भी शक्ल में लागू नहीं किया। कुरान की जिस आयत में यह कह कर कि "धार्मिक विश्वास के मामले में जबर्दस्ती नहीं"[1] सहिष्णुता की ओर ध्यान खींचा गया है उस पर अमल करते हुए उन्होंने एक ऐसा वातावरण तैयार किया जिसमें विचारों का स्वच्छंदतापूर्वक आदान-प्रदान किया जा सकता था और मतभेदों तथा धार्मिक भिन्नताओं के प्रति समझदारी और आदर का भाव रखा जाता था।

परंपरागत संस्कृति के माध्यम से शिक्षा देने के डा. ज़ाकिर हुसैन के आदर्श की भारतीय परिवेश में ही उपलब्धि होने को थी। उनकी दृष्टि में मुसलमान तब तक सही मानी में अच्छा और सच्चा मुसलमान नहीं हो सकता जब तक कि वह एक अच्छा और सच्चा भारतीय भी न हो। इस तरह के मुसलमान के लिये अच्छे और सच्चे भारतीय होने का मतलब है सिद्धांत और असल में उन सारी बातों को स्वीकार करना जो राष्ट्रीय विकास के लिये जरूरी हैं। वह मशीनों को स्वीकार करेगा, कारखानों के शोर और धुएं को स्वीकार करेगा, उन सभी शिल्पवैज्ञानिक यंत्रों को स्वीकार करेगा जो कि जरूरी हैं, क्योंकि वह एक

औद्योगिक समाज के अंदर रहते हुए भी अपने धंधे के साथ जुड़ी हुई सभी जिम्मेदारियों को निभाएगा, या यदि ईश्वरपरक भाषा में कहा जाए, तो अपने उन कर्त्तव्यों का पालन करेगा जिन्हें कि उसने अपने समाज के हित में ग्रहण किया है। गांधी जी और गुरुदेव ने अपने-अपने निजी कारणों से उद्योगीकरण और नगरीकरण का विरोध किया था। परंपरागत संस्कृति के माध्यम से शिक्षा देने वाला सिद्धांत आदर्शों के इस संघर्ष के बीच क्या रास्ता निकालता ? गांधी जी और गुरुदेव टैगोर के बीच एक बार एक छोटी-सी मगर झड़पदार बातचीत हुई थी, लेकिन गुरुदेव और डा. ज़ाकिर हुसैन के बीच कभी नहीं; और न डा. ज़ाकिर हुसैन और किसी ऐसे हिंदू शिक्षाविद् के बीच ही कभी कोई झड़प हुई, जो कि गांधी जी या गुरुदेव दोनों में से किसी के भी दर्शन में तो आस्था न रखता हो, किंतु फिर भी परंपरागत संस्कृति के माध्यम से शिक्षा देने में जिसकी आस्था हो। डा. ज़ाकिर हुसैन अगर अपनी ही ओर से इस सवाल पर कोई बात चलाते, कि अनेक प्रकार की परंपराओं वाले हिंदुओं को उनके माध्यम से किस तरह शिक्षा दी जाए जब कि वे सभी परंपराएं प्रामाणिक हैं, तो वे अपने को सांस्कृतिक मामलों में हस्तक्षेप करने के दोष का भागी मानते। इस मामले में कोई अगर उनसे बात करता तो शायद उन्होंने कोई रास्ता निकालने की कोशिश भी की होती। मगर किसी ने कोई बात नहीं की। नतीजा यह है कि डा. ज़ाकिर हुसैन का यह सिद्धांत बिलकुल अलग जा पड़ा है, या सिर्फ उन्हीं एकेश्वरवादी संप्रदायों पर लागू हो सकता है जो अपने धर्मशास्त्रों की रोशनी में खुद ही अपने बारे में फैसला कर सकते हैं।

यह संभावना जरूर रह ही जाती है कि शिक्षा को सभी विशिष्ट सांस्कृतिक और धार्मिक परंपराओं से विच्छिन्न कर दिया जाए और उसे विशुद्ध रूप से मानवतावादी अधिकार दे दिया जाए, या, जैसा कि अब हम भारत में कहने लगे हैं, उसे धर्म-निरपेक्ष रूप दिया जाए। बहस के तौर पर कहा जा सकता है कि डा. ज़ाकिर हुसैन ने बुनियादी तालीम को पूर्णतया धर्म-निरपेक्षता का रूप देकर इस स्थिति को खुद भी स्वीकार कर लिया था। लेकिन बुनियादी तालीम से पहले के पाठ्यक्रम में सभी धर्मों की शिक्षा का समावेश किया गया था, और उस हद तक इसे धर्म-निरपेक्ष नहीं कहा जा सकता। डा. ज़ाकिर हुसैन के दृष्टिकोण को पूरी तरह हम तभी समझ सकते हैं जब शिक्षा संबंधी उनके विचार को हम संपूर्ण रूप में देखें।

इसकी एक रूपरेखा हमें उनके उस स्वागत भाषण में मिलती है जो उन्होंने 1934 के दिसंबर के अंतिम सप्ताह में दिल्ली में हुए अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन में दिया था। यह भाषण उनकी सर्वोत्तम शैली में और विचारों से ओत-प्रोत था, उन विचारों से जो कि शिक्षा संबंधी पाश्चात्य दर्शन के उनके अध्ययन के परिपक्व फल के रूप में थे।

"मस्तिष्क को शिक्षित करने का काम लाजिमी तौर पर उसके अंदर छिपे उन मूल्यों को फिर से चालू कर देने का काम है जो सांस्कृतिक पदार्थों में समाविष्ट हैं। ठीक जिस तरह शरीर की वृद्धि उसके प्राकृतिक विन्यास को गढ़ने वाली खुराक और पोषक पदार्थों से होती

है, उसी तरह अपनी मौलिक अहर्ताओं और गठन संबंधी विलक्षणताओं वाले मस्तिष्क की वृद्धि उस मानसिक खुराक से होती है जो उसे आसपास से सांस्कृतिक पदार्थों से मिलती है। इस तुलना को थोड़ा ओर आगे लेजाएं तो जिस तरह एक शरीर हमेशा उसी तरह की खुराक पर नहीं पनपता जिस पर कोई दूसरा शरीर पनप सकता है, उसी तरह, बल्कि उससे भी कहीं ज्यादा मात्रा में, एक व्यक्ति के दिमाग को हर तरह के सांस्कृतिक पदार्थों से समान रूप में अपनी जरूरी खुराक नहीं मिल सकती।

''सांस्कृतिक पदार्थ–विज्ञान, कला, धार्मिक विश्वास, धार्मिक संप्रदाय और प्रतीक, महापुरुषों से संपन्न समाज, उसकी आचार-संहिता और रस्म-रिवाज, उसके राजनीतिक रूप और शिक्षा संस्थाएं, मशीनों और कल-पुर्जों वाली उसकी शिल्पविधि–ये सब-के-सब, आखिर में जाकर तो, बिलकुल ही अलग-अलग किस्मों के व्यक्तिगत या सामूहिक प्रयास के परिणाम होते हैं। ये सांस्कृतिक पदार्थ विषयीभूत मस्तिष्क ही हैं। उन पर हमेशा ही, कभी साफ तौर पर और कभी धुंधले रूप में, उस मस्तिष्क की छाप और मोहर रहती है। प्रच्छन्न रूप से उन पर उस मानसिक ऊर्जा का कम-से-कम एक अंश तो चढ़ा ही रहता है जिसकी कि वे उपज हैं। शिक्षा का उद्देश्य है व्यक्तिगत मस्तिष्क की इस प्रच्छन्न ऊर्जा को गति प्रदान कर देना। किंतु शिक्षा के मार्ग की कठिनाई यह है कि यह रूपांतर उन्हीं व्यक्तियों के अंदर लाया जा सकता है जिनका मानसिक ढांचा उस सांस्कृतिक पदार्थ में विद्यमान विषयीभूत ऊर्जा के साथ मेल खाता है जो कि उनकी शिक्षा का साधन है। जो मस्तिष्क ग्रहण करने जा रहा है उसका गठन उसी मस्तिष्क के अनुरूप होना चाहिए जिसने उसकी रचना की है।

''सांस्कृतिक दर्शन के अध्ययन द्वारा सैद्धांतिक, धार्मिक, सामाजिक, सौंदर्यपरक और यांत्रिक पदार्थों की गठनात्मक विलक्षणताओं के निर्धारण की चेष्टा की गई है। जिन अन्य बातों के अध्ययन हुए हैं वे हैं 'मानसिक गठन की प्रकार-विद्या, मुख्यतः चिंतनशील मस्तिष्क और क्रियाशील मस्तिष्क के बीच भेद, प्रजननात्मक तथा सर्जनात्मक चिंतन के और प्रयत्नात्मक तथा सर्जनात्मक क्रिया के बीच भेद, एक ओर तो चिंतन के सैद्धांतिक, सौंदर्यपरक और धार्मिक रूपों और दूसरी ओर क्रिया के आत्मकेंद्रित, निःस्वार्थ, सामाजिक तथा अवैयक्तिक रूपों के बीच पाए जाने वाले भेद, जो फिर सैद्धांतिक, सौंदर्यपरक अथवा धार्मिक मूल्यों के एक मौलिक अधिकार के इर्दगिर्द इकट्ठे होकर अपना एक समूह बना लेते हैं और विशिष्ट या मिश्रित प्रकार के व्यक्तिगत मस्तिष्कों को प्रंसूत करते हैं जिनको शिक्षित करना ही शिक्षकों का अंतिम ध्येय है। . . .शिक्षकों के रूप में हमें उन विद्यार्थियों की व्यक्तिगत भिन्नताओं को समझने के लिये, जिनकी शिक्षा का दायित्व हमें सौंपा गया है, जितना भी परिश्रम करना पड़े वह थोड़ा ही होगा। प्रत्येक विद्यार्थी के मस्तिष्क को एक ही तरीके से बढ़ाने और विकसित कराने में हम सफल नहीं हो सकते। शिक्षा प्रक्रिया का स्वयंसिद्ध मूलभूत सिद्धांत, कैर्सेस्टाइनर के शब्दों में, यह है कि, 'व्यक्ति की शिक्षा केवल उन्हीं सांस्कृतिक पदार्थों के माध्यम से संभव है जिसका मानसिक गठन उस व्यक्ति के

जीवन-स्वरूप के विकास की अवस्था के लिये पूर्णतया या कम-से-कम आंशिक रूप से समुचित है।' सैद्धांतिक प्रकार के मस्तिष्क में अपने समूह की या समूची मानवजाति की सांस्कृतिक विरासत केवल वैज्ञानिक पदार्थों के ही द्वार-पथ से होकर घुस सकेगी। किसी क्रियाशील, यंत्रपरक मस्तिष्क वाले लड़के के अनिच्छुक चित्त पर यदि आप चिंतन शील अथवा सौंदर्यपरक प्रकार की सामग्री थोपना चाहेंगे तो उसके सांस्कृतिक जीवन का द्वार बंद ही रह जाएगा। उसके लिये वह द्वार मुख्यतः यांत्रिक पदार्थों की चाभी से खुलेगा और यांत्रिक पदार्थों के साथ परिचय बढ़ाने से। इस विधि से अपने मस्तिष्क का पूरा विकास करके ही वह अंत में अन्य सांस्कृतिक सामग्री का भी उपयोग कर सकेगा. . .

''. . .शिक्षा-प्रक्रिया संबंधी यह दृष्टिकोण यदि सही है, जैसा कि मैं समझता हूं, तो हमें अपनी शिक्षा पद्धति को पूरी तरह और नए ढंग से व्यवस्थित करना होगा; हमारे पाठ्यक्रम जिस सैद्धांतिक शिक्षा-सामग्री के एकपक्षीय प्राचुर्य के बोझ से दबे हुए हैं उसे तो निश्चित रूप से हलका करना ही होगा। मस्तिष्क का वास्तिविक संस्कार करने की जगह, आत्मसात् न हो पाने वाली जानकारी को ही उसमें ठूंसते रहने के अपने अतिरंजित विचारों को हमें बदलना ही होगा। हमें यह देखना होगा कि शिक्षा संबंधी विषयों के चुनाव और उसके आयोजन में तथा उनमें से किसको कितना अधिक महत्व दिया जाए यह निर्धारित करने मे स्कूल उन बच्चों के मानसिक गठन पर भी पर्याप्त ध्यान देता है या नहीं जिन्हें वह शिक्षित करना चाहता है। अपनी प्रारंभिक पाठ्यशालाओं में हमें उस प्रकार की क्रियाओं के विकास के लिये पर्याप्त व्यवस्था करनी पड़ेगी जो सभी स्वस्थ बच्चो में विशिष्ट रूप से पाई जाती है, और पढ़ने-लिखने तथा गणना करने की भी प्रक्रियाओं का हाथ के कामों के साथ खासा मेल बिठाकर उन्हें ज्यादा आसान और ज्यादा कारगर बनाना होगा। स्कूलों में हमें अपने विद्यार्थियों की अहर्ताओं को बड़े ध्यान से देखते रहना होगा, और उनके मानसिक गठन का पता चल जाने पर, उन्हें तीन में से किसी एक प्रकार के उच्च विद्यालय में भेजना होगा जिसका संगठन साथ-साथ ही होना चाहिए : गणित के, और प्राकृतिक विज्ञानों के, उच्च विद्यालय और यांत्रिक कार्य के उच्च विद्यालय। इन सभी उच्च विद्यालयों को हमें व्यावसायिक विद्यालय बना देना होगा, क्योंकि विद्यार्थी शिक्षा से व्यावसायिक शिक्षा की ओर न अग्रसर होकर, व्यावसायिक शिक्षा से ही आम शिक्षा की ओर अग्रसर होंगे। आम शिक्षा, यानी संपूर्ण मनुष्य का संस्कार, तब तक असंभव है जब तक कि मस्तिष्क के उस भाग का विकास नहीं होता जो उसके विशिष्ट रूप को उभारने वाला है।..

''मगर सबसे बड़ी आवश्यकता तो इस बात की है कि सारी शिक्षा पद्धति में, ऊपर से नीचे तक, दो परिवर्तन लागू किये जाएं। इनमें से पहला है हमारी शिक्षा की समूची दिशा का ही परिवर्तन। यदि, जैसा कि हम देख ही चुके हैं, व्यक्ति के मस्तिष्क को उसके गठन के लिये उपयुक्त सांस्कृतिक सामग्री द्वारा ही शिक्षित किया जा सकता है, तो यह स्पष्ट है कि वह जिस संप्रदाय का व्यक्ति है, जिस संप्रदाय में उसका जन्म और लालनपालन हुआ है, उसी की सांस्कृतिक सामग्री उसके विकास और संस्कार की सर्वोत्तम माध्यम बन सकेगी।

अपनी संपूर्ण शिक्षा व्यवस्था का भारतीयकरण करना अत्यंत आवश्यक है। अपने नौजवानों को उन तथाकथित शिक्षित लोगों की पंक्ति में अब हम नहीं खड़े होने देंगे जो अपनी ही कला के सौंदर्य के प्रति अंधे, अपने ही संगीत के स्वरमाधुर्य के प्रति बहरे, अपनी ही भाषा और अपने साहित्य से ही शर्मिंदा हैं, और जिनके लिये अपना सब-कुछ ही क्षुद्र और हेय और विदेशी सब कुछ ही उच्च और भव्य है। शिक्षा को इस तरह बदल देना जरूरी है कि नौजवानों के लिये यह असंभव बना दिया जाए कि वे अपने ही देश में विदेशियों जैसी जिंदगी बिताएं, न अपनी जबान में बोलने लायक बन पाएं और न अपने विचारों के आधार पर सोच पाएं; जैसा कि कवि ने कहा है, उधार ली हुई बातें उनके ओठों पर हों और दिल में उधार ली हुई आकांक्षाएं।

''दूसरा काम यह करना होगा कि स्कूलों को चरित्र निर्माण का साधन बनाने में कोई कसर न उठा रखी जाए। शिक्षा के विषयों को बदल डालने से, और शिक्षा के साधनों के रुप में विदेशों से थोपी जाने वाली सामग्री की जगह पर अपनी ही सांस्कृतिक सामग्री को रख देने भर से, कुछ ज्यादा लाभ नहीं होने वाला है। कारण, सांस्कृतिक मूल्यों की जानकारी भर काफी नहीं है; हमारी शिक्षा संस्थाओं को इस बात के अवसर भी प्रदान करने होंगे की जो सिखाया जा रहा है उस पर अमल भी हो। विद्यार्थियों को स्वच्छंद क्रियाकलाप के व्यापक से व्यापक कार्यक्षेत्र देकर उन्हें संकल्प शक्ति को दृढ़ करने के अवसर प्रदान करने होंगे, अपने काम को संपूर्णता के साथ करने के लिए उद्योगशीलता, धैर्य, अध्यवसाय और निष्ठा जैसे उसके स्थित्यात्मक रूपों को, और नैतिक साहस तथा व्यावहारिक कदम उठाने जैसे उसके गत्यात्मक रूपों को दृढ़ करने के अवसर। सिर्फ किताबी पढ़ाई के केंद्रों से बदलकर हमें अपनी संस्थाओं को ऐसे सहयोगात्मक क्रियाकलाप के केंद्रों का रूप दे डालने के कठिन कार्य में जुट जाना पड़ेगा जहां हमारे देश के बच्चों और नौजवानों के अंदर सामाजिक और राजनीतिक उत्तरदायित्व की भावनाएं उत्पन्न की जा सकेंगी।. . .वक्त आ चुका है कि शिक्षा के क्षेत्र में हमारे प्रयास व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय अस्तित्व के अधिक शिक्षाप्रद आदर्शों को सामने रखने के लिये हों : न्याय और ईमानदारी के आदर्श, उस संपूर्ण की, जिसके कि हम अंगमात्र हैं, भलाई के लिये सेवा करने के आदर्श, राष्ट्रीय भाईचारे के आदर्श, सहकारी उद्यम के आदर्श, जो हमारे ऐसे नौजवानों के सामने रहे जो शरीर और मस्तिष्क दोनों से स्वस्थ हैं, जिनकी संकल्प शक्ति सधी हुई और दृढ़ है, भावनाएं परिष्कृत, सच्ची और निष्कपट हैं, और फिर भी जो उदार और सहिष्णु हैं। जो विश्वासपूर्ण भी हैं विश्वसनीय भी। इसी लक्ष्य को सामने रखकर हमें पूरी लगन के साथ अपनी शिक्षा संस्थाओं को व्यक्तिगत स्वार्थसाधन के स्थानों की जगह सामाजिक ध्येयों के प्रति समर्पित स्थानों में, सैद्धांतिक बौद्धिक एकांगिता के स्थानों की जगह व्यावहारिक, मानवोचित बहुमुखी स्थानों में, केवल विद्यासंग्रह के केंद्रों की जगह उसके उचित उपयोग वाले केंद्रों में बदल डालने, के काम में जुट जाना पड़ेगा।

''आप शायद पूछना चाहें, 'मगर यह सब करेगा कौन ?' मेरा जवाब होगा, सभी को

यह काम करना होगा।. . .हमारे शिक्षा कार्य का स्तर और भी ऊंचा उठाने और उसकी परिधि का विस्तार करने के लिए सरकार और जनता दोनों को ही अपनी शक्ति भर सब कुछ करना होगा।''

डा. ज़ाकिर हुसैन के परवर्ती अभिभाषणों और भाषणों की परीक्षा करने पर हम पाते हैं कि जिन विचारों को यहां व्यक्त किया गया है उन्हें वह बराबर ही दोहराते रहे, मगर मेरा ख्याल है कि पिछले चार दशकों की भारतीय शिक्षा का इतिहासकार यही देखेगा कि वे न तो प्रचलित व्यवस्था के विरुद्ध अपने लिये कोई खास स्थान बना सके, और न उन अन्य विचारों के विरुद्ध ही, जो कि इस व्यवस्था के अंतर्गत ही स्थान बनाना चाह रहे थे। मेरा यह भी ख्याल है कि अगर डा. ज़ाकिर हुसैन को परिस्थितियों के और अपनी प्रकृति की भी ओजस्विता के फलस्वरूप उस फारसी सूक्ति पर अमल करने पर मौका मिल पाता जिसे वह अक्सर सुनाते रहते थे और जिसका अनुवाद यह है कि ''एक चीज पकड़ लो और फिर उसे पकड़े ही रहो,'' यानी, अगर वह एक संस्था में भी अपने विचारों को व्यावहारिक रूप देने के लिए समय और शक्ति दे पाते, तो उसका क्रांतिकारी परिणाम सामने आता। हमारे बाजारों में जो सामान दिखाई देता है उसकी यदि सौंदर्यपरक दृष्टि से बारीकी के साथ और लगातार जांच की जाती तो हमारे अंदर सुंदर-असुंदर के बीच भेद करने की इच्छा जगती, और हमारे घरों के अंदर ऐसी चीजों का अभाव दिखाई नहीं देता—जैसा कि अधिकांशतः आज दिखाई देता है-जो आंखों को अच्छी मालूम होती। हमारे हस्तशिल्पी पढ़े-लिखे लोग होते जो अपनी विचार शक्ति से काम लेते; वे आंख मूंद कर रूढ़ियों का ही अनुसरण न करते रहते और नकल करने की हर सनक के पीछे गुलामों की तरह न दौड़ पड़ते। तब लोग अपने धंधे के प्रति समर्पित होते, और उसके आदर्शों पर चलने में गर्व अनुभव करते, न कि सिर्फ रोजगार की तलाश रहती, जहां कर्त्तव्यनिष्ठा की भावना आंखों से ओझल हो जाती है और उसकी जगह ले लेती है मजदूरी। बुद्धिजीवी और साहित्यिक लोग अपने ही मस्तिष्क की उर्वरता के बल पर आगे बढ़ते और प्रेरणा के लिये विदेशों की ओर न ताकते। आज की तरह तब हम इतनी आसानी से यह न कहते की पाश्चात्य शिक्षा ने और अस्तव्यस्त रूप में किए गए शिल्पीय परिवर्तनों ने पुराने नमूनों (पैटर्नों) को बेकार कर दिया है, और उनका स्थान ऐसे नमूने नहीं ले पाए हैं जो आत्माभिव्यक्ति के अच्छे और वांछनीय रूप हैं। शिक्षा तब हमें अपने अतीत के पुनर्मूल्यांकन और प्रतिमानों का निर्धारण कर तथा प्रेरक शक्ति उत्पन्न कर, अपने वर्तमान के पुनर्निर्माण की ओर भी ले जाती।

ऐसा कुछ भी नहीं हुआ है। शायद हो भी नहीं सकता था। क्योंकि ऐसे शिक्षक ही हमें कहां मिलते जो रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजों को चुनकर उनकी उत्पत्ति की, उनके प्रकारों की, और इस बात की व्याख्या करते कि वे मस्तिष्क, क्रिया और रूप के बीच के पारस्परिक संबंध के ही मूर्त्त रूप हैं; ऐसे शिक्षक जिनका सौंदर्यबोध इतना सूक्ष्म हो कि मामूली चीजों का भी सौंदर्य वे उद्घाटित कर सकें; ऐसे शिक्षक जो मनुष्यों और संस्थाओं को समझ सकें और इतने प्रबुद्ध और वस्तुनिष्ठ हों कि मानव इतिहास के आलोक में उन

पर विचार कर सकें ? डा. ज़ाकिर हुसैन के लिए प्रारंभिक मसौदे तैयार करते वक्त मुझे उनसे बार-बार यह पूछ बैठना जरूरी लगता था कि वह जरा यह समझाएं तो कि दरअसल उनका मतलब क्या है; बाद को मैंने केर्शेंस्टाइनर का 'कंसेप्ट आफ दि वर्क स्कूल' (कार्य-विद्यालय की परिकल्पना) पढ़ा । मैंने खुद रोजमर्रा के इस्तेमाल की चीजें बनाने वालों के दिमागों को 'पढ़ने' के और यह पता लगाने के प्रयोग शुरू किये कि मेरे सहयोगियों और मित्रों में से कितने हैं जिनकी उन मस्तिष्क को 'पढ़ने' में जिन्होंने कि उन चीजों को मूर्त्त रूप दिया है दिलचस्पी अथवा उसकी क्षमता है । मुझे इस नतीजे पर पहुंचना पड़ा कि वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ संस्कृति को शिक्षा का एक माध्यम बनाने के विचार को किसी पद्धति का रूप नहीं दिया जा सकता ; उसका तो निरंतर चलती रहने वाली स्वशिक्षा के ही किसी सिलसिले में अनुभव हो सकता है, और दूसरों में से भी उन्हीं तक उसे पहुंचाया जा सकता है जो स्वयं भी स्वशिक्षा में लगे हों ।

इसका मतलब यह नहीं कि स्कूलों में इस पर काम होने पर इसका जितना अधिक महत्व होता, उसके मुकाबले इसका महत्व कम है अथवा उसके मुकाबले इसका प्रभावक्षेत्र निश्चित रूप से संकीर्ण हो जाता है । डा. ज़ाकिर हुसैन की दिलचस्पी अगर शिक्षा संबंधी किसी खास पद्धति में ही होती तो हम यही उम्मीद करते कि किसी स्कूल में उसे लागू करके वह उसका महत्व सिद्ध करते ; लेकिन इस पद्धति का महत्व सिर्फ शिक्षा के क्षेत्र में सुधार करने की नहीं, बल्कि मुख्यतः उन सामाजिक और नैतिक लक्ष्यों की दृष्टि से है जिन तक अंत में पहुंचना है, और जिसमें समाज के उद्देश्यों और आदर्शों का समावेश है । छह या सात साल की उम्र से अगर आयोजित और अर्थगर्भित क्रियाओं के माध्यम से शिक्षा दी जाए, तेरह या चौदह साल की उम्र में अगर पेशे का सही चुनाव कर दिया जाए, और उस पेशे की जरूरतों के हिसाब से आगे की शिक्षा के ही अवसर दिये जाए, तो जो समाज इन पद्धतियों के अनुसार और इन उद्देश्यों को सामने रखकर शिक्षा की व्यवस्था करता है उसके अंदर नई जान आती रहेगी और वह लगातार स्वतः ही अपनी उन्नति करता चलेगा । लेकिन जब तक राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों के बीच एक अनुकूल और स्थायी संयोजन नहीं होता तब तक ऐसी पद्धति केवल एक आदर्श के रूप में रही आएगी । केर्शेंस्टाइनर के शिक्षा संबंधी सुधारों को, जहां तक उनके नैतिक उद्देश्यों का संबंध है, नाजी क्रांति ने चौपट कर डाला था; संयुक्त राज्य अमेरिका में बच्चों को निरंतर उन्नत होती रहने वाली सांस्कृतिक सामग्री के निकट संपर्क में लाकर एक औद्योगिक समाज की आवश्यकताओं और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच जो तालमेल बिठाया गया उसके फलस्वरूप व्यक्ति को अधिक स्वाधीनता और स्वायत्तता नहीं मिल पाई है । भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में जो परिवर्तन होते आए हैं उनके हम कितने ही बड़े आलोचक क्यों न हों, लेकिन स्वाधीन भारत की सरकार को जिन प्रचंड कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था उनकी कट्टर सिद्धांतवादियों को छोड़ और कोई भी अवहेलना नहीं कर सकता । लेकिन आयोजित और अर्थगर्भित कार्य के माध्यम से स्वशिक्षा हर ऐसे व्यक्ति के लिए सदा संभव रही है और

रहेगी, जो कि आवश्यक आत्मानुशासन का पालन करने को तैयार है।

मुझे यह स्वीकार करना ही होगा कि जिस जमाने में डा. ज़ाकिर हुसैन के साथ मेरा निकट सहयोग रहा, अक्सर मेरी राय एकांगी और आत्मपरक रही। मैं जानना चाहता था कि उनकी अपनी दिनचर्या इतनी ज्यादा ढीलीढाली क्यों है कि जबकि दूसरी ओर वह आयोजित रूप मे काम करने पर इतना जोर देते हैं, वह खुद इतनी सारी चीजों में क्यों फंसे रहते हैं जबकि दूसरों को यह सलाह देते रहते हैं कि 'एक बात को पकड़ लो, और फिर उसी को बराबर पकड़े रहो; और सबसे बड़ी बात यह, कि जब इतना सारा काम करने को पड़ा है तब वह इस हद तक शिष्टाचार के बस में क्यों आ जाते हैं कि वह हर ऐरे-गैरे के लिए खुला और आम नियंत्रण-सा बन जाता है कि वे आए और उनका वक्त बरबाद करें। अब मुझे लगता है कि मेरी ही दृष्टि उलटी थी। मुझे समझना चाहिए था कि जो पद्धतियां शिक्षा और शिक्षित व्यक्तियो के बारे में डा. ज़ाकिर हुसैन के आदर्श की बुनियाद थी वे हमें उस 'स्थिति' या 'अवस्था' की ओर ले जाने वाली हैं जहां हम अपने लिए कुछ नहीं चाहते और एक रहस्यपूर्ण तरीके से हम परिस्थितियों द्वारा आरोपित कामों को स्वतःस्वीकार कर्त्तव्यों के रूप में पूरा करने में लग जाते हैं। यह स्थिति या अवस्था हमारे रक्त मांस को किसी ऐसे यंत्र का रूप नहीं देती जो निर्धारित काम को अपने आप करता चला जाए, और न मनुष्य को सारी मानवीय दुर्बलताओं से ही ऊपर उठा देती है। और यह बात खासतौर से तब याद रखनी होगी जब हम ऐसे किसी व्यक्ति पर विचार कर रहे हों जो उपदेशक नहीं शिक्षक है, और जिसके लिए सिर्फ उतनी शिक्षा तक ही अपने को सीमित रखना संभव नहीं जितने पर वह खुद भी अमल करता हो। उसे तो उनकी विफलताओं और पराजयों के दर्द में भी हिस्सा बंटाना होता है, और हर विफलता के बाद एक नए प्रयत्न के लिए तैयार करने में।

पर मैं इतना ज्यादा भी नहीं भटक गया था कि डा. ज़ाकिर हुसैन की जीवन पद्धति को भी उलटी ही दृष्टि से देखता। मैं देखता था कि जहां योजना बनाकर चलना आवश्यक और संभव होता था वहां वह योजना बनाकर ही काम करते थे, और संयोगों के लिए कम-से-कम गुंजाइश छोड़ते थे। जब कभी कोई समारोह करना होता था, वह उसकी पूरी तफसील में जाते थे। जब कभी उन्हें किसी महत्वपूर्ण व्यक्ति से मिलना होता था, सारी बातचीत वह तैयार कर लेते थे। हर तरह के सवालों का जवाब उनके पास पहले से तैयार रहता था। बातचीत में लड़खड़ा जाने या किसी शब्द के छूट जाने का उन्हें इतना डर बना रहता था कि अपने लिखित भाषणों का वह बड़ी सावधानी से अभ्यास करके जाते थे। इसमें संदेह नहीं कि लिखने के लिए बैठने का शारीरिक काम न जाने क्यों उन्हें बेहद नापसंद था। लेकिन जो कुछ उन्हें लिखना होता था उसकी वह शुरू से आखिर तक की पूरी योजना बना डालते थे, चाहे वह कोई रेडियो वार्ता हो या कोई विद्वतापूर्ण व्याख्या। दिमाग में सारा मसाला बिलकुल सिलसिलेवार तैयार रहता था, मगर लिखते वक्त वह बेचैन रहते थे। मेरे जैसे लोगों को, जो कि वक्त पर ही लिखने बैठ जाते हैं और वक्त पर ही

पूरा कर देते हैं, लेकिन जिनका सोचना भी लिखने के साथ ही साथ चलता रहता है वह 'हैवाने-कातिब' कहा करते थे, यानी, लिखने वाला हैवान। जब तक भी संभव हो, लिखने के काम को टालते चले जाने का उनका तरीका कोई गलत तरीका है, यह मेरा मतलब नहीं है; इसका जिक्र मानव-वैचित्र्य के संदर्भ में होना चाहिए।[1]

भारतीय संस्कृति के भौतिक पदार्थों के प्रति उनके रसबोध को व्यक्त करने वाली कोई भी चीज बरसों तक न उनके दफ्तर में ही देखने को मिली और न उनके घर पर ही, सिवा जामिया प्राइमरी स्कूल के एक उस्ताद अली मुहम्मद खां के हाथ की रोशन खुशनवीसी के कुछ बहुत ही आला नमूनों के, क्योंकि उस्ताद अली मुहम्मद खां इस कला में भी बड़े माहिर थे। उनकी प्रारंभिक उत्कृष्ट कलाकृतियों की फोटो प्रतियां भी उन्होंने कराई थीं, लेकिन सजावट के तौर पर उनका इस्तेमाल इसलिए नहीं किया जा सका कि उन्हें फ्रेम में मढ़ने के लिए कभी रुपया नहीं हो पाया। डा. ज़ाकिर हुसैन अपने घरेलू संग्रह के लिए कुछ खरीदने की बात तब तक सोच भी नहीं सकते थे जब तक कि घर गृहस्थी की आयोजित अर्थव्यवस्था के अंदर उसकी गुंजाइश न निकाली जा सके। जो भी कुछ वह बचा पाए, बड़ी बेटी सईदा के ब्याह के साथ भेजे जाने वाले साज-सामान के लिए जोड़-जोड़कर रखा गया, यह कार्य उसके विवाह की उम्र आने से बहुत पहले से ही शुरू कर दिया गया था। कला वस्तुओं का उनका प्रथम संग्रह था बांस की छड़ियां। जब मुझे इनके शुरू वाले नमूने

---

[1]एक बार, जब जामिया मिल्लिया करौलबाग में ही था, मैंने शाम को बाजार से कुछ सामान खरीदने के लिए स्टाफ-कार मांग ली। मैं और मेरी पत्नी रवाना होने को ही थे, कि डा. ज़ाकिर हुसैन आ पहुंचे और, अगर हमें एतराज न हो तो, साथ बैठ जाने की इजाजत मांगी। हमें तो खुशी ही हुई कि उनका साथ रहेगा। जब करीब दो घंटे बाद हम लोग घर लौटे तो उन्होंने मेरी ओर घूमकर देखा, और पूछा, "जानते हो, तुम्हारे साथ क्यों गया था?" "आपको भी कुछ खरीदना था, न?" "नहीं। मुझे कुछ खरीदना नहीं रहता। मैं सिर्फ इसलिए यहां से रिहाई चाहता था कि मेरा कुछ बहुत जरूरी लिखना बाकी था।" उनकी आवाज मे एक तीखापन था जिससे साफ था कि उनके अंदर कोई द्वंद्व छिड़ा हुआ था, और इस बात से वह जरा भी खुश नहीं थे कि लिखने से बचने की इच्छा उन पर हावी हो गई थी। उसके बाद बहुत देर रात तक जागकर उन्होंने अपनी वह वार्ता लिखकर पूरी की।

उनकी बेटी सईदा ने मुझे बताया है कि कभी-कभी वह उसके साथ बातचीत या बहस करने लग जाते थे, और कुछ देर बाद उससे पूछ बैठते थे कि क्या उसे पता है कि उन्होंने उसका वक्त क्यों बरबाद किया। "बात यह है कि मुझे एक बहुत जरूरी चीज लिखनी है।"

इन दिनों की उनकी लिखाई का अधिकांश काम बिस्तर पर ही बैठे-बैठे होता था और मेज की जगह वह तकिये का इस्तेमाल करते थे। मैं बरसों तक कोशिश करता रहा कि अपने दफ्तर में वह कुरसी रखें और सही किस्म की मेज पर लिखा करें, पर वह राजी ही नहीं हुए। आखिरकार, जब वह किसी काम से दिल्ली से बाहर गए हुए थे, उनकी दरी और नीची डैस्क को हटाकर उनकी जगह एक मेज रख ही दी गई। मगर उन्हें यह पसंद नहीं आया।

दिखाए गए और मैंने जानना चाहा कि उन्हें उनमें क्या खूबी नजर आई, तो उन्होंने मुझे बताया कि इन छड़ियों की खूबी इस बात में होती है कि वे किस क्रम से पतली होती गई हैं, उनकी गांठें कितने फासलों पर हैं, वे कितनी वजनी हैं और एक अरसे से सरसों के तेल की मालिश करते रहने के बाद उनका रंग कितना गहरा हो चुका है। उनका अगला संग्रह खुशनवीसी का था। जहां-तहां से अपनी औकात के हिसाब से खरीद ली गई कुछ चीजें भी थीं। मुझे एक पीतल के प्याले की याद है जो उन्हें बहुत पसंद था। उसकी शक्ल बड़ी खूबसूरत थी, और जब मैंने यह आपत्ति की कि किनारे अंदर कि ओर मुड़े होने की वजह से इसका इस्तेमाल कुछ सुविधाजनक नहीं है तो वह जरा चक्कर में पड़ गए। तब तक वह जामिया में रहे, आर्थिक तंगी की वजह से वह अपनी सौंदर्यपरक रुचि को तृप्त नहीं कर पाए। लेकिन जब उनके पास फालतू पैसा हो गया तब भी वह सस्ती और सीधीसादी चीजों के सौंदर्य की ही तलाश में रहते थे।

शिक्षाविद के नाते डा. ज़ाकिर हुसैन की जिंदगी की दुखदायी बात यही थी कि उनकी ओजस्विता और गतिशीलता के प्रति, आयोजन, सूक्ष्मता और उत्कृष्टता के लिए प्रचंड आसक्ति के प्रति, उनके सामाजिक परिवेश की प्रतिक्रिया विषम ही रही। जामिया मिल्लिया के उनके सहयोगी धीरे-धीरे यह महसूस करने लग गए की उन्हें संतुष्ट कर पाना असंभव है। वह जरूरत से ज्यादा बेचैन हैं, जरूरत से ज्यादा उम्मीद कर बैठे हैं। वे यह भी जानते थे कि उनके बिना उनका काम नहीं चल सकता। इसलिए अधिकांश ने तो यही आसान तरीका अख्तियार कर लिया कि कुछ बहस के बाद, या बिना बहस किये ही, हमेशा उनकी बात मान लो, वह उनसे जो कराना चाहते हैं उसे मन मार कर ढीले-ढाले ढंग से करते चलो, और फिर अपनी कमजोरियों को छिपाने के लिए कोई ऐसी कठिनाई सामने रख दो, जिसकी सच्चाई से आमतौर पर इंकार न किया जा सके। प्रारंभिक स्कूल में प्रयोजना-प्रणाली और माध्यमिक स्कूल में दस्तकार्य पद्धति में कुछ ही वर्षों के बाद ढिलाई आ गई; शिक्षक-विद्यालय में बड़े जोशखरोस के साथ दस्तकारियों के जरिये शिक्षा देने का जो काम शुरू किया गया उसमें एक भी शिक्षक ऐसा नहीं था जो उसका एक बाहरी ढांचा खड़ा करने से कुछ ज्यादा आगे बढ़ सकता था। ओखला वाले प्रारंभिक स्कूल के बागीचे की पहली योजना किसी ऐसे व्यक्ति ने बनाई थी जो समझता था कि वह डा. ज़ाकिर हुसैन से ज्यादा बागबानी जानता है। 1943-44 में शुरू की गई कितनी ही परियोजनाएं जबकि रुपयों की उतनी तंगी नहीं थी, अयोग्यता के कारण अथवा दिलचस्पी की कमी की वजह से विफल हो गईं। फकीरा माली ही अकेला आदमी निकला जिसके तोर तरीके और काम से डा. ज़ाकिर हुसैन खुश और प्रभावित जान पड़े, और एक बार तो कह उठे कि अगर उनके वश में होता तो वह फकीरा को ही अपना वारिस बना जाते। जामिया वाली जमात ने इस बात को अपनी आलोचना न समझ यही माना कि अपनी आदत के मुताबिक डा. ज़ाकिर हुसैन ने एक और फुलझड़ी छोड़ी है।

जामिया के काम के बारे में उनका अपना मूल्यांकन आमतौर पर प्रेक्षकों की राय के

साथ मेल नहीं खाता था जो कि जामिया की जमात को ऐसे शिक्षकों और कार्यकर्ताओं की एक सजीव, तत्पर और समर्पित संस्था के रूप में देखते थे जो शिक्षा और संस्कृति के ऊंचे, परंपरागत आदर्श को कायम कर रहे हैं। उनका अपना मूल्यांकन अवसर के अनुसार बदलता रहता था, क्योंकि जब कोई असाधारण काम आ जाता था तब जामिया के लोग पीछे नहीं रहते थे। लेकिन, जैसा कि वह अक्सर कहते रहते थे, शिक्षा के काम में तेजी की भी जरूरत है और अध्यवसाय एवं दृढ़ता की भी। जामिया के लोगों में तेजी तो काफी मात्रा में आ जाया करती थी, लेकिन डटे रहने की क्षमता नहीं थी।

जामिया मिल्लिया के सीमित क्षेत्र से बाहर निकलकर भी ज़ाकिर हुसैन को कुछ अधिक अच्छे परिणाम देखने को नहीं मिले। आराम के मौके जैसे-जैसे बढ़ते जान पड़े वैसे-वैसे उनकी व्यथा और भी गहरी होती गई।

5. बुनियादी तालीम का साहसपूर्ण कदम

डा. ज़ाकिर हुसैन की जिंदगी का सिलसिला गांधी जी द्वारा छेड़े गए और उनके द्वारा प्रेरित सरकारी स्कूल-कालेजों के बहिष्कार आंदोलन के फलस्वरूप जामिया मिल्लिया की स्थापना से शुरू होता है और दूसरा दौर 22 अक्टूबर 1937 को वर्धा में आयोजित उस सम्मेलन में भाग लेने से जो देहातों के लिए निःशुल्क, अनिवार्य और स्वावलंबी शिक्षा की गांधी जी की योजना पर विचार करने के लिए बुलाया गया था। मुझे हाल ही में गुजरात के राज्यपाल श्रीमन्नारायण से, जो उन दिनों मारवाड़ी शिक्षा समिति के सचिव और इस सम्मेलन के आयोजक थे, पता चला कि डा. ज़ाकिर हुसैन का नाम आमंत्रितों की मूल सूची में था ही नहीं, और उन्हीं के सुझाव पर डा. आबिद हुसैन के और मेरे नामों के साथ-साथ बढ़ाया गया था। मै तो सिर्फ इसलिये गया कि बुलाया गया था; लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन वर्धा के रास्ते भर इसी विचार में लीन जान पड़े कि इस अवसर का क्या उपयोग किया जा सकता है, और वह जोखिम भरा कदम उठाने के लिए उत्सुक थे।

'हरिजन' के एक अंक में, जो सम्मेलन के बीस दिन पहले निकला था, गांधी जी ने लिखा था :

"1920 में वर्तमान शिक्षा प्रणाली के विरुद्ध जोरदार आवाज उठाने के बाद आज जब इस बात का मौका मिला है कि सात कांग्रेसी प्रांतों के मंत्रियों को, कितनी भी कम मात्रा में क्यों न हो, प्रभावित किया जा सकता है. . .तो इस आरोप को सही साबित कर दिखाने की एक अनिवार्य चुनौती सी मेरे सामने आ गई है कि आज की शिक्षापद्धति ऊपर से नीचे तक बुनियादी तौर पर गलत है। ओर इन स्तंभों में जो बात ठीक-ठीक नहीं कह पा रहा था वह अचानक मेरे दिमाग में कौंध गई, और उसकी सच्चाई दिन पर दिन मेरे अंदर जमती जा रही है। इसलिए इस देश के शिक्षाविदों से मैं यह कहने का साहस कर रहा हूं. . . कि वे मेरे दो सुझावों पर विचार करें, और ऐसा करते वक्त वर्तमान शिक्षाप्रणाली संबंधी अपनी पिछली धारणाओं और पक्के विचारों को थोड़ी देर के लिए भूल कर अपनी बुद्धि के प्रवाह को अबाध गति से बहने दें. . .

"1. आज जिसे प्रारंभिक, माध्यमिक और उच्च स्कूलों की शिक्षा कह कर चलाया जा

रहा है उसका स्थान सात या उससे भी अधिक वर्षों की ऐसी शिक्षा ले, जिसमें प्रवेशिका (मैट्रिक) के स्तर तक के, अंग्रेजी को छोड़, बाकी सभी विषय तो रहें ही, साथ ही कोई एक ऐसा धंधा रहे जो ज्ञान के सभी विभागों में लड़के लड़कियों के चित्त को ले जाने का माध्यम बन जा सके।

"2. कुल मिला कर इस तरह की शिक्षा स्वावलंबी बन सकती है और ऐसा करना ही होगा; सच पूछा जाय तो उसकी यथार्थता की खरी परीक्षा इसी तरह के स्वावलंबन में ही है।"[1]

'हरिजन' के उसी अंक में गांधी जी ने स्वावलंबन के अपने उसी विचार को यह कहते हुए कुछ और आगे बढ़ाया कि उन धंधों के जरिए विद्यार्थी अपनी ही मेहनत से अपना शिक्षाशुल्क देने योग्य बना दिए जा सकते हैं। जिन धंधों या पेशों को आसानी से सीखा और अमल में लाया जा सकता है उनमें उन्होंने जिन-जिन का उल्लेख किया वह थे "कपास, ऊन और रेशम की सारी शिल्प-प्रक्रियाएं. . बुनाई, कशीदाकारी, दर्जी का काम, कागज बनाना, कटाई, जिल्दसाजी, खिलौने बनाना, लकड़ी का बारीक काम, गुड़ बनाना।"[2] सम्मेलन में भी गांधी जी ने कहा कि यों वह सुझाव मिलने पर और भी किसी दूसरी दस्तकारी की बात विचार कर सकते हैं, "लेकिन मुझे विश्वास है कि तकली हमारी समस्या का एक मात्र समाधान है, क्योंकि हमारी देश की स्थिति बहुत ही शोचनीय है। 1920 से खादी का जो रचनात्मक कार्यक्रम शुरू किया गया उसकी बदौलत सात प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रीमंडल बन पाए हैं, और उन्हें भी उतनी ही मात्रा में सफलता मिलेगी जितनी मात्रा में हम इस रचनात्मक कार्यक्रम पर अमल कर सकेंगे।

"मंत्रियों के सामने मैंने यह योजना रखी है; अब यह उनका काम है कि वे इसे स्वीकार करें या रद्द कर दें। मगर मेरी सलाह यही है कि प्रारंभिक शिक्षा का केंद्र तकली ही हो। पहले साल से सारी शिक्षा का केंद्र तकली के ही जरिए हो; दूसरे साल में दूसरी प्रक्रियाएं भी इसके साथ-साथ सिखाई जा सकती हैं. . ."[3] उसी भाषण में गांधी जी पहले यह भी कह चुके थे :

"उदाहरण स्वरूप, तकली पर कातना सिखाते वक्त, हमें कपास की विभिन्न किस्मों, भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों की अलग-अलग मिट्टियों, दस्तकारी के ह्रास के इतिहास, उसके राजनीतिक कारणों, जिसमें भारत में अंग्रेजी शासन का इतिहास भी आ जाता है, कुछ अंकगणित, आदि, आदि बातों की भी पूरी जानकारी देने होगी।"[4]

---

[1] 'एजुकेशनल रिकंस्ट्रक्शन (शैक्षिक पुनर्निर्माण), हिंदुस्तानी तालीम संघ, सेवाग्राम, वर्धा, छठा संस्करण, 1956, पृ. 27-28।

[2] वही - पृ. 31

[3] वही– पृ. 49।

[4] वही – पृ. 48-49।

किसी भावावेश पूर्ण वातावरण के प्रति संवेदनशील कोई भी व्यक्ति यह देख सकता है कि श्रोतामंडली में जो लोग सिद्धांत तथा व्यवहार में गांधी जी के अनुयायी होने का दम भरते थे वे उनके व्यक्तित्व के चमत्कार से अत्यंत प्रभावित हो उठे थे, और गांधी जी स्वयं तकली के चमत्कार से । गांधी जी के भाषण से कोई यथार्थवादी यही निष्कर्ष निकालता कि उनकी प्रस्तावित शिक्षाप्रणाली ग्रामाद्योगों को पुनर्जीवित करने के उनके कार्यक्रम के ही एक विस्तार के रूप में थी, और नव निर्मित कांग्रेसी मंत्रिमंडलों से वह इस कार्यक्रम को सरकारी नीति का एक हिस्सा बनाने के लिए कह रहे थे । ऐसा लगने लगा था कि श्रोतामंडली न सिर्फ गांधी जी के विचारों को स्वीकार कर रही है, बल्कि यह मान बैठी है कि वे एक नई ही शिक्षाव्यवस्था के द्योतक हैं । डा. ज़ाकिर हुसैन ने यह सब कुछ देखा, और गांधी जी का भाषण पूरा होते ही उन्होंने इधर-उधर नजर डाली, और इस तरह उठ खड़े हुए मानों किसी चुनौती का जवाब देने जा रहे हों ।

''महात्मा जी का खयाल है कि उन्होंने जो योजना आप लोगों के सामने रखी है वह बिलकुल ही मौलिक है, और यह कि इसे वे ही लोग स्वीकार कर सकते हैं जिनकी अहिंसा और देहाती सभ्यता में आस्था है । लेकिन जो लोग शिक्षा के क्षेत्र में काम करते आ रहे हैं उनके लिए महात्मा जी की यह योजना बिलकुल ही नई नहीं है । वे जानते हैं कि असली शिक्षा काम के जरिए ही दी जा सकती है । वे यह भी जानते हैं कि बच्चों को विभिन्न विषयों की शिक्षा हाथ के काम के जरिए ही दी जा सकती है–भले ही हम देहाती सभ्यता के पक्ष में हों या शहरी सभ्यता के, चाहे हमारी आस्था हिंसा में हो या अहिंसा में ।. . इसलिए अनेक शिक्षाविद हाथों से किए जाने वाले किसी न किसी काम को शिक्षा का केंद्र बनाने की कोशिश करते रहे हैं । अमेरिका में इस पद्धति को प्रायोजनाप्रणाली (प्रौजेक्ट मेथड) कहा जाता है और रूस में जटिल कार्यप्रणाली (कांप्लेक्स मेथड) । अपने बच्चों को हम निश्चय ही तकली और चरखे के या किसी दूसरी उपयुक्त दस्तकारी के जरिए शिक्षा दे सकते हैं ।. . .

'किसी विषय के कुछ पहलू ऐसे भी हो सकते हैं जिन्हें तकली के जरिये नहीं सिखाया जा सकता । क्या उन्हें बिलकुल छोड़ ही देना होगा ? नहीं । इस विषयों को जहां तक संभव होगा, तकली के जरिए ही हम सिखाएंगे । बाकी को हम छोड़ रखेंगे । हमारा सिद्धांत यही रहेगा कि दस्तकारी के जरिए बुद्धि का विकास किया जाए, लेकिन हम उससे बंधे नहीं रहेंगे ।. . .

'शिक्षा के स्वावलंबन संबंधी पहलू के बारे में मैं कुछ शब्द कहना चाहता हूं । शिक्षा के स्वावलंबी बनाने के प्रयोग जहां-जहां भी किए गए हैं उन्हें सफलता नहीं दिलाई जा सकी है । अमेरिका में प्रो. ड्यूई की भी ऐसी ही योजना थी और बड़े उत्साह से लोगों ने उसे लिया था, लेकिन कुछ ही बरसों बाद उन्हें अपना स्कूल बंद कर देना पड़ा । अमेरिका एक समृद्ध देश है जहां न धन की कमी है और न राजकीय सहायता की । अगर वहां यह प्रयोग सफल नहीं हो पाया तो हमारे जैसे गरीब देश में इसकी सफलता की क्या उम्मीद की जाएं ?

"आप कहेंगे कि हमें इसीलिए तो स्वावलंबी स्कूलों की जरूरत है, कि हम गरीब हैं।. . .लेकिन शिक्षा के स्वावलंबन वाले पहलू पर बहुत ज्यादा जोर डालने में एक खतरा भी है। शिक्षक तब लड़कों से पुराने जमाने के गुलामों के मालिकों की तरह काम लेने लग जा सकते हैं और उनके परिश्रम से बेजा फायदा उठा सकते हैं। अगर ऐसा हुआ, तब तो तकली किताबों से भी ज्यादा बुरी साबित होगी। तब हम एक छिपी हुई गुलामी की ही नींव अपने देश में डालेंगे।. . ."[1]

मेरी भी भांति डा. ज़ाकिर हुसैन ने भी आसपास के चेहरों को तमतमाते हुए देखा होगा। गांधी जी के चमत्कार के प्रति उन्होंने संदेह प्रकट किया था : वह उनके जादू में नहीं फंसे थे। श्रीमती आशा देवी ने कहा कि "हमें सभी मानसिक भ्रांतियों का परित्याग कर इस प्रश्न पर एक बिलकुल ही नए दृष्टिकोण से विचार करना होगा, क्योंकि हम यह नहीं भूल सकते कि हम एक नए युग का निर्माण करने जा रहे हैं, एक नई समाज व्यवस्था की स्थापना करने जा रहे हैं, और इसलिए हमें अब तक का सारा सीखा हुआ भुला देना होगा और शिक्षा के 'गुरुकुल' वाले अपने प्राचीन आदर्श को प्राप्त करना होगा, जो पूरी तरह हाथ के काम पर आधारित था।"[2] महादेव देसाई ने कहा कि "स्वावलंबी शिक्षा के विचार को अहिंसा वाली विचारधारा की पृष्टभूमि से अलग नहीं किया जा सकता, और जब तक हमारे मन में यह बात नहीं रहेगी कि इन नई योजना का उद्देश्य एक ऐसे नए युग को लाना है जिसके वर्गभेद की तथा सांप्रदायिक घृणा का अंत कर दिया जाएगा और शोषण के लिए कोई स्थान नहीं रहेगा, तब तक इसे सफल नहीं बना सकते। इसलिए अहिंसा में दृढ़ आस्था रखकर ही हमें यह काम हाथ में लेना चाहिए और यह विश्वास लेना कि यह नई योजना उस मस्तिष्क की उपज है जिसने अहिंसा को सभी बुराइयों की रामबाण दवा माना है।"[3]

इस तरह की बातें कहना यही कहने जैसा था कि डा. ज़ाकिर हुसैन उस दायरे से बाहर वाले हैं, कि गांधी जी की योजना के गूढ़ं तत्त्व की ओर उनका ध्यान जा ही नहीं पाया है, और यह भी कि उन्होंने अश्रद्धा का प्रदर्शन करने जैसा अपराध किया है। पर जान पड़ता है कि गांधी जी स्वयं किसी ऐसे आदमी की ही तलाश में थे जो उनके दिल की असली बातें समझ लेगा और उन्हें स्पष्टता और साहस के साथ सामने लाएगा। और उन्होंने देख लिया कि वह आदमी डा. ज़ाकिर हुसैन हैं, उन्होंने उन्हें संपूर्ण सम्मेलन वाली उस समिति का अध्यक्ष नामजद कर दिया और सम्मेलन के लिए प्रस्ताव तैयार करने का काम उन्हीं के सुपुर्द किया। डा. ज़ाकिर हुसैन ने उस समिति को चार बातों पर राजी करके अपना जौहर

---

[1]एजुकेशनल रिकंस्ट्रक्शन-पृ. 53-55।

[2]वही-पृ. 67।

[3]वही-पृ. 80-81।

दिखलाया, जिन्हें अगले दिन सम्मेलन की भी स्वीकृति मिल गई; केवल प्रो. के. टी. शाह का ही प्रस्ताव पर मतभेद रहा। प्रस्ताव ये थे :

1. इस सम्मेलन की राय में निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा की पूरे राष्ट्रव्यापी स्तर पर सात साल तक के लिए व्यवस्था हो।

2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो।

3. यह सम्मेलन महात्मा गांधी के इस प्रस्ताव का अनुमोदन करता है कि इस पूरी अवधि के ही बीच शिक्षा की प्रक्रिया किसी प्रकार के हाथ के, और उत्पादक, कार्य को केंद्र बना कर होनी चाहिए, और यह कि अन्य जितनी भी योग्यताओं का विकास किया जाए अथवा जितने भी अन्य प्रशिक्षण कार्य हों वे, जहां तक संभव हो, बच्चे के परिवेश का उचित खयाल रख कर चुने गए केंद्रीय हस्तशिल्प के साथ पूर्णतया संबद्ध रहें।

4. यह सम्मेलन आशा करता है कि यह शिक्षा-पद्धति धीरे-धीरे शिक्षकों का पारिश्रमिक देने लायक बन जायगी।

गांधी जी के विचारों को ही इस तरह एक आधुनिक रूप दे दिया गया। हालांकि उनमें कुछ महत्त्वपूर्ण हेरफेर भी कर डाले गए। सम्मेलन के बाद एक पाठ्यक्रम तैयार करने के लिए डा. ज़ाकिर हुसैन की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई जिसने उसके नवीन रूप को स्थिरता प्रदान की, और इस योजना का नाम रखा बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा। इसके बाद क्या-क्या होता चला गया यह समझ पाना मुश्किल है, जब तक कि हम यही न मान लें कि इस योजना की व्याख्या बराबर ही दो अलग-अलग रूपों में की जाती रही, गांधीवादी रूप में और आधुनिक रूप में। डा. ज़ाकिर हुसैन की व्यवहारकुशलता तथा गांधी जी के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा के कारण इन दोनों व्याख्याओं के बीच के अंतर को कभी भी किसी स्पष्टता के साथ उभर कर सामने नहीं आने दिया गया। फिर भी यह अंतर बना तो रहा ही, और इस योजना के बारे में लोगों के दिमाग में जो उलझन रही आई उसका एक प्रमुख कारण यही था।

मई 1938 की अंत की ओर 'बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा' का जो दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ, उसकी प्रस्तावना में गांधी जी ने लिखा कि इस योजना का "एक ज्यादा सही, हालांकि कहीं कम आकर्षक वर्णन होगा—ग्राम हस्तशिल्पों के जरिये देहाती राष्ट्रीय शिक्षा"। उनके दिल में जो खास बात थी वह इससे प्रकट हो जाती है। शिक्षा को, इस तरह, गांवों की दस्तकारियों को वैज्ञानिक ढंग से चलाए जाने वाले धंधों में परिणत करने का साधन बनना था। कुछ साधारण ज्ञान को तो वह आवश्यक मानते थे, खासतौर से ऐसे ज्ञान को जो नौजवानों को इस योग्य बना दे कि अपने धंधे को वे सही आर्थिक और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में देख सकें और अपने देश के प्रति उनके क्या कर्त्तव्य हैं, इसका भी उन्हें बोध हो सके। लेकिन विद्योपार्जन के प्रश्न में उनकी दिलचस्पी थी ही नहीं, क्योंकि 'देहाती राष्ट्रीय शिक्षा' को तो स्वावलंबी होना था। राज्य को ही जब गांवों में स्कूल खोलने का काम करना था तो उन्हें वह स्वावलंबी भी बनाएगा ही, या दूसरे शब्दों में, उनके द्वारा

उत्पादित माल को खुद लेकर उन्हें एक ठोस आर्थिक बुनियाद पर खड़ा करेगा। शिक्षा संबंधी इस उद्यम के लिए राज को राजी करने के ही उद्देश्य से वर्धा सम्मेलन में कांग्रेसी प्रांतों के शिक्षा मंत्रियों तथा शिक्षा विभाग के निदेशकों को आमंत्रित किया गया था। गांधी जी ने उनसे यही कहा कि वे लोग उनके विचारों को चाहें तो स्वीकार करें और न चाहें तो अस्वीकार कर दें, लेकिन हरिपुरा कांग्रेस ने जब बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा की योजना को बाकायदा मंजूर कर लिया तो उसके बाद कांग्रेसी सरकारों के सामने उसे नामंजूर करने का सवाल रह ही नहीं गया। यह योजना कांग्रेस की नीति का एक अनिवार्य अंग बन गई, बल्कि वह एक ऐसा पंथ बन गई जिसे मानने और जिसका प्रचार करने के लिए हर कांग्रेसजन बाध्य था, और साथ ही सच्ची राष्ट्रीयता की एक प्रतीक भी।

लेकिन चूंकि राज्य पर ही इस योजना का बहुत ज्यादा दारमदार था ठीक इसी वजह से यह धारणा विवाद की ही नहीं बल्कि राजनीतिक दृष्टि से प्रेरित विवाद का विषय बन गई। ज़ाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट पेश होने के शीघ्र ही बाद शिक्षा के केंद्रीय सलाहकार मंडल ने, जनवरी 1938 की अपनी बैठक में, ''वर्धा योजना में समाविष्ट--जो बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा का एक दूसरा नाम पड़ गया–शिक्षा पुनर्गठन की योजना की, वूड-ऐबट रिपोर्ट तथा अन्य संबद्ध कागजात की रोशनी में, जांच करने के लिए'' बंबई के मुख्यमंत्री और शिक्षा मंत्री श्री बी. जी. खेर की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त कर दी। डा. ज़ाकिर हुसैन भी इस समिति के सदस्य थे और उनकी स्थिति एक ऐसे उम्मीदवार जैसी थी जिसे अपने दावे को न्यायकर्त्ताओं के सामने सही साबित करना था।

इस समिति[1] की रिपोर्ट में कहा गया है कि डा. ज़ाकिर हुसैन का खयाल यह था कि अगर वह पहले यह बता दें कि वर्धा योजना क्या नहीं है, तो विचार विमर्श से असंबद्ध बातों की गुंजाइश कम रह जाएगी।. . .आलोचना मुख्यतः इस विचार के विरुद्ध चल पड़ी कि यह योजना पूर्णतया इसी स्पष्ट उद्देश्य को सामने रखकर गढ़ी गई थी कि शिक्षा को विद्यार्थियों द्वारा बनाए गए माल को बेच कर ही स्वावलंबी बनाया जाएगा। हमने तो अब बच्चों के बेगार के रूप में काम कराने जैसी शक्ल ले ली। यह राय बिलकुल ही गलत थी, योजना शिक्षा की थी, न कि उत्पादन की। दस्तकारी और कामकाज के शैक्षिक महत्व पर बराबर जोर दिया गया था और आर्थिक प्रश्न बिलकुल ही गौण था। वर्धा योजना वाले स्कूलों में जो शिक्षा दी जाने वाली है उसका माध्यम होने को हैं, बच्चे से और उस दस्तकारी वाले कामकाज से संबद्ध भौतिक और सामाजिक परिवेश से उत्पन्न होने वाली जीवन की यथार्थ स्थितियां। एक संपूर्ण और सर्वांगीण शिक्षा देने की समस्या के मामले में कामकाज के जरिए शिक्षा देने वाला दृष्टिकोण अब सभी शिक्षकों द्वारा सबसे अधिक प्रभावशाली माना जाने लगा है. . .

---

[1]भारत सरकार की शिक्षा मंत्रालय की केंद्रीय सलाहकार परिषद् द्वारा नियुक्त समितियों की रिपोर्टें, 1958, पृ. 1-3।

''वर्धा योजना 'केवल' उत्पादन की दृष्टि से स्कूलों में किसी प्रकार के भी यांत्रिक परिश्रम की विरोधी है और उसने शिक्षा की आवश्यक शर्त यह रखी है कि उसके माध्यम के रूप में दस्तकारी का या उत्पादन का जो भी काम चुना जाए उसकी शैक्षिक संभावनाएं प्रचुर होनी चाहिए। मनुष्य के महत्वपूर्ण क्रियाकलाप तथा हितों के साथ अन्योन्य संबंध प्राकृतिक बातों का उसे पता लगाना चाहिए।. . .

जोशीले किंतु भटके हुए प्रचारकों द्वारा दिये गए वक्तव्यों के फलस्वरूप इस योजना की पूरी जानकारी के बिना जो आलोचना की गई है, उसकी डा. ज़ाकिर हुसैन ने निंदा की। उन्होंने इस बात से इंकार किया कि यह योजना बेरोजगारी को दूर कर देगी ; दरअसल बेरोजगारी के सवाल का तो उनकी रिपोर्ट में कोई जिक्र तक नही है, हालांकि वह यह जरूर महसूस करते हैं कि वर्धा योजना वाले स्कूलों के विद्यार्थियों के लिए, विद्यमान स्कूलों के विद्यार्थियों की अपेक्षा, 'रोजगार' पाने की गुंजाइश ज्यादा रहेगी क्योंकि इस योजना को तैयार ही इस दृष्टि से किया गया है कि इससे जो ''लोग तैयार होंगे वे हर तरह के उपयोगी काम को सम्मानजनक समझेंगे और वे अपने ही पांवों पर खड़ा होना चाहेंगे और इसकी क्षमता भी प्राप्त कर लेंगे।'' उन्होंने इस बात से भी इंकार किया कि इस योजना में कहीं भी इस बात का उल्लेख है या यह ध्वनि निकलती है कि पढ़ाई पूरी होने पर[1] इन लोगों को सरकार रोजगार देगी, या यह की सभी विद्यमान स्कूलों को तुरंत वर्धा योजना वाले स्कूलों में परिणत कर दिया जाएगा।

''इसके बाद डा. ज़ाकिर हुसैन ने मुख्यतः मुस्लिम क्षेत्रो द्वारा किसी-न-किसी रूप में की गई इस आलोचना का जवाब दिया कि वर्धा योजना वाले प्रस्तावित स्कूलो में धार्मिक शिक्षा की अवहेलना की जाएगी और उनका दृष्टिकोण पूरी तरह धर्मनिरपेक्ष रहेगा। उन्होंने स्वीकार किया कि इस योजना मे धार्मिक शिक्षा का कोई पाठ्यक्रम अवश्य नहीं है क्योंकि उसके मार्ग में जो बाधाएं हैं वे स्पष्ट हैं, लेकिन उसकी मूलभूत बातों में एक है सभी धर्मों के लिए सम्मान। आज वाली इस स्थिति में, कि कोई भी संप्रदाय अपने खर्च पर सरकारी या स्थानीय निकायों वाले स्कूलों मे उस संप्रदाय के विद्यार्थियों को, स्कूल के घंटों के बाद, धार्मिक शिक्षा दे सकता है, वर्धा योजना ने प्रत्यक्ष रूप से, या अप्रत्यक्ष रूप से भी, कोई परिवर्तन नहीं किया है. . .

''सह-शिक्षा के संबंध में भी गलतफहमी थी। वर्धा योजना ने किसी भी उम्र तक के लिए सहशिक्षा को अनिवार्य नहीं बनाया है।. . .सच पूछा जाए तो उसमें सहशिक्षा की वांछनीयता के बारे में कोई राय ही नहीं जाहिर की गई है . . .

''. . .डा. ज़ाकिर हुसैन ने इस बात का जिक्र किया कि वर्धा योजना के अंतर्गत विश्वविद्यालय केवल परीक्षा लेने वाली संस्थाओं के रूप में रह जाएंगे और उस अवस्था में

[1]गांधी जी ने प्रासंगिक रूप में ऐसा कहा था। देखिये, 'एजुकेशनल रिकंस्ट्रक्शन', पृ. 51।

उन्हें सरकार से कोई भी सहायता नहीं मिलेगी ।[1] इस तरह के आरोप का खंडन अनावश्यक है । 14 साल से ज्यादा उम्र वाले विद्यार्थियों की माध्यमिक शिक्षा के बारे में विचार-विमर्श साफ तौर पर इस रिपोर्ट से बाहर का विषय माना गया है । वर्धा योजना यदि स्वीकार कर ली गई तो उच्चतर शिक्षा की वर्धा संगठन से समन्वित एक योजना भी तैयार करनी होगी ।''

जो लोग गांधी जी के अनुयायी नहीं थे लेकिन शिक्षा संबंधी सुधार की जिन्हें सचमुच चिंता थी उन्हें वर्धा योजना, या बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा, केवल उसी रूप में स्वीकार हो सकती थी जिस रूप में कि उसे डा. ज़ाकिर हुसैन ने पेश किया था, और डा. ज़ाकिर हुसैन द्वारा पेश की जाने वाली योजना में गांधी जी के लिए भी कोई आपत्तिजनक बात नहीं थी । लेकिन इसमें कुछ ऐसी बात वह जरूर जोड़ना चाहते थे जिससे यह दिखा सकें कि उनके दिमाग में उस शिक्षा की बात थी जो गांव को आर्थिक ही नहीं विचारधारा की दृष्टि से भी स्वावलंबी बना देगी, ताकि शहरों का विकास तथा आधुनिक उद्योग, सभी महत्त्वाकांक्षी नौजवानों को अपनी ओर खींच कर और उस तरह के धंधों को अपनाने के लिए प्रेरित कर जो कि मूलतः दूसरों के शोषण पर ही निर्भर हैं, भारतीय देहात का सर्वनाश न कर पाएं । बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा की योजना की विचारधारा में होने वाली इस वृद्धि ने शिक्षाविदों और उन लोगों को जो कि शिक्षा को एक नई दिशा देने के इच्छुक थे, या तो अपना विरोधी बना दिया और या उदासीन । हम यह बता चुके हैं कि वूड-ऐबट रिपोर्ट और अन्य संबद्ध कागजात की रोशनी में वर्धा योजना की जांच करने का कार्य शिक्षा के केंद्रीय सलाहकार मंडल की उपसमिति के सुपुर्द किया गया था। कुछ साल बाद सार्जेंट समिति बनी जो और ज्यादा व्यापक थी, लेकिन वह अंत में शैक्षिक पुनर्गठन की कोरी सैद्धांतिक चर्चा बनकर रह गई है । ज़ाकिर हुसैन समिति की रिपोर्ट में बुनियादी राष्ट्रीय शिक्षा जिस रूप में पेश हुई उस रूप में उसे अपने सरकारी प्रतिद्वंद्वियों का मुकाबला भी करना पड़ा, लेकिन चौपट तो वह उन समझौतों की वजह से हुई जो उसे विद्यमान शिक्षा प्रणाली के साथ बुनियादी शिक्षा का मेल बिठाने के लिए करने पड़े ।

केंद्रीय सलाहकार मंडल की उपसमिति ने, और बाद को तो स्वयं मंडल ने भी, डा. ज़ाकिर हुसैन द्वारा पेश वर्धा योजना या बुनियादी शिक्षा को स्वीकार कर लिया, लेकिन फिर उसने प्राक्-प्रारंभिक शिक्षा पर, और जो लड़के-लड़कियां बाद को माध्यमिक स्कूलों मे पढ़ना चाहें उनकी भी वैसी व्यवस्था करने के प्रश्नों पर भी, विचार करना शुरू कर दिया । बुनियादी शिक्षा के सात वर्षों को बढ़ा कर आठ कर दिया गया, फिर उसे पांच और तीन वाले दो हिस्सों में बांट दिया गया, जो बाद को बुनियादी शिक्षा के पांच 'जूनियर' (अवर) वर्ष और तीन 'सीनियर' (प्रवर) वर्ष कहलाए, और साथ ही यह विकल्प भी रख

[1]गांधी जी ने ऐसा कहा था । देखिये, 'एजुकेशनल रिकंस्ट्रक्शन', पृ. 5-6, 31-32, 153, 158, 164-65 ।

दिया गया कि जो विद्यार्थी उच्चतर शिक्षा लेना चाहें वे साधारण स्कूलों में भर्ती हो जाएं, जहां वे अंग्रेजी सीख सकें जो कि विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम थी। जो लोग पूरी अवधि तक बुनियादी शिक्षा के पक्ष में थे वे कोई आपत्ति उठा ही नहीं सकते थे; अब अवधि सात से बढ़ाकर आठ साल की कर दी गई थी। और किसी माध्यमिक स्कूल में तबादले की बात भी सिर्फ वैकल्पिक रूप में थी; बुनियादी शिक्षा के आगे चलने वाले किसी कार्यक्रम की योजना में वह बाधक नहीं थी। स्वावलंबी स्कूलों के पक्के हिमायती भी प्रथम दो या तीन वर्षों में किसी उत्पादन की आशा नहीं रखते थे। 'सीनियर' बुनियादी स्कूल से उन्हें यह दिखाने का मनोनुकूल अवसर मिल जाने को था कि धंधे वाला प्रशिक्षण शिक्षाप्रद भी हो सकता है और उत्पादक भी। बुनियादी स्कूलों में दूसरी दस्तकारियों पर जोर न देकर, तकली-कताई की हिमायत करने वाले, प्रशासकों के ही हाथ मजबूत कर बैठे। दस्तकारी के रूप में तकली से कताई सस्ती थी और उसका मूल्यांकन करने का भार आसानी से उन लोगों के कंधों पर डाल दिया जा सकता जो उसके शैक्षिक महत्त्व में विश्वास रखते थे। सिर्फ तकलियां और कपास मुहैया करके बुनियादी स्कूलों की संख्या बढ़ाई जा सकती थी, और अगर ये स्कूल बुनियादी शिक्षा संस्थाएं न बन पाते तो शिक्षा विभाग या शिक्षा निदेशालय को दोषी नहीं ठहराया जा सकता था। मुझे याद है कि स्कूली शिक्षा की अवधि को पांच और तीन वर्षों के बीच बांटने के खिलाफ डा. ज़ाकिर हुसैन ने श्री बी. जी. खेर के समक्ष प्रतिवाद किया था; कई मौकों पर मैंने उन्हें यह कहते भी सुना था कि उन्हें मुख्यतः इसी बात से मतलब है कि उम्र की ऊपरी सीमा चौदह साल की रखी जाए और यह पूरी शिक्षा कुल सात वर्षों की हो। लेकिन जिन समितियों के विचार-विमर्श में उन्होंने हिस्सा लिया था उनके द्वारा पेश की गई सिफारिशों में हम उनकी असहमति का कोई लेख नहीं पाते। भारी बहुमत उनके विरुद्ध था, और बहुमत को स्वीकार करना ही शोभनीय था। उन्होंने जरूर महसूस किया होगा कि अंग्रेजी के पूरे परित्याग पर जोर देना नीतिसम्मत नहीं होगा। बुनियादी शिक्षाव्यवस्था चाहे कितनी भी सही और स्वावलंबी हो, देहाती विद्यार्थियों को उच्चतर शिक्षा के अवसर से पूर्णतया वंचित नहीं किया जा सकता, और उच्चतर शिक्षा का माध्यम जब तक अंग्रेजी ही है तब तक स्कूल की किसी अवस्था में उसे पढ़ाने की व्यवस्था करना ही पड़ेगी।

कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच के राजनीतिक मतभेदों, बुनियादी पाठ्यक्रम में धार्मिक शिक्षा की कोई जगह न रहने, और मध्य प्रदेश के तत्कालीन मुख्यमंत्री पंडित रविशंकर शुक्ल द्वारा स्थापित बुनियादी स्कूलों का नाम 'विद्यामंदिर' रखे जाने से मुसलमानों की ओर से वर्धा योजना की जबर्दस्त मुखालफ्त होने लगी। जिन लोगों ने मुस्लिम विरोधी बात कर इस योजना की निंदा की थी उन्होंने अगर उसके पाठ्यक्रम की जांच की होती तो वे देख पाते कि इस्लाम की शिक्षाओं का इसमें प्रारंभिक कक्षाओं वाले अन्य सभी पाठ्यक्रमों की तुलना में कहीं ज्यादा ऊंचा स्थान था। लेकिन ऐसा करने की फिक्र किसी ने नहीं की। अपने पाठ्यक्रम से धार्मिक शिक्षा को डा. ज़ाकिर हुसैन ने बड़े ही

ठोस कारणों से अलग रखा था। धार्मिक शिक्षा देने के नियम को अगर आमतौर पर लागू किया जाता तो मुसलमानों को देहाती इलाकों में नियुक्त करने के लिये इस्लाम के शिक्षक ही नहीं मिलते, और अगर मिलते भी, तो वे शिक्षक मुसलमान कम सरकारी मुलाज़िम ज़्यादा होते। डा. ज़ाकिर हुसैन ने खुलेआम कहा था कि ऐसे शिक्षकों के हाथों में इस्लाम सुरक्षित नहीं रहेगा। लेकिन एक ऐसे वातावरण में, जहां मुस्लिम लीग के लापरवाह नेताओं ने मुसलमानों के दिल में यह बात बिठा दी थी कि अगर उन्होंने हिंदुओं पर या हिंदुओं के साथ सहयोग में विश्वास रखने वाले मुसलमानों पर भरोसा किया तो वे तबाह हो जाएंगे। इस तरह की दूरदर्शिता को धूर्तता मान लिया गया। एक दूसरा सवाल, जो मुसलमानों को दिन पर दिन ज़्यादा बैचेन करता जा रहा था, भाषा का था। डा. ज़ाकिर हुसैन एक ऐसी हिंदी के थोपे जाने के लिये राजी नहीं थे जो उस भाषा से अलग हो जिसकी हिमायत गांधी जी राष्ट्रभाषा के रूप में कर रहे थे। उनकी स्थिति बहुत ही नाजुक थी क्योंकि न तो वह इस सिद्धांत की उपेक्षा कर सकते थे कि प्रारंभिक शिक्षा मातृभाषा में होनी चाहिए, और न इस बात की कि किसी बुनियादी प्रारंभिक स्कूल के छोटे से दायरे में रहने वाले बच्चों की भी मातृभाषाएं अलग-अलग हो सकती हैं। वह जिस स्थिति में आ फंसे थे उसकी कोई सफाई नहीं दे सकते थे। और उर्दू के हिमायतियों का साथ देकर बेजा हरकतों मे शामिल होना उनकी प्रकृति और संस्कृति के खिलाफ था।

डा. ज़ाकिर हुसैन विरोधी लोगों का निशाना बनने से इसलिये बच गए कि एक तो यह बात सभी जानते थे कि उनकी ज़िंदगी मुसलमानों की शिक्षा के लिये ही समर्पित है, और दूसरे, उनकी निष्ठा और सद्भावना उनके व्यक्तित्व को महिमान्वित किये रहती थी। लेकिन उन्होंने अपने को बचाने की क.नी फिक्र नहीं की, बल्कि खुद ही जंग के मैदान मे कूद पड़े। अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन ने निःशुल्क और अनिवार्य प्रारंभिक शिक्षा के सवाल पर अपनी रिपोर्ट देने के लिये एक समिति नियुक्त की। चूंकि इसका मतलब ही था वर्धा योजना पर विचार, इसलिये इस समिति के विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए डा. ज़ाकिर हुसैन को आमंत्रित किया गया। इस योजना के खिलाफ बड़ी उत्तेजना थी, खासतौर पर उ. प्र., बिहार और म. प्र. सरकारों की भाषा नीति, म. प्र. में पंडित रविशंकर शुक्ल द्वारा स्थापित 'विद्यामंदिरों', और व्यापक रूप से फैल जाने वाले इस शक की वजह से कि बहुसंख्यक संप्रदाय एक पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष शिक्षा व्यवस्था को जबर्दस्ती थोप कर मुस्लिम संस्कृति को खत्म करने के लिये तुला हुआ है। इस उपसमिति में होने वाले विचार-विमर्श का कोई लेखा तो नहीं है, लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन को एक समझौता कराने में सफलता मिल गई थी जिससे कम-से-कम इतना तो प्रगट है कि उस उपसमिति ने उस योजना के बुनियादी सिद्धांतों को मान लेने की सिफारिश की थी–मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा, जो कम-से कम सात साल तक की हो, और जिसे हाथ के सहयोगी काम के इर्दगिर्द संगठित किया जाए। उनके विरोधियों ने इस सिफारिश की प्रस्तावना के बारे में यह कह कर ही संतोष कर लिया, कि अपने वर्तमान रुप में वर्धा

योजना को अस्वीकार कर दिया जाए । 1, 2 और 3 अक्टूबर 1938 को पटना में होने वाले अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन की बैठक में डा. जियाउद्दीन ने इस उपसमिति की सिफारिशों वाला प्रस्ताव पेश किया । डा. ज़ाकिर हुसैन मौजूद नहीं थे,[1] और जब इस प्रस्ताव पर बैठक में बहस शुरू हुई तो बड़ा शोर-गुल, तूतू-मैंमैं और हंगामा रहा, लेकिन बहुमत से वह पास हो गया ।

1938 में और 1939 के पूर्वार्ध में बुनियादी शिक्षा के सिद्धांतों पर विचार विमर्श के लिये और उन पर अमल करने के मामले मे मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिये डा. ज़ाकिर हुसैन की बड़ी मांग रही । जब वह दिल्ली से बाहर नहीं फंसे होते थे तब भी शिक्षा विभाग के अफसर और प्रशासक लोग उनसे मिलने दिल्ली आते रहते थे । बातचीत का तांता टूटता ही नही था जिसकी वजह से नाक में दम हो गया था, और चूंकि उन्हे प्रतिष्ठा मिल चुकी थी और उनका कुछ असर भी था इसलिये बुनियादी शिक्षा में दिलचस्पी दिखाने वाले प्राय: हर व्यक्ति अपनी नियुक्ति या पद-वृद्धि के मामले में उनसे मदद मांगता था, क्योंकि हर ऐसे राज्य में जहां बुनियादी शिक्षा लागू होने को थी, काफी जगहों पर नियुक्तियां होने वाली थी । और, जहां तक मुझे याद है, इस अवधि में, डा. ज़ाकिर हुसैन ने बिना कोई सचिव रखे ही सारा काम किया । जामिया मिल्लिया इस लायक नहीं था कि उनके लिये एक सचिव की व्यवस्था कर पाता, और न कोई प्रांतीय सरकार या कोई दूसरा संगठन ही अपने नियमो के मुताबिक वैसा कर सकता था । 1939 के मध्य तक उनका 'ग्लाकोमा' भी उन्हे फिर परेशान करने लग गया था, और उन्हें लगा की अगर उन्हें थोड़ा भी आराम न मिला तो उनकी गाड़ी एकदम ही बैठ जाएगी । आल इंडिया रेडियो के लिये अंतर्राष्ट्रीय मामलों पर दी जाने वाली अपनी पाक्षिक वार्ता के लिये उन्हें जो अध्ययन करना होता था, उससे उन्हें पक्का भरोसा था कि लड़ाई नहीं होने जा रही है । इसलिये आराम और इलाज के लिये वह जर्मनी चले गए । उन्हीं आशाओं के विपरीत, सितंबर के बिलकुल शुरू में ही, यूरोप में लड़ाई छिड़ गई और उन्हें जर्मनी छोड़ देना पड़ा । 11 सितंबर को उन्होंने जेनेवा से जो खत अपनी मजेदार और जानदार शैली में लिखा था वह 'जामिया' मे छप गया था, और पूरा का पूरा यहां देने लायक है ।

होटेल द फेमीय
जेनेवा
11 सितंबर, 39

"मेरे प्यारे अदीब साहब,

मुझे आपका खत उसी दिन मिला जिस दिन मैं जर्मनी से निकल भागा था । उसी डाक

---

[1]जान पड़ता है कि सम्मेलन की अध्यक्षता करने के लिये उन्हीं को आमंत्रित करने की बात थी, लेकिन पटना स्थित व्यवस्थापकों ने जोर दिया कि बंगाल के प्रधान मंत्री ए. के. फ़जलुल हक अध्यक्ष हों । जब सम्मेलन हुआ डा. ज़ाकिर हुसैन कश्मीर में थे ।

से मुझे एक खत शफीक साहब और मेम साहब का भी मिला।[1] इन खतों से मुझे जितनी खबरें मिल गईं उनके बल मैंनें कुछ हफ्ते, बिना किसी फिक्र के गुजार दिये। इससे पहले किसी ने मुझे लिखने की फिक्र नहीं की थी। शफीक साहब ने मुजीब साहब, अकबर साहब,[2] और सईद साहब[3] के लंबे खतों की बात लिखी है। मुझे तो उनमें से कोई नहीं मिला।

और अब अपनी बात पर आऊं। मैं 3 जुलाई को वेनिस पहुंचा। मुझे यह शहर पसंद आया, इसलिये मैं दो के बजाय (जैसा कि इरादा था) वहां दस बारह दिन रह गया। बहाना मैंने यह बनाया कि मैं इटालियन भाषा सीख रहा हूं। और दरअसल मैंने इसे सीखा भी। लेकिन जितने वक्त मैंने इसे सीखा है उससे भी कम वक्त में भुला भी दूंगा। 18 को मैं वियेना पहुंचा। वहां इमतियाज[4] मिलने आ गया। उसके साथ मैं एक हफ्ते के लिये बुदापेस्त गया। यह एक ठेस और बड़ा ही खूबसूरत शहर है। लगभग सभी लोग जर्मन बोलते हैं। वहां से हम लोग वियेना वापस लौटे, मगर हवाई जहाज से। यही तमन्ना (हवाई जहाज से सफर करने की) क्यों पूरी होने से रह जाती? इमतियाज चला गया, मुझे डाक्टरों पर छोड़ कर। उन्होंने तरह-तरह की जांच पड़ताल का इतना लंबा सिलसिला चलाया कि तोबा, अल्ला ही बचाए। फिर जिस नतीजे पर वे पहुंचे वह यह, कि मेरी आंखे जिस हालत में हैं वही उनके लिये दुरुस्त है। अगर उनकी ठीक हिफाजत की जाती रही तो वे सही सलामत रही आएंगी। लेकिन आंतों की हालत खराब है। पुरानी पेचिस, और वह भी जहरीली। इसने जिगर खराब कर डाला है, और किसी हद तक गुरदे को भी। अब इन्हें इस हालत में तो रहने नहीं दिया जा सकता। चिकित्सा विज्ञान के मुताबिक, (बीमार की) हालत नाजुक होनी चाहिये थी, मगर चूंकि (उसकी) हर बात ही अनियमित और अवैज्ञानिक है, इसलिये अब भी उसके लिये उम्मीद है, अब भी इलाज मुमकिन है। खून की हालत जैसी होनी चाहिए थी उससे कहीं ज्यादा अच्छी है; इसलिये इलाज भी ज्यादा आसान होगा। दिल (कैसा बेरहम मजाक है!) काबू में है। दिमाग की जांच नहीं की गई; अगर होती तो नतीजा मजेदार होता। मुझे यह समझाया बुझाया गया है कि किसी इलाज से ज्यादा बड़ी बात है खाने-पीने का परहेज। सात सुइयों का नुसखा दिया गया है और किसिंजेन में जाकर रहने का हुक्म मिला है जहां तीन हफ्ते रहकर सुइयां

---

[1]श्रीमती टीली सिद्दीकी। देखिये ऊपर, पृ. 53?

[2]चौधरी अकबर अली। वह तब ओखला स्थित प्राइमरी स्कूल के हैडमास्टर थे।

[3]सईद अंसारी, जो बुनियादी स्कूलों के शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये 1938 में स्थापित 'टीचर्स ट्रेनिंग स्कूल' के प्रिंसिपल थे।

[4]डा. ज़ाकिर हुसैन के सबसे बड़े भाई के बेटे। जर्मनी से लौटने पर वह उस्मानिया विश्वविद्यालय में आ गए।

लगवाता रहूं और परहेजी खुराक पर रहूं। फिर खून की जांच कराऊं। सुइयों की वजह से अगर खून पतला हो गया तो चार-पांच हफ्ते रुकने के बाद फिर सुइयां लगवाऊं, वरना तीन हफ्ते बाद लगवा लूं। इस तरह मैं 15 अगस्त को किसिंजेन पहुंचा। छोटा कसबा है, सभी बाशिंदे बाहर के हैं, सभी बीमार। चारों ओर फूल ही फूल नजर आते हैं। जगह बेहद पंसद आई मुझे। वियेना के डाक्टर ने बड़ी तफसील से तैयार करके आखिरी वसीयतनामा मुझे पेश किया था और यहां के एक डाक्टर के नाम मेरे बारे में एक खत भी। मुलाकात वाले दिन से ही उसने अपना इलाज शुरू कर दिया। उसने मुझे एक ऐसे मकान में रखा जिसकी मालकिन खुद डाक्टर है, एक डाक्टर की ही बेवा है, और बूढ़ी भी, जिसका मतलब हुआ कि तजरबेकार भी। मेरी खुराक के मामले मे उसने सारे इंतजाम कर दिये। कुछ ही दिन के अंदर मुझे अपनी तबीयत में तरक्की दिखाई दी। मगर वक्त की मनमौजी चाल के बारे में कोई क्या कहे; लड़ाई की अफवाहें गरम हो उठीं। आदमी, घोड़े, गाड़ियां, मोटरकार, सभी लड़ाई के वास्ते लिये जाने लगे। 25 अगस्त तक सारी तैयारी पूरी हो चुकी थी। हमारे सभी नौकर-चाकर फौज में भर्ती हो चुके थे, मेरे सारे बीमार साथी भाग गए। रेलें कम कर दी गई। मगर मैं था, कि अपनी जगह पर डटा रहा। और, कर भी क्या सकता था ? सुइयों का दौर पूरा हुआ नहीं था, तंदुरुस्ती दिन-ब-दिन ठीक होती जा रही थी। इसलिए मैंने ठान लिया था कि लड़ाई नहीं होगी। इस इतमीनान का नतीजा यह हुआ कि 26 अगस्त को आपके इस अदना खादिम ने एक जीते-जागते, करीब नौ इंच लंबे, कीड़े को पैदा किया। पेचिस के साथ-साथ यह हजरत भी बरसों से मेरे अंदर मौजूद थे। मैने उन्हें गिरफ्तार करके डाक्टर के सामने पेश किया उसने मुझे उसका लैटिन नाम बताया जो अब मुझे याद नहीं है, और कहा कि बड़ा अच्छा हुआ यह निकल आया; बहुत पुराना था। खैर, यह किस्सा भी खत्म हुआ। मुझे खुशी हुई कि मेरा इलाज पूरा हुआ, और मैं वहीं टिका रहा। 1 सितंबर को सुइयों का दौर पूरा हुआ, और तजबीज किये गए 'बाथों' (इलाज के लिए कराए गए स्नानो) का भी। लेकिन 2 सितंबर को इंगलैंड ने लड़ाई का एलान कर दिया। उस तारीख तक मुझे सिर्फ इतना ही मालूम हो पाया था कि शांति के लिये बातचीत जारी है और मुझे पक्का भरोसा था कि सब कुछ ठीक हो जाएगा। लड़ाई छिड़ जाने की बात मुझे 3 सितंबर को बताई गई। इतवार का दिन था। उसी दिन मैं स्टेशन पहुंचा। पता चला कि पहली गाड़ी जो मुझे मिल सकेगी वह अगले दिन सुबह पांच बजे छूटेगी। मैं घर लौटा, अपना बिल चुकाया, सामान बांधा, रात के दस बजे स्टेशन पहुंचा, टिकट खरीदा, और अपने सामान को 'बुक' किया, सबेरे पांच बजे रवाना हुआ। रेलगाड़ियां इस तरह चलाई जा रही थीं कि एक इलाके के रेलवे कर्मचारियों से दूसरे इलाके की कोई बात नहीं मालूम हो सकती थी।जिस इलाके में से रेल गुजर रही थी सिर्फ उसके बारे में पता चल पाता था, लेकिन वह भी हमेशा सही नहीं। मैंने स्विट्जरलैंड जाने का फैसला किया था। मुझे बताया गया था कि मैं स्टुटगार्ट तक पहुंच सकता हूं। उसके बाद के सफर के बारे में कोई कुछ नहीं कह सकता था। खैर, मैंने स्टुटगार्ट का टिकट ले

लिया। तीन बार गाड़ी बदलनी थी। दो बार गाड़ी बदलने के बाद अगले जंकशन तक पहुंचने से पहले ही, हमें बताया गया कि गाड़ी आगे नहीं जाएगी, सभी मुसाफिर उतर जाएं। हम लोग उतर गए। हम लोगों ने आठ घंटे वहीं गुजारे। छोटा-सा कोई स्टेशन था, और हवाई हमलो के डर से अंधेरा कर दिया गया था। हर घंटे दो घंटे सीमांत वाले इलाकों से बूढ़ों और बच्चों को मुल्क के अंदरूनी हिस्सों की ओर ले जाने वाली गाड़ियां गुजर रही थीं। किसी तरह वक्त बीता, और स्टुटगार्ट पहुंचे। वहां जाकर मैंने ज्यूरिख जाने का अपना इरादा जाहिर किया। बताया गया कि फौरन ही एक गाड़ी वहां जा रही है। मैंने अपने असबाब के बारे मे दरयाफ्त किया। वह आया नहीं था। इसी बीच ज्यूरिख वाली गाड़ी छूट गई, मैंने रात स्टुटगार्ट मे ही काटी। कायदों के हिसाब से, मेरा ख़याल है, मुझे सरकारी मेहमान होकर रखा जाना चाहिये था। पता नही, मेहमानदारी के कायदों का ख़याल क्यों नहीं रखा गया। अगले दिन सुबह मैंने टिकट ख़रीदा और ज्यूरिख के लिये रवाना हो गया। कांस्टैंस झील के किनारे बसे शहर फीड्रिखशाफेन मे मैं गाड़ी से उतर गया; यह जर्मन इलाके मे ही था। यहां से मुझे स्टीमर से जाना था। मै रात को पहुंचा था, और स्टीमर अगले दिन तीसरे पहर 3 बजे जाने को था। रास्ते में मुझे बताया कि स्टीमर चलना बंद हो गया है, लेकिन फ्रीड्रिखशाफेन में देखा कि वह जारी था। तीसरे पहर स्टीमर में जा चढ़ा। जर्मन पुलिस ने मुझे बताया कि स्विस लोग मुझे स्टीमर से नीचे उतरने की इजाजत नहीं देंगे; उसी दिन सुबह पचास मुसाफिरों को लौटा दिया गया था। मै बोला, 'मेहरबानी करके मुझे जाने भर दीजिये, फिर मेरा अपना नसीब।' वे लोग मुस्कुराए, कंधे उचका दिये, और मेरे पासपोर्ट पर मोहर लगा दी। स्टीमर पर चढ़ गया और रोमनशोर्न आया। स्टीमर में 400 मुसाफिरों की जगह थी मगर इस सफर मे, स्टीमर के कर्मचारियों के अलावा, सिर्फ तीन मुसाफिर थे, एक मैं और दो स्विस नागरिक जो फौज में भरती होने के लिये जर्मनी से लौट रहे थे। कप्तान ने मुझसे पूछा कि मेरे पास क्या स्विस 'विजा' है ? मैंने कहा, नहीं।' वह बोला, 'तो आप स्टीमर पर आ कैसे पाए ? हम लोग बिना मुसाफिर लिये ही इसलिये लौट रहे है कि पिछली रात के 12 बजे से हमारी सरकार ने यह शर्त लगा दी है कि हर मुसाफिर के पास विजा हो और बिना किसी के साथ रियायत किये, इस कायदे की पूरी पाबंदी की जाए।' यह बातचीत स्टीमर के चल देने के बाद हुई। मैं बोला, 'जो भी हो, अब तो स्टीमर चल ही पड़ा है।' कप्तान बोला, 'कोई बात नहीं, आप वापस जा सकते हैं। इसी स्टीमर से वापस आ जाइये, और. . . से विजा लेने की कोशिश कर देखिये।' उन्होंने उस कस्बे का नाम बताया जहां मैं जाऊं। मैंने जवाब दिया, 'नहीं साहब, यह तो अब मैं करता नहीं हूं। एक बार जब जर्मनी के बाहर आ गया हूं तब दो बार जर्मन लोगों की मेहमानवाजी का फायदा नहीं उठाना चाहता।' तब तक हम लोग रोमनशोर्न आ पहुंचे थे। वहां ठीक वही जो कुछ हुआ जो उस कप्तान ने बताया था। सीमांत पुलिस ने मुझे वापस लौटने के लिये कहा। मैंने जवाब दिया, 'यह तो नामुमकिन है। आप मुझे गिरफ्तार करके यहीं के जेल में बंद कर सकते हैं।' कुछ देर तक तो पुलिस वाला अड़ा रहा :

हुक्म तो हुक्म ही है । मगर मैं भी जब टस से मस नही हुआ, तो उसने भी मेरे रास्ते को सही बताया । जर्मनी लौटने पर वहां बंद कर दिया जाऊंगा । मुझे लौटा देना नाइंसाफी की बात होगी । में बोला, 'देखिये न, आप तो समझ ही सकते हैं ।' इस तरह, बर्न के लिये टेलिफोन मिलाया गया; स्विटजरलैंड में दाखिल होने की इजाजत मिल गई और मैं ज्यूरिख जा पहुंचा । वहां ब्रिटिश वाणिज्य दूत ने मुझे जेनेवा जाने की सलाह दी । वहां से इंगलैंड या भारत जाने में ज्यादा सहूलियत रहेगी । सो इस तरह मैं नौ को यहां आ गया । किस्मत अच्छा थी जिस डाक्टर से मिलने की सलाह दी गई थी वह भी उसी होटल मै ठहरा हुआ था । अब मुझे कोई फिक्र नहीं । पिछले कुछ दिन जिस दौड़धूप मे गुजरे है उसकी वजह से चेहरे पर वह रोनक नही रह गई है जो किसिंजेन में आ गई थी, लेकिन कुल मिलाकर तो अच्छा ही हूं । खूब सोता हूं, खूब खाता हूं, और उसे हजम भी कर लेता हूं । इससे ज्यादा और क्या चाहिये ? सुइयो का अगला दौर जब से शुरू करने को कहा गया है उसका वक्त आ जाने पर मैं किसी से सुइयां लेने लग जाऊंगा । अगर इटली लड़ाई से अलग रहा तो, इंशा अल्लाह, अक्टूबर के आखिर तक तुम सब लोगो के पास पहुंच जाने की उम्मीद रखता हूं । मेरा खयाल है कि मुझे और रुपयो कि जरूरत नही पड़ेगी, फिर भी अच्छा हो अगर बीस या तीस पाउंड तुम्हारे पास रहें ताकि मेरा केबल पाते ही तुम मुझे भेज सको ।

''मेहरबानी करके इस खत की बातें सभी दोस्तों को बता देना और यूसुफ और महमूद को भी ।[1] यहां मैंने सबसे ज्यादा इसी वजह से आना चाहा था कि तुम सबकी खबर मिल सकेगी । देखा जाए, मेरी यह उम्मीद सही थी या नहीं ।' लौटने पर डा. ज़ाकिर हुसैन ने एक घटना बताई जिसका इस खत मे जिक्र नहीं था । जर्मन सीमांत पर जब सीमा शुल्क वालो को दिखाने के लिये उन्होंने अपना ट्रंक खोला, तो उर्दू मे लिखे उनके कुछ कागजात बिलकुल ऊपर रखे हुए थे । सीमा शुल्क अधिकारी ने जानना चाहा कि ये कैसे कागजात हैं ? 'ये तो सांकेतिक लिपि में लिखे गए मेरे नोट है, कि कहां कितनी जर्मन फौजे तैनात हैं', डा. ज़ाकिर हुसैन ने जवाब दिया । 'लेकिन आप घबड़ाएं नहीं । जब तक अपने मुल्क को वापस पहुंचूंगा और इन्हें वहां दूंगा, तब तक तो जर्मनी जंग फतह कर चुका होगा ।' वह अधिकारी उनकी ओर आंखे उठाकर हंस पड़ा और बिना किसी और पूछताछ के उसने उनका ट्रंक बंद कर दिया ।

जर्मनी से डा. ज़ाकिर हुसैन जब तक लौटे तब तक प्रांतों की कांग्रेसी सरकारें इस्तीफा दे चुकी थीं । बुनियादी शिक्षा के विस्तार पर विशुद्ध राजनीतिक कारणों से इसका जितना बुरा असर पड़ना चाहिए था उतना नहीं पड़ा । बिहार में गवर्नर के सलाहकार कजिंस का रुख, जिसके सुपुर्द दूसरे विभागों के साथ-साथ शिक्षा विभाग भी था काफी अच्छा था । मुंबई में, वहां के शिक्षा निदेशक ने, जो कांग्रेसी मंत्रिमंडल के सत्तारूढ़ रहते पूरी तरह बुनियादी शिक्षा के पक्ष में था, मंत्रिमंडल के इस्तीफे के बाद उसके खिलाफ एक कड़ी

[1]उनके दोनों छोटे भाई,

रिपोर्ट दी। लेकिन उसकी वजह से वह प्रयोग बंद नहीं किया गया। सिर्फ उसका विस्तार रुका रहा, और अप्रैल 1941 में बुनियादी शिक्षा सलाहकार समिति जिस रूप में पुनर्गठित की गई उससे डा. ज़ाकिर हुसैन ने इस्तीफा दे दिया। उत्तर प्रदेश में, डा. संपूर्णानंद, शिक्षा निदेशक पावेलप्राइस और उपनिदेशक डा. आई आर. खां ने हिंदुस्तानी तालीमी संघ के सचिव का हस्तक्षेप रोकने और उसके इशारे पर चलने से बचने के लिए बुनियादी शिक्षा की अपनी अलग ही व्याख्या कर ली थी। मद्रास शुरू से ही कुछ ज्यादा अनुकूल नहीं था, और यही बात उत्तर प्रदेश सीमाप्रांत पर लागू होती थी। उड़ीसा में, जहां कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने उसे केवल अंतरिम स्वीकृति दी थी, 1 मार्च 1941 से उसे बंद कर देने का हुक्म जारी हो गया।[1] मध्यप्रदेश में इस योजना को ठीक से चलाने का काम प्रांतीय सरकार की वजह से नहीं स्थानीय निकायों की वजह से रुका।

सेवाग्राम में हिंदुस्तानी तालीमी संघ की बैठकों में डा. ज़ाकिर हुसैन के साथ मैं भी बराबर जाया करता था। आमतौर पर बैठक के बाद गांधी जी के साथ मुलाकात होती थी, और डा. ज़ाकिर हुसैन वहां हुए विचार विमर्श की उन्हें रिपोर्ट देते थे। इस मुलाकात में एक अपना ही माधुर्य रहा करता था। डा. ज़ाकिर हुसैन नम्रता की मूर्ति बने रहते थे जो एक अजीब नजारा था, और उनका व्यवहार उस नौजवान जैसा था जो अपने ऐसे बुजुर्ग के सामने है जिसकी मेहरबानी और सहारे का वह पूरी तरह कायल है। उधर गांधी जी भी उस शख्स पर पूरा भरोसा किये हुए थे जिसे उन्होंने अपने एक ऐसे विचार को अमल मे लाने का काम सौंपा था जो उन्हें बहुत ही प्यारा था। उन दोनों के बीच किसी भी मतभेद की गुजांइश हो सकती है, यह उन्हें देख कोई भांप भी नहीं सकता था। मतभेद तो थे ही, लेकिन न गांधी जी ही सैद्धांतिक हठधर्मी के शिकार थे, न डा. ज़ाकिर हुसैन ही। मुझे एक प्रसंग याद आता है जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि डा. ज़ाकिर हुसैन को नम्र बने रहने की किस कदर फिक्र थी। हिंदुस्तानी तालीमी संघ जामिया मिल्लिया को उसके 'टीचर्स ट्रेनिंग इंस्टीट्यूट' (शिक्षक प्रशिक्षण संस्थान) के लिए 3,000 रुपये सालाना की मदद देता था और इसलिए उस संस्था के कामकाज की सालाना रिपोर्ट पाने का उसे हक था। लेकिन पहले ही साल इस बात की नौबत आ गई कि ठीक आखिरी वक्त पर संस्थान के प्रिंसिपल ने रिपोर्ट तैयार करने में अपनी असमर्थता जाहिर की। इस मुलाकात के वक्त मै मौजूद था। कोई शिकायत करने की जगह, डा. ज़ाकिर हुसैन कुछ कागज लेकर बैठ गए और रिपोर्ट तैयार करने लगे। संघ की बैठक में उन्होंने वह रिपोर्ट पढ़ दी, फिर आसपास बैठे लोगों की तरफ निगाह घुमाकर बोले, "खासी अच्छी रिपोर्ट है न ?" सदस्यों ने पूरे दिल से समर्थन

[1]इसके लिए जो कारण दिए गए थे वे ये हैं : "वर्धा योजना में स्कूल के प्रतिदिन के 5 घंटो में से 3 घंटे 20 मिनट दस्तकारी के काम में खर्च करने की व्यवस्था रखी गई है, और इस बात की स्पष्ट संभावना है कि इन स्कूलों में तकली को छोड़ अन्य किसी भी हस्तशिल्प का प्रबंध न रहने की वजह से ये बहुत जल्द सिर्फ 'कली स्कूल बनकर ही रह जाएंगे।

किया। इसमें शक नहीं कि रिपोर्ट थी भी बढ़िया। जो शख्श अपने किये कि वाहवाही अपने किसी सहयोगी को दिला सकता है, भला कताई के शैक्षिक मूल्य को लेकर गांधी जी के साथ बहस में कैसे उतर सकता था ?

लेकिन जब कभी भी डा. ज़ाकिर हुसैन को बुनियादी शिक्षा के सिद्धांतों पर अपने विचार व्यक्त करने होते थे, वह यह बिलकुल साफ कर देते थे कि 'दस्तकारी' से उनका मतलब 'काम' से है और उनके दिमाग में बुनियादी स्कूल की जो तस्वीर है वह 'काम' के जरिए शिक्षा देने वाली किसी जगह की है। 'काम वाले' स्कूल की शायद सबसे अधिक संक्षिप्त परिभाषा उन्होंने अप्रैल 1941 मे जामिया मिल्लिया मे होने वाले दूसरे बुनियादी शिक्षा सम्मेलन में दिये गए अपने अध्यक्षीय अभिभाषण में दी थी।

"...शिक्षा के सिलसिले मे ज्ब हम काम वाली बात कहते हैं तब हमारे दिमाग मे सिर्फ उसी काम की बात रहनी चाहिए जो शरीर और दिमाग के लिए सचमुच ही शिक्षाप्रद हो, ऐसा काम जो मनुष्यों को ज्यादा भला बनाए। मै तो यह मानता हूं कि यह विचार करने से मनुष्य की तरक्की होती है कि उसने क्या काम किया है, अपनी ही काम की अच्छाइयों और बुराइयों को समझने से। जब कोई आदमी किसी काम को हाथ में लेता है, शारीरिक या दिमागी काम को, तो वह उसे अपने लिए तभी शिक्षाप्रद बना सकता है जब कि साथ ही साथ उसके दिल में यह अच्छा भी रहे कि जो काम उसने लिया है उसके साथ उसे पूरा न्याय करना है, और जब कि उस काम की आवश्यकता के हिसाब से वह अनुशासन मे बंधने को तैयार हो। हर काम नहीं, सिर्फ वही काम शिक्षाप्रद हो सकता है जिसे हम योजना बनाकर करते है। यांत्रिक ढंग से किया जाने वाला काम, ऐसा काम जिसे मशीन भी कर सकती हो, शिक्षा नहीं दे सकता। जो काम करना है उसकी कोई योजना दिमाग में रहनी ही चाहिए। अगला कदम भी दिमागी ही है: उसके साधनो पर विचार, और उनमें से उनका चुनाव जो उस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सबसे अधिक उपयुक्त हो। इसके बाद उस चुनी हुई सामग्री को और औजारों को लेकर काम शुरू किया जाता है। अंत में आता है तैयार माल के मूल्यांकन का काम, यह देखना की वह मूल्य योजना के मुताबिक हो पाया या नहीं, कि जिन साधनो को योजना बनाते वक्त उपयुक्त समझा गया था उन्हीं से यह काम पूरा हुआ या नहीं, और यह कि उस पर की गई मेहनत और खर्च किये गए साधनों का इस्तेमाल जरूरी था या नहीं। काम की ये चार स्पष्ट अवस्थाएं है जो उसे शिक्षाप्रद बनाती हैं। लेकिन यही सब कुछ नहीं है। किसी भी तरह के काम को अगर बार-बार दुहराया जाए तो उससे एक प्रकार की दक्षता आ जाती है, लेकिन यह दक्षता शौक्षिक क्रिया का लक्ष्य नहीं है, चाहे यह दक्षता दिमागी हो, शारीरिक, अथवा भाषा संबंधी। किसी शिक्षित मनुष्य का जो चित्र हमारे सामने है वह केवल किसी दक्षता प्राप्त मनुष्य का चित्र नहीं है। दक्षता तो चोरों द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है, दगाबाजी के जरिये तरक्की करने वालों द्वारा भी, और उन लोगों द्वारा भी जो कि झूठ को सच की तरह पेश कर सकते हैं। इस तरह की दक्षता शिक्षा का ध्येय नहीं हो सकती। अपने ध्येय

को और भी साफ करने के लिए हमें यह परिभाषा भी देनी होगी कि काम तभी सचमुच शिक्षाप्रद बन सकता है जब केवल व्यक्तिगत ध्येयों से ज्यादा ऊंचे मूल्यों को प्राप्त करने की दृष्टि से किया जाता है, ऐसे मूल्यों को जो हमारी अपनी लाभ हानि के विचार से ऊपर है, जिन्हें हम स्वीकार करते हैं और जिनकी कद्र करते हैं। जो अपने किसी मतलब से काम करता है वह निःसंदेह दक्षता प्राप्त कर लेता है, लेकिन हम उसे वास्तविक रूप मे शिक्षित नहीं मानेंगे। उच्चतर मूल्यों के लिए काम करने वाला ही दरअसल अपने को शिक्षित करता है। इन उच्चतर ध्येयो की पूर्ति की आकांक्षा द्वारा वह आत्मसुख या आत्मतृप्ति नहीं चाहता; अपनी सारी योग्यता और शक्ति वह अपने काम को पूरा करने में इसलिए लगा देता है कि ऐसा करना वह अपना कर्त्तव्य मानता है। इससे उसके व्यक्तित्व के विकास मे मदद मिलती है, इससे उसकी नैतिक प्रकृति उन्नत होती है। क्योंकि, नैतिक शिक्षा सिवा इससे और है ही क्या कि कोई आदमी संतोष और सुख की अपनी सारी व्यक्तिगत इच्छा को उन मूल्यो की प्राप्ति के संकल्प मे बदल दे जिन्हें वह महत्त्व देता है, और जिस उच्च ध्येय के लिए वह समर्पित है उसकी प्राप्ति के योग्य अपने काम को बनाने के प्रयत्न में लगा रहे ? इस प्रकार, दस्तकारी और शुद्ध मानसिक क्रिया, दोनो को ही वास्तविक रूप में शिक्षाप्रद बनाया जा सकता है; और ये दोनो ही समान रूप से निर्जीव और इसलिए बेकार भी, बन जा सकते हैं। सही मानो में काम वाला स्कूल वह है जहां बच्चे योजना बनाने की, काम शुरू करने के पहले उसके तरीकों और साधनों पर पूरा विचार करने की, और जो काम हाथ में लिया था उसके पूरे हो जाने पर अपनी उपलब्धियो की सही परीक्षा करने की बात सीखते है। इस तरह के धीरे-धीरे यह महसूस करने लगेंगे कि जो भी काम वे हाथ में लेंगे उसे पूरा करने के लिए अगर वे उसकी जरूरत के मुताबिक अपनी पूरी शक्ति और दक्षता का इस्तेमाल नहीं करेंगे, पूरी सावधानी और एकाग्रता के साथ उसे नहीं करेंगे, तो वे अपने प्रति भी ईमानदारी नहीं बरतेंगे और अपने उद्यम के साथ भी अन्याय करेगे. . .''[1]

बुनियादी शिक्षा के इस प्रयोग का, जहां तक कि डा. ज़ाकिर हुसैन का सवाल है, अंत हो गया, जब कि 1948 मे उन्होने हिंदुस्तानी तालीमी संघ से इस्तीफा दे दिया। दस साल बाद उन्होंने बुनियादी स्कूलो के बारे मे अपना अंतिम निर्णय 12, 13 और 14 दिसंबर को विज्ञान भवन में पटेल स्मारक व्याख्यानमाला[2] के सिलसिले में दिया।

''बुनियादी स्कूलों के नाम से मशहूर 'काम वाले' स्कूलों की स्थापना के लिए हमने अब तक अपने देश मे जो प्रयत्न किये हैं उनके बारे में मेरा खयाल है, मुझे आपको कुछ बताना चाहिए। मैं जो कुछ कहूंगा वह काफी व्यापक रूप मे होने वाले मेरे प्रेक्षण पर और उन्होंने मेरे मन पर जो छाप छोड़ी है उस पर आधारित होगा। वह किसी सुव्यवस्थित, वस्तुनिष्ठ

---

[1] 'टू इयर्स आफ वर्क, पृ. 31-33।

[2] सूचना और प्रसारण मंत्रालय, नईदिल्ली के पब्लिकेशन्स डिवीजन (प्रकाशन विभाग) द्वारा प्रकाशित, सितंबार 1959, पृ. 82-84।

अध्ययन का परिणाम नहीं होगा । समूचे भारत पर भी वह लागू नहीं समझा जा सकता । लेकिन बुनियादी स्कूलों के सामने जो ध्येय होने चाहिएं और जिन तक पहुंचने की औचित्यपूर्वक उनसे आशा की जानी चाहिए इसके बारे में कुछ जानता हूं, और चूंकि मैंने काफी बड़ी संख्या में जहां-तहां इन्हें चलते देखा है, इसलिए आपकी इस बात से कुल मिला कर मुझे भी सहमत होना पड़ रहा है कि हम वे नतीजे नहीं दिखा सके जो समुचित रूप से संगठित 'काम वाले' स्कूलों में आसानी से दिखाए जा सकते थे । कारण कितने ही हैं, अधिकांश तो संगठन संबंधी ही, लेकिन एक बहुत ही महत्वपूर्ण शैक्षिक कारण भी है, और वह यह कि इन स्कूलो के अंदर आमतौर पर हमने काम की आवश्यक शैक्षिक शर्तों को अपने सामने नहीं रखा ।. . .ठीक जिस तरह हम एक तथाकथित बौद्धिक, किताबी, स्कूल को स्मरण शक्तिवर्द्धक एक यांत्रिक स्कूल मे परिणत कर दे सकते हैं, जैसाकि वस्तुतः, खुदा रहमत करे, लाखों स्कूलों को इस तरह कर दिखाया गया है कि कोई कुत्ता तक उसके खिलाफ नहीं भूंकता और फिर भी जिनकी तादाद दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है, उसी तरह हम काम वाले, यानी बुनियादी स्कूलों को भी यांत्रिक कार्य में परिणत कर सकते हैं, और दरअसल कई स्कूलों को तो यह शक्ल देने मे हमें सफलता मिली भी है । यहां काम की व्यवस्था बाहर से, असंबद्ध रूप में, होती है और सभी के लिए एक ही जैसी; बच्चे के अंदर किसी स्वतःस्फूर्त प्रेरणा की गुंजाइश की कोई झलक तक नहीं; उसे रत्ती-भर भी पता नही कि वह जो काम कर रहा है उसके पीछे व्यक्तिगत या सामाजिक ध्येय भी हो सकता है । काम शुरू करते वक्त उसमें उसके लिए कोई भी दिलचस्पी नहीं रहती, सिवा शायद एक कुतूहल के, और अपने हाथों से कुछ करने के आकर्षण के । जैसा उससे कहा जाता है वह करता चलता है । उसके सामने कोई समस्या नहीं होती जिसे हल करना हो । स्वभावतः उसे अपनी समस्याओं के बारे मे कुछ भी सोचने समझने का मौका नहीं मिलता, क्योंकि, दरअसल उसके सामने कोई समस्या आती ही नहीं । जब उसके सामने कोई समस्या है ही नहीं तो उसे हल करने के कोई और भी तरीके हो सकते हैं, यह उसे विचार ही नहीं करना पड़ता । उसे एक खास बंधे हुए ढंग से काम करना होता है, और अपने शिक्षक के साथ मिलकर उसने कोई रास्ता निकाला है—इस नकली आनंद में भी वह नहीं रम सकता । कभी-कभी ही उससे काम कराया जाता है—वह भी साधारणतः नियमित रूप से नहीं—और जो लोग काम कराते हैं वे साधारणतः उसके हर नतीजे से संतुष्ट रहते हैं । आपको याद ही होगा कि अनियमित धंधे की यही विशेषता रहती है और, जैसा कि मेरा सुझाव था, शिक्षा का काम यही है कि वह उसे ऐसे लगन वाले काम में परिणत करने का रास्ता साफ करे जो अधिक-से-अधिक अच्छे ही नहीं, बल्कि और भी बेहतर परिणाम प्राप्त करने पर जोर देता हो, जब तक कि पूर्णता प्राप्त न हो जाए. . .

''अगर बुनियादी स्कूलों में से कितने ही आज भी, उन उम्रों के बच्चों वाले दूसरे स्कूलों के मुकाबले, कहीं ज्यादा अच्छे हैं तो इसकी वजह यह है कि आसपास की जिंदगी के साथ उनका संबंध कम दूरी का है और वे सामान्य मूल्यों को लेकर चलाए जाने वाले छोटे-छोटे

समुदायों के ही रूप में अभी तक चलाए जा रहे हैं। उनमें कराया जाने वाला व्यावहारिक काम, शैक्षिक दृष्टि से कितनी भी त्रुटियां उसमें क्यों न हों, उस काल के उनके विशिष्ट मानसिक गठन के अधिक निकट रहता है, और इसलिए इन स्कूलों में भी कुछ अच्छी बातें आ ही गई हैं। जब तक इन स्कूलों को हम शिक्षाप्रद काम के जरिये शिक्षा देने वाले स्थान नहीं बना डालते तब तक हमें संतोष नहीं होना चाहिए. . .।"[1]

---

[1] द इयर्स आफ वर्क, पृ. 87-88।

6. अनर्थ की ओर

राष्ट्रीय संग्राम के फलस्वरूप राजनीतिक और प्रशासनिक प्रतिभा वाले कितने ही शिक्षक पढ़ाना छोड़ राजनीति के मंच पर आ खड़े हुए थे, और आश्चर्य है कि डा. ज़ाकिर हुसैन राजनीतिक जीवन में प्रवेश करने की आकांक्षा को दबा कर रख सके। आकांक्षा तो थी ही, और जब तब वह इस भावना के कारण और प्रबल हो उठी थी कि सही ढंग से चीजें नहीं हो रही हैं। सार्वजनिक रूप में उन्होने अपने विचार व्यक्त नहीं किये, लेकिन आपसी बातचीत में उनकी निराशा प्रकट होती रही थी और यह खरी आलोचना भी करते थे। जहां तक मुझे याद है, वह इस फैसले के पक्ष में नहीं थे कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल इस्तीफा दे। सिद्धांतों का, खासतौर से नैतिक सिद्धांतों का, राजनीति मे एक तात्विक मूल्य है, मगर हर स्थिति को वस्तुनिष्ठ रूप मे देखना होता है और अवसर के अनुकूल कदम उठाने होते हैं, व्यवहार कुशलता और दूरदर्शिता के साथ। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का खुद इस्तीफा दे देना एक बात थी, और ब्रिटिश सरकार द्वारा वैसा करने के लिए बाध्य कर दिया जाना बिलकुल ही दूसरी बात। दोनों में आकाश-पाताल का अंतर है। पहली स्थिति में, इस फैसले का आधार होता–उत्पन्न प्रश्नो के बीच सही संतुलन, ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ असहयोग करके अप्रत्यक्ष रूप से फासिज्म की सहायता को उचित मानने, और फासिज्म का विरोध करने के लिये साम्राज्यवाद का यदि समर्थन नहीं तो अप्रत्यक्ष रूप से उसका औचित्य स्वीकार करने, के बीच सैद्धांतिक रूप में किया जाने वाला सूक्ष्म अंतर। दूसरी स्थिति में, साम्राज्यवाद का नग्न रूप प्रकट हो जाता, और फासिज्म की खुलकर निंदा करते हुए उसका विरोध और भी अधिक औचित्यपूर्ण हो जाता। कांग्रेस कार्यसमिति के सितंबर वाले प्रस्ताव को जो भी पढ़ेगा वह उसे जटिल और अनिर्णयात्मक विचार के ही एक ऐसे उदाहरण के रूप में लेगा जिसने कि कोई भी स्पष्ट मार्गदर्शन नहीं दिया।[1]

---

[1]अप्रैल 1942 में, हिन्दुस्तानी तालीमी संघ की सालाना बैठक के बाद, गांधी जी के साथ हुई डा. ज़ाकिर हुसैन की मुलाकात मुझे याद है। युद्ध की बात सभी के दिमागों पर छाई हुई थी, और गांधी जी ने लगभग पैंतालीस मिनट तक चलने वाली अपनी बातचीत में भारत पर होने वाले उसके असर के बारे में अपने विचार

कांग्रेसी मंत्रिमंडल के इस्तीफे का एक दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि उसने मुस्लिम लीग के लिये मैदान खुला छोड़ दिया, जिसके नेतृत्व का न तो कोई अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण था और न ही जिसकी दिलचस्पी उन सिद्धांतों में थी जो यूरोप के युद्ध में टकरा रहे थे। उसका एकमात्र उद्देश्य था मुसलमानों के अंदर हिंदू विरोधी भावना को भड़काना और इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये हर मौके से फायदा उठाना। सात प्रांतों में अपने मंत्रिमंडलों के जरिये जितनी भी सत्ता कांग्रेस को मिली हुई थी उसका भी त्याग कर दिये जाने के बाद जब लीग ने 23 मार्च, 1940 को अपनी लाहौर की बैठक में पाकिस्तान वाले प्रस्ताव द्वारा अपने राजनीतिक ध्येयों को स्पष्ट किया, तब लीग की कार्रवाइयो का जवाब देने के लिये वह कुछ भी करने लायक नहीं रह गई थी। वह प्रस्ताव घोर अनिष्ट का सूचक था, और सभी निष्ठावान देशभक्तों की भांति ही, डा. ज़ाकिर हुसैन भी अत्यंत क्षुब्ध हो उठे थे। 1935 में काशी विद्यापीठ का जो दीक्षांत अभिभाषण उन्होंने दिया था उसी में वह सार्वजनिक रूप से अपना यह भय प्रकट कर चुके थे कि भारतीय जाति के एक अविकल अंग के रूप में मुस्लिम संप्रदाय के अस्तित्व की समस्या पर उदारतापूर्वक और राजनीतिमत्ता के साथ विचार नहीं किया जा रहा है। उसके बाद भी कोई ऐसी बात नहीं हुई जिससे उनकी नैराश्य भावना घट पाती। यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि बुनियादी शिक्षा की परिभाषा और उसके प्रचार का दायित्व लेने के जगह अगर वह उस समस्या के समाधान में ही अपने को अर्पित कर देते, तो भी कोई खास फर्क पड़ता। मगर उस हालत में वह अपने को कम-से-कम यह सांत्वना जरूर दे पाते कि राष्ट्रीय नीति का जिस जगह जीवन की यथार्थताओं के साथ मेल बिठाना सबसे ज्यादा जरूरी था ठीक यहीं पर उन्होंने वह सब किया जो उनके बस का था। मगर अब तो बुनियादी शिक्षा में उनके उलझ जाने से लोग यही मान बैठे कि वह हर छोटे-बड़े मामले में कांग्रेस के साथ थे, और जो मुसलमान लीग में थे या उसके समर्थक थे वे अपने हित के किसी भी मामले में उन्हें उनके पक्ष को पेश करने का अधिकार नहीं समझते थे। लीग की नीति ने जब पाकिस्तान वाले प्रस्ताव के रूप में निश्चित रूप ग्रहण कर लिया तब सभी मामलों ने पूरी तरह से राजनीतिक जामा पहन लिया, और किसी शिक्षाविद् के लिये उसमें कोई जगह नहीं रह गई। अपने दिल के दर्द को प्रकट करने के सिवा अब उनके लिये करने को रह ही क्या गया था :

पेश किये। जब हम लोग अपनी कुटिया में लौट रहे थे तब डा. ज़ाकिर हुसैन ने मुझसे पूछा, 'गांधी जी ने जो कुछ कहा, कुछ समझ में आया ?'' मैंने जवाब दिया कि नहीं। ''मैं भी नहीं समझ पाया,'' एक गहरी सांस लेकर वह बोले। ''अब क्या होगा ?''

गांधी जी तब संदेह और दुविधा में पूरी तरह डूबे हुए थे और उनकी वह बातचीत एक तरह से उनके अंतर्द्वंद्वों को ही प्रतिबिंबित करने वाले असंबद्ध विचारों का प्रकाशमात्र थी। 'भारत छोड़ो' आंदोलन को शुरू करने वाले फैसले के ठीक पहले वाली अवस्था थी वह।

''हमारा यह सौभाग्य है कि बाबू राजेंद्र प्रसाद हमारे बीच आज मौजूद हैं, और औपचारिक रूप में वही इस सम्मेलन का उद्घाटन करेंगे । उनके माध्यम से अपने देश के सभी राजनीतिक विचारों के नेताओं तक मैं शिक्षा कार्य में लगे हुए सभी लोगों का यह साग्रह अनुरोध पहुंचा देना चाहता हूं कि वे हमारे राजनीतिक वातावरण को संयत और उन्नत बनाएं और जितनी जल्दी संभव हो, एक ऐसे राज्य की नींव डालें जहां एक संप्रदाय दूसरे संप्रदाय पर भरोसा करेगा, कमजोर मजबूत से भयभीत नहीं रहेगा, गरीब आदमी को अमीर आदमी न चोट पहुंचा सकेगा और न अपमानित कर पाएगा; एक ऐसे राज्य की नींव जिसमें विभिन्न संस्कृतियां साथ-साथ उन्नति करती रहेंगी, और उनमें से प्रत्येक ही दूसरी संस्कृति की अच्छाइयों को उभारकर सामने ले आएगी; एक ऐसे राज्य की जिसमें हर नागरिक अपनी प्रकृति में सुप्त पड़ी अपनी सर्वोत्तम अच्छाइयों को पूरी तरह विकसित कर सकेगा, और अपने व्यक्तित्व के संपूर्ण साधनों का समाज की सेवा के निमित्त उपयोग कर पाएगा । मैं जानता हूं कि इस तरह का अनुरोध करना तो आसान है, लेकिन उसे पूरा करना किसी भी एक व्यक्ति के बस में नहीं । मैं महसूस करता हूं कि राजनीतिक नेताओं के सामने आज पहले से कहीं बड़ा मौका आया है कि वे विभिन्न संप्रदायों और वर्गों की आकांक्षाओं और कठिनाइयों को सहानुभूतिपूर्वक समझ कर और सत्ता तथा विशेषाधिकारों का खुले दिल से आपस में विनिमय करके एक नैतिक, प्रगतिशील राज्य की नींव डाले । जब तक ऐसा नहीं होता तब तक हम शिक्षकों की हालत शोचनीय ही रहेगी । क्योंकि इस रेगिस्तान में हम कब तक अपने हल चलाते रहेंगे ? कब तक हम संदेह और अविश्वास के जहरीले धुएं के बीच अपनी योजनाओं, अपने विचारों, अपने सपनों का दम घुटना बरदाश्त कर पाएंगे ? कब तक हम इस डर से थरथर कांपते रहेंगे कि एक भी राजनीतिक गलती, एक जरा सी हठधर्मी, उस सबको हमेशा के लिये तहसनहस कर दे सकती है जिसे की पूरी जिंदगी की मेहनत और मुहब्बत से हमने हासिल किया है ? हमारा काम गुलाब के फूलों की सेज नहीं है अक्सर ही हमें निराश हो जाना पड़ता है, अक्सर ही हमारे दिल टूट जाते हैं । जब कभी हम हिम्मत हार बैठे, तब किस का सहारा लें ? क्या हम इस समाज का सहारा लें, जहां कि भाई भाई का दुश्मन है, जिसमें कोई भी मूल्य नहीं है; इस समाज का, जिसके पास कोई भी ऐसा गीत नहीं जिसे सब मिलाकर एक साथ गा सकें, कोई भी ऐसा त्यौहार नहीं जिसे सभी मना सकें, कोई ऐसी खुशी नहीं जिसमें सभी शरीक हों, कोई से गम नहीं जिनका दर्द सभी दिलों को एक साथ जोड़ सकें ? हमारी तकलीफ धीरज की सीमा को पार कर रही है । हमें राहत दीजिये, आज ही हमें राहत चाहिये; क्योंकि कौन कह सकता है, कल क्या होने वाला है ?''[1]

डा. ज़ाकिर हुसैन ये भले ही जानते रहे हों कि सिर्फ एक शिक्षक होने के नाते उन्हें आसानी से बिलकुल अलग रहने के लिये कह दिया जा सकता है, लेकिन किसी भी

---

[1] 'टू इयर्स आफ वर्क' (काम वाले दो साल), हिन्दुस्तानी तालीमी संघ, सेवाग्राम, वर्धा पृ. 28-29 ।

राजनीतिक परिवार में वह किसी गरीब रिश्तेदार की हैसियत लेकर रहने को तैयार नहीं थे, और न यही मानने को कि मारकाट वाला रास्ता सबो की भलाई का रास्ता है। 1941 में करांची में होने वाले अखिल सिंध शिक्षा सम्मेलन के अध्यक्षीय अभिभाषण में उन्होंने सिंध में तथा अन्यत्र भी सांप्रदायिक स्कूलों की वृद्धि का स्वागत किया था, "बावजूद इस तरह की गैरजिम्मेदाराना चर्चा के कि सांप्रदायिक स्कूल सिद्धांत की दृष्टि से गलत और व्यवहार में नुकसानदेह हैं," और "सभी देवी देवताओं के बीच सबसे अधिक अस्थिर और अविवेकी बहुमत वाले देवता" को छोड़ किसी के भी प्रति निष्ठा न रखने की मांग के विरुद्ध अपना प्रतिवाद प्रकट किया।[1] लीगी जमात के साथ उनके संबंध की बात पहले कही ही जा चुकी है। मुस्लिम लीग के नेताओं को, जिनका प्रभाव तेजी से बढ़ता जा रहा था, कुछ वक्त तक यह दिखाने की फिक्र रही कि उनकी दिलचस्पी सिर्फ राजनीतिक नीतियों में ही नहीं थी, बल्कि मुस्लिम संप्रदाय की आम भलाई और उनकी शिक्षा संस्थाओं में भी थी। राष्ट्रयवादी मुसलमानों के सामने दो ही रास्ते थे : या तो लोककल्याण वाली संस्थाओं से मुस्लिम लीगियों को दूर रखने की कोशिश करें, और या ऐसा मुमकिन न होने पर, उन संस्थाओं को खुद ही छोड़ कर चले जाएं। डा. ज़ाकिर हुसैन लीग के राजनीतिक ध्येयों के बिलकुल खिलाफ थे, और उससे भी ज्यादा उस भाषा और उस तरीके के जिनमें उन ध्येयो को व्यक्त किया गया था। मगर अपने ही खास तरीके से उन्होंने यही फैसला किया कि, एक शिक्षक के नाते, उनका कर्त्तव्य यह है कि फायदेमंद सामाजिक काम करने के लिये जहां-जहां भी सहयोग संभव हो सके, सहयोग का ही कठिन रास्ता चुना जाए।[2]

1942 में वह ऐंग्लो ऐरेबिक कालेज की निरीक्षक सभा के सदस्य और उपाध्यक्ष चुने गए। जिन्ना के प्रमुख सहायक नवाबजादा लियाकत अली खां उसके अध्यक्ष थे और दिल्ली के चीफ कमिश्नर के वित्तीय सलाहकार जाहिद हुसैन कोषाध्यक्ष। लियाकत अली खां अपने राजनीतिक कामों में इतने ज्यादा फंसे रहते थे कि कालेज के मामलों के लिये उनके पास वक्त ही नहीं रहता था, मगर अपने दफ्तरशाही तरीकों की वजह से जाहिद अली बराबर ही झगड़े पैदा करते रहते थे। लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन पर उन दोनों का ही भरोसा था और उन्होंने उन्हें हमेशा ही स्थितियों और समस्याओं का सही मूल्यांकन करते और सही सलाह देते पाया। इस तरह, व्यवहार में एक तरह से वही कालेज के सर्वेसर्वा थे, हालांकि लियाकत अली खां और जाहिद हुसैन दोनों ने यही सोच कर पद स्वीकार किये थे कि एक मुस्लिम संस्था होने के नाते बस कालेज को चलाने की जिम्मेदारी मुस्लिम लीग की

---

[1]वी. एस. माथुर (संपादक), ज़ाकिर हुसैनः एडुकेशनिस्ट एंड टीचर (शिक्षाविद् और शिक्षक), पृ. 58।

[2]किंतु सहयोग सदा ही संभव नहीं था। उ. प्र. के शिक्षा निदेशक ने, जिनकी बुनियादी शिक्षा संबंधी अपनी अलग ही धारणा थी, शायद हिन्दुस्तानी तालीमी संघ का दूसरा सम्मेलन इलाहाबाद में बुलाना चाहा था। गांधी जी को इसका पता चला तो उन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन को तार दिया कि वह इनसे संपर्क स्थापित करें। डा. ज़ाकिर हुसैन ने तार से जवाब दिया : उनसे संपर्क स्थापित नहीं कर सकता। अछूत।

होनी चाहिये । सर मारिस ग्वायर जब दिल्ली विश्वविद्यालय के कुलपति हुए तब डा. ज़ाकिर हुसैन ने उनका भी सम्मान और सहयोग प्राप्त किया । कालेज के सभी कागजात 1947 के दंगों में बरबाद कर दिये गए थे और यह दिखाने के लिये अब कुछ भी मौजूद नहीं है कि उसको स्थिरता प्रदान करने और उसके प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने में उनका कितना बड़ा हाथ था । मगर इसके दुर्भाग्यपूर्ण परिणामों में एक था स्थानापन्न प्रिंसिपल के. ए. चिश्ती द्वारा, जो अपनी तत्कालीन और भावी हैसियत के बारे में चिंतित रहते थे, उन पर की जाने वाली ज्यादतियां, क्योंकि वह बराबर ही उनका समर्थन पाने के लिये आतुर रहते थे । कालेज के प्रशासन को लेकर अपनी परेशानियों के बारे में उनके पास हमेशा ही कहने के लिये बहुत-कुछ-रहता था । मुझे ऐसे मौके याद हैं जब कि जामिया के अहाते में वह डा. ज़ाकिर हुसैन के पास कोई दस बजे सवेरे ही आ धमकते थे, दोपहर के खाने तक बातें ही करते चले जाते थे, फिर खाने के बाद चाय का वक्त हो जाता था, और चाय के बाद राते के खाने का, और उसके बाद भी इतनी देर तक बने रहते थे कि दिल्ली जाने वाली आखिरी बस भी चली जाती थी, और उसके बाद और भी ज्यादा रात तक । चिश्ती ऊंची आवाज में बोलते थे, और अपने घर की छत पर से, जिसके सामने ही बैठक का वह कमरा और आंगन था जहां डा. ज़ाकिर हुसैन के साथ उनकी बैठक जमी होती थी, मैं उन्हें बोलते सुन सकता था, जबकि डा. ज़ाकिर हुसैन धीरज के साथ सिर्फ उनकी बातों सुने जाते थे । मुझ में वह धीरज नहीं था और इसलिये उनके वक्त की इस बरबादी पर मैं अंदर ही अंदर कुढ़ने और हाथ पांव पटकने के सिवा कुछ भी नहीं कर पाता था । चिश्ती में विवेक नाम की कोई चीज तो जैसे थी ही नहीं । वहां आते ही वह अपनी गाड़ी ईंधन की लकड़ियों से भर लेते थे, और लकड़ियों की उन दिनों बड़ी तंगी थी ।

बहुसंख्यक सुन्नी और अल्पसंख्यक शिया लोगो को लेकर मुसलमानों के बीच एकीकरण के मामले में एक समस्या उठी हुई है । गैर मुसलमानों को इसका पता शिया सुन्नी दंगों के वक्त ही चल पाता है, लेकिन सुन्नी और शिया लोग, अपनी धार्मिक भिन्नता को कायम रखने के लिये, हमेशा ही, लेकिन आमतौर पर आपसी बातचीत में, उन भिन्नताओं का राग अलापते ही रहते हैं जिन्हें कि वे महत्त्वपूर्ण मानते हैं । डा. ज़ाकिर हुसैन के एक दोस्त ने एक बार उलाहना दिया कि शिया लोगों के लिये उन्होंने कभी कोई भाषण नहीं दिया । दरअसल बात तब उठी जब कि मुहम्मद साहब के नवासे इमाम हुसैन पर, जिनकी शहादत को इस्लाम के इतिहास की सबसे अधिक महत्त्व की घटनाओं में गिना जाता है, उनसे एक भाषण प्रसारित करने का अनुरोध किया जा रहा था । डा. ज़ाकिर हुसैन किसी तरह भी राजी नहीं हो रहे थे । वह दोस्त जब नहीं माने, तब बोले, "अच्छी बात है, मगर यह भाषण मेरे लिये आपको ही लिखना होगा । आप जानते ही हैं कि लिखने के काम से मुझे कितनी नफरत है ।" कुछ दिन बाद वह दोस्त एक मसौदा तैयार करके लाए । डा. ज़ाकिर हुसैन ने उसे पढ़ा और बिलकुल ही पसंद नहीं किया । उसकी घिसी-पीटी, रूढ़िवादी, शक्ल ने उन्हें इतना उत्तेजित कर दिया कि वह फिर खुद ही अपना भाषण लिखने बैठ गए ।

यह प्रसारित हुआ, फिर हजारों की संख्या में छपा और बिका, और इस विषय का प्रायः सबसे अधिक स्मरणीय भाषण सिद्ध हुआ [1]।

छात्र आंदोलन की ओर डा. ज़ाकिर हुसैन 1941 में आकृष्ट हुए, और आगरा तथा श्रीनगर में उन्होंने अखिल भारतीय छात्र संघ (आल इंडिया स्टूडेंट्स फैडरेशन) की बैठकों में अपने अभिभाषण दिये। ये अभिभाषण यों तो स्वतः ही बड़े मूल्यवान हैं, किंतु इन बैठकों के संचालकों का इरादा यह थोड़े ही था कि वे डा. ज़ाकिर हुसैन से मार्ग दर्शन प्राप्त करें या उनके दिखाए उस रास्ते पर चलें जिसे उन्होंने बिना पूछे ही उन्हें दिखाना चाहा था। उन्होंने तो अभिभाषण देने के लिये उन्हें कुछ दूसरे ही मतलब से बुलाया था, और अगर उन्होंने सुनने लायक कोई बात न भी कही होती तब भी वे पूरे संतुष्ट थे। बाद को, विभिन्न अखिल भारतीय छात्र संगठनों के कार्यों को समन्वित करने की एक बात चली, और डा. ज़ाकिर हुसैन को छोड़ और कोई भी व्यक्ति उन्हें नहीं मिला जो उनकी संयुक्त बैठकों का सभापतित्व करने के लिये तैयार हो। लेकिन वह बात भी, पत्रकारिता की भाषा में, एक राजनीति चकमे के तौर पर ही थी, और तभी खत्म हो गई जब कि मित्र राष्ट्रों की जीत पक्की हो गई। डा. ज़ाकिर हुसैन के लिये यह सिर्फ इतने वक्त और शक्ति की बरबादी ही साबित हुई।

1943 में दिल्ली मुस्लिम वक्फ कानून के अंतर्गत जब चीफ कमिश्नर ने दिल्ली के सुन्नी मजलिसे औकाफ का पुनर्गठन किया तब उन्होंने उन्हें भी उसका एक सदस्य नामजद किया; और उन्होंने भी अपनी व्यक्तिगत देखरेख में दरियागंज के एक ऐसे यतीमखाने को ले लिया जिसके खर्च का इंतजाम मजलिस ने और एक दूसरे ट्रस्ट ने अपने हाथ में लिया था। इस यतीमखाने के बारे में सिफारिशें करने के लिये मजलिसे औकाफ ने जो उपसमिति नियुक्त की थी उसकी रिपोर्ट उन्होंने ही लिखी थी, और उसमें जो तबदीलियां सुझाई गई थीं उनमें जाहिर है कि परिस्थितियों की क्रूर चपेट में आकर यतीम हो जाने वाले बच्चों के लिये दिल में कितनी हमदर्दी और मुहब्बत थी।

''इस संस्था को यतीमखाना न कहा जाए। 'बच्चों का घर' इसका ज्यादा सही नाम होगा।

''इस संस्था के अधीक्षक को, बच्चों के साथ पेश आते वक्त, उनके दिमाग से जहां तक मुमकिन हो यह बात धो-पोंछ डालनी चाहिये, कि वे अनाथ हैं।

''इस दृष्टि से बच्चों के खाने और कपड़े का खासतौर से ध्यान देना जरूरी होगा। उन्हें खाना खाने के लिये दाताओं के घरों पर नहीं जाना चाहिये।. . .[2] उन्हें दूसरों के फटे

---

[1]दुर्भाग्यवश, उनके अधिकांश भाषण, जो छप चुके हैं वे भी, अब कठिनता से ही मिल पाते हैं। कश्मीर विश्वविद्यालय में शिक्षा के प्रोफेसर आगा अशरफ अली को जितने भी मिल सके उनका संग्रह कर डाला, लेकिन उनके उस संग्रह को, 1947 की जलंधर वाली अपनी उस भाग्य-निर्णायक यात्रा के ठीक पहले, डा. ज़ाकिर हुसैन ने उनसे मंगा लिया था और उनके असबाब के साथ वह भी गायब हो गया।

[2]मुसलमानों के बीच यतीमों को खिलाने का एक रूढ़िगत धार्मिक रूप।

पुराने कपड़े पहनने को नहीं दिये जाने चाहिये।. . .उनके लिये जो कपड़े तैयार किये जाएं उनकी कटाई सिलाई इस तरीके से न होने पाए कि वे किसी सूरत में भी यतीमों के कपड़े जान पड़ें।. . .यतीम होने की बिना पर उन्हें चंदा मांगने के लिये न भेजा जाए. . ."

'बच्चों का घर' के वर्तमान अधीक्षक, मुहम्मद फारूक, को डा. ज़ाकिर हुसैन ने ही चुना था, और फरूक तथा उनके सहयोगी अब्दुस् शकूर की निष्ठा तथा उत्साहपूर्ण सहायता से उन्होंने इस नए 'बच्चों के घर' को एक छात्रावास में परिणत कर डाला, जहां के बच्चों की पढ़ाई का इंतजाम आसपास के स्कूलों में किया गया। छात्रावास की शोभा बढ़ाने के लिये, और अनाथालयों में आमतौर पर क्षुद्रता और मायूसी के जो भी चिन्ह दिखाई देते हैं उन्हें वहां से धो-पोंछ डालने के लिये, कुछ भी उठा नहीं रखा गया। 'बच्चों का घर' को जो रूप डा. ज़ाकिर हुसैन की बदौलत मिला था उसे ये लोग चुपचाप, और वैसी ही लगन के साथ, कायम रखे हुए हैं, और उसके काम को देख सिर्फ एक ही बात खलती है कि डा. ज़ाकिर हुसैन को फरूक और अब्दुस शकूर जैसे और भी लोग नहीं मिल सके जो कि उनके ध्येयों की पूर्ति में उनके सहायक होते।

शिक्षा संबंधी मामलों में लीग और कांग्रेस दोनों के ही नेताओं के साथ संपर्क रहने के कारण डा. ज़ाकिर हुसैन उनके बीच संबंध स्थापित करने का काम आसानी से कर सकते थे। लेकिन राजनीति में उनके न रहने से उनकी ईमानदारी और सद्भाव में तो सभी को पूरा भरोसा था, पर यह बात किसी ने भी नहीं सोची कि उसका राजनीतिक दृष्टि से भी उपयोग किया जा सकता था। सभी इतने स्पर्श कातर भी थे कि अगर डा. ज़ाकिर हुसैन अपनी ओर से सद्भाव और मेलजोल को बढ़ाने के लिए कोई कदम उठाते तो अपने प्रति संदेह उत्पन्न किये बिना अपने विचारों को व्यक्त करने के लिये अपने को स्वतंत्र भी न मान पाते। एक बार वह रेल में सफर कर रहे थे, कि एक मुसलमान मुसाफिर ने, यह छिपाए रखकर कि वह एक पत्रकार है, उनके साथ बातचीत शुरू कर दी, और बाद को उसका एक विवरण प्रकाशित कर दिया गया जिससे यह प्रगट होता था कि वह पाकिस्तान के पक्ष में हैं। यह विवरण उर्दू के एक अखबार में छपा। गांधी जी को उसके बारे में जब बताया गया तो वह इस हद तक विचलित हो गए कि उन्होंने राजकुमारी अमृत कौर को, जो तब दिल्ली में ही थी, डा. ज़ाकिर हुसैन से मिलने और असलियत का पता लगाने के लिये लिखा। डा. ज़ाकिर हुसैन के बारे में इस तरह की बात पर वह खुद तो विश्वास करने को तैयार नहीं थे, फिर भी वह पक्की खबर चाहते थे। डा. ज़ाकिर हुसैन तो पाकिस्तान की मांग के खिलाफ थे ही, और कोई वजह नहीं थी कि वह इससे उलटी राय क्यों प्रकट करते। यहीं उन्होंने उनसे कहा भी। मगर उनके अंदर हठधर्मी और कट्टरपन का सर्वथा अभाव रहने के कारण, हालांकि उनकी अपनी मान्यताएं बड़ी पक्की और गहरी थीं, यह बात वह समझ ही नहीं सकते थे कि पाकिस्तान की मांग जैसे परम महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर भी हमेशा एक ऐसे वातावरण में क्यों विचार किया जाता है जो संदेह, अविश्वास, भय और व्यक्तिगत द्वेष से दूषित है, और अगर कोई बहस की ही खातिर, उसके पक्ष में राय दे ही बैठता है तो उस पर राष्ट्रीयता विरोधी होने का इलजाम क्यों लगाया जाने लगता है; और

अगर कोई, फिर भी बहस की ही खातिर, उसे गलत या निरर्थक बताता है तो उस पर मुस्लिम विरोधी होने का इलजाम क्यों लगा दिया जाता है। उनकी अपनी अंतर्जात तथा अदम्य प्रवृत्ति तो उस बात से व्यक्त होती है जिसे उन्होंने 'अच्छा शिक्षक' शीर्षक अपनी एक रेडियो वार्ता में[1] उन बच्चों के बारे में कहा था कि जो अपराधी बन जाते हैं और जिनका सुधार संभव नहीं रह जाता : 'उसके आसपास की सारी दुनिया जब उसकी ओर से निराश हो उसे छोड़ बैठती है तब सिर्फ दो ही व्यक्तियो के दिल में आशा का दिया जलता रहता है-उसकी मां के, और उसके अच्छे शिक्षक के।'

डा. ज़ाकिर हुसैन राजनीति से अलग रहते थे, लेकिन वह इतनी प्रमुखता भी प्राप्त कर चुके थे कि अंतरिम सरकार में कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में उनके लिये जाने की बात भी उठी थी, हालांकि फिर वह बात खत्म भी हो गई। जान पड़ता है कि उन्होंने यह शर्त रख दी थी, जिसे पूरा करना उस समय की स्थिति में असंभव था, कि उन्हें सर्वसम्मति से चुना जाए। उन्होंने यह शर्त इसीलिये रखी थी कि इसके बिना उन्हें, एक छोटे पैमाने पर और एक सीमित परिधि में भी, आपसी मेलजोल और एकता के लिये काम करने का मौका न मिल पाता। जामिया मिल्लिया की रजत जयंती 1945 को मनाई जाने वाली थी,[2] और उन्होंने निश्चय किया कि उस मौके पर वह कांग्रेस और लीग को एक ही मंच पर ला खड़ा करेंगे। इस मामले में उन्होंने जो कुछ और जिस ढंग से किया था वह योजना बनाने की कला का एक उत्कृष्टतम नमूना था। जामिया मिल्लिया ने पहले एक शिक्षा प्रदर्शनी की, जिसमें उनके साथ एक चक्कर लगाने भर से देखने वाले के दिल में यह बात जमकर बैठ जाती कि उसके काम के पीछे रचनात्मक चिंतन और ठोस व्यवहारिक भावना है, और कतिपय महत्त्वपूर्ण लोगों को उन्होंने उसे देखने के लिये आमंत्रित किया, जिनमें फील्डमार्शल आकिनलेक भी थे। कोई जल्दबाजी नहीं की गई, कोई विक्रय कला नहीं दिखाई गई। इस बात के लिये काफी वक्त दिया गया कि बड़े-बड़े लोग आपसी बातचीत में एक दूसरे से फुरसत के साथ इस प्रदर्शनी की चर्चा करें। इसके बाद डा. ज़ाकिर हुसैन ने, इस प्रकार हुए संपर्कों से लाभ उठाकर, कायदे आजम जिन्ना से, हालांकि उन तक पहुंचना यों दुर्लभ था, एक मुलाकात पक्की करा ली, और उन्होंने छूटते ही कह दिया कि वह ऐसी हर चीज की मुखालफत करेंगे जो कांग्रेस की तरफ से होगी या जिसे कांग्रेस का समर्थन मिलेगा, और इसलिये वह बुनियादी शिक्षा के भी खिलाफ हैं। मुझे नहीं मालूम कि और भी किन-किन मामलों पर उन दोनों के बीच बातचीत हुई, लेकिन कुछ ही दिन बाद कुमारी फातिमा जिन्ना भी जामिया मिल्लिया वाली शिक्षा प्रदर्शनी को देखने के लिए आ पहुंची। उन्होंने निश्चय ही उसकी बड़ी तारीफ की होगी, क्योंकि और भी कुछ दिन बाद जिन्ना ने कहलवा भेजा कि रजत जयंती समारोह में वह भी आएंगे।

---

[1] 15 मई 1936 को प्रसारित।

[2] बाद को नवंबर 1946 तक के लिए स्थगित।

अगर हम यह याद रखें कि लड़ाई को खत्म हुए तब तक सिर्फ डेढ़ साल ही हुआ था, कि तनातनी पागलपन की स्थिति तक जा पहुंची थी, कि कलकत्ता वाला 'हत्याकांड' हो चुका था और उसकी दूषित प्रतिक्रियाएं हो रही थीं, और फिर यह भी, कि खाद्यान्नों के साथ-साथ हर माल की भारी कमी हो गई थी, तो हम समझ पाएंगे कि जामिया मिल्लिया ने इतने बड़े पैमाने पर अपनी रजत जयंती का समारोह करने की जो योजना बनाई थी वह कितने बड़े दुस्साहस की बात थी। समूचे देश मे लगभग दो हजार लोगों को निमंत्रण दिये गए थे जिनके ठहरने और खाने पीने का इंतजाम एक ऐसी जगह किया गया था जहां न बिजली थी और न पानी। एक पूरी बस्ती ही बसानी थी और जामिया मिल्लिया के अध्यापकों, कर्मचारियों और विद्यार्थियों ने ही सड़कें बनाईं और पानी के नल बिठाए। बेगम कुदसिया जैदी ने, जो कि रामपुर की रियासत के तत्कालीन दीवान कर्नल बी. एच. जैदी की पत्नी थीं, मेहमानों के रहने और बिठाने की व्यवस्था अपने हाथ में ली; दल बादल के नाम से मशहूर एक बहुत ही बड़ा तंबू और कितनी ही छोलदारियां रियासत रामपुर से उधार मंगा कर उनकी निगरानी मे खड़ी कर दी गई। शहर में लगे हुए कर्फ्यू को भंग करके पकड़े जाने का जोखिम उठाकर भी उन्होंने कहीं से बिजली देने, और इस अवसर पर खोद गए एक कुएं से पानी निकालने के लिए बिजली के दो जैनरेटर भी मंगा लिये। रसोईघर की जिम्मेदारी अब्दुल्ला आटे वाले नाम के एक व्यक्ति को दी गई थी जो बहुत बड़ी-बड़ी दावतों का इंतजाम करने की अपनी क्षमता के लिये मशहूर थे। मगर वह भी हार मान गए; यह खातिरदारी उनके भी बस की नहीं थी। ऊपर से बदकिस्मती यह कि तभी दिल्ली में छुरेबाजी का दौर शुरू हो गया और बीच-बीच में कर्फ्यू लगाया जाने लगा। जामिया के स्टाफ के ही एक सज्जन को तब रसोईघर का काम सम्हालना पड़ा, और किसी तरह मुश्किल से उन्होंने अनाज और गोश्त और तरकारियों का इंतजाम किया। मगर जिस बात ने जामिया वालों को बुरी तरह चिंतित कर दिया था वह तो यह अफवाह थी कि कुछ कट्टर मुस्लिम लीगियों ने यह धमकी दी है कि अगर अंतरिम सरकारी मंत्रिमंडल के मुस्लिम सदस्यों में से एक, आसफ़ अली, जामिया मिल्लिया आए तो छुरेबाजी से भले ही वह बच जाएं, लेकिन उन्हें अपमानित तो किया ही जाएगा। अगर कोई दुर्घटना न भी हुई तो भी किसी ऐसे समारोह में जहां जवाहरलाल नेहरू और जिन्ना, मौलाना आजाद और लियाकत अली खां, सम्मानित अतिथियों के रूप में आ रहे थे, 'प्रोटोकोल' (नयाचार) के उचित पालन की चिंता किसी अधिक-से-अधिक दक्ष नयाचार-अधिकारी की भी कितनी ही रातों की नींद खराब करने के लिए काफी थी। मगर सब कुछ सही सलामत गुजर गया, और चार दिन के भारी भरकम कार्यक्रम में से एक भी चीज छूटने नहीं पाई।

डा. जाकिर हुसैन जरूर हर जगह दिखाई पड़ते थे, हर तरह की देखभाल कर रहे थे। मगर उन पर खास जिम्मेदारी थी बड़े-बड़े मेहमानों की आवभगत करने और उन्हें प्रदर्शनी दिखाने की—नवाब भूपाल की, जिन्होंने रजत जयंती सभा की अध्यक्षता की, नवाब रामपुर की, जिन्होंने प्रदर्शनी का उद्घाटन किया, डा. के. ए. हमीद, मौलवी अबदुल हक़ और सर

अबदुल क़ादिर की, जिन्होंने दीक्षांत भाषण दिया। शैखुल जामिया (कुलपति) के नाते उन्हें कई मौकों पर भाषण भी देने पड़े थे। ये सभी तत्काल-प्रस्तुत भाषण थे और चमत्कारपूर्ण थे। रजत जयंती वाले बैठक में उन्होंने जो लिखित भाषण पढ़ा उसमें उन्होंने जो कुछ पहले कहा था उसका सार तो प्रस्तुत किया ही, बल्कि पिछली सारी बातों से उनका यह भाषण कहीं बढ़ा-चढ़ा था, और शायद उनके जीवन का यह सबसे अधिक भावपूर्ण और प्रभावोत्पादक भाषण था। उनके दाहिने और बाएं वे व्यक्ति बैठ थे जिन पर उस समय भारतीय जनता का भाग्य निर्भर करता था। वह एक ऐसे शिक्षक के नाते बोल रहे थे जिसने बीस साल तक काम किया था और तकलीफें झेली थीं और जो अपने सामने और सभी सच्चे शिक्षको के सामने इस बात का संकट खड़ा देख रहा था कि उनकी सारी आशाएं चूर-चूर हो जाने वाली हैं। उनकी बाते सुनकर कितनों की ही आंखों में आंसू आ गए थे, और, अगर स्वार्थपरता की वेदी पर उदार भावनाओं को बलि चढ़ा देने की आदत ने मनुष्यों को विवश न कर दिया होता, तो उनकी वे बातें उनकी मनोवृत्ति में ऐसा परिवर्तन ला दे सकती थीं जिनका भारतीय इतिहास मे भारी महत्त्व होता। राजनीतिक नेताओं की ओर मुंह करके वह बोले :

"आप सभी राजनीतिक आकाश के सितारे हैं; आपके लिए हजारों नहीं लाखों करोड़ों के दिल में प्रेम और आदर है। आप लोगों की इस उपस्थिति से लाभ उठाकर मैं शिक्षा कार्य में लगे हुए लोगों की तीव्रतम वेदना आप तक पहुंचा देना चाहता हूं। पारम्परिक घृणा की जो आग इस देश में धधक रही है उसने बगीचे लगाने और उनकी देखभाल के काम को निरा पागलपन करार दे दिया है। इस आग में वह मिट्टी भी झुलस चली हैं; नेक संतुलित व्यक्तित्व वाले फूल इसमें कैसे उगाए जा सकते है ? आचरण का स्तर जब जानवरों से भी नीचे तक गिर गया हो, तब भला मनुष्य की नैतिक प्रकृति को हम कैसे सजाएं-संवारे ? संस्कृति को हम कैसे बचाएं जबकि सर्वत्र ही बर्बरता का राज हो जाए, उसकी सेवा के लिए लोगों को हम किस तरह तैयार करें ? जंगली जानवरों की इस दुनिया में हम मानव मूल्यों की रक्षा किस प्रकार कर सकेंगे ? मेरी यह बातें आप लोगो को सख्त लग सकती हैं, लेकिन हमारे चारों ओर के इस वातावरण का वर्णन करने के लिये सख्त से सख्त बातें भी बेहद नरम हैं। शिक्षक होने के नाते हमारा कर्त्तव्य हमें बाध्य करता है कि बच्चों के अंदर सम्मान और श्रद्धा की भावना उत्पन्न करें ; मैं आपसे किन शब्दो में उस वेदना की बात कहूं जो हमें यह सुनने पर होती है कि पशुता की इस बाढ़ से भोले-भाले बच्चे तक नहीं बच पाए हैं ? एक भारतीय कवि ने कहा है कि पैदा होने वाला हर बच्चा अपने साथ यह संदेश लेकर आता है कि ईश्वर मानव जाति के बारे में निराश नहीं हुआ है, किंतु हमारे देश में मानव प्रकृति क्या अपने ही बारे में स्वयं इतनी निराश हो गई है कि वह इन फूलों तक को उनके खिलने से पहले ही रौंद डालना चाहती है ? ईश्वर के लिये, मेहरबानी करके एक साथ मिलकर इस बात पर विचार कीजिये, और इस आग को बुझाइये ? यह मौका इस बात की जांच पड़ताल करने और उसके बाद यह

फैसला करने का नहीं है कि आग लगाई किसने ? अभी तो आग लगी हुई है; उसे बुझाना है। सवाल इस राष्ट्र के अस्तित्व का या उस राष्ट्र के अस्तित्व का नहीं है, सवाल है सभ्य मानव जीवन और जंगली जानवरों के बहशीपन में से एक को चुनने का। खुदा के वास्ते, इस मुल्क के सभ्य जीवन की नींव को जड़-मूल से खोदने की कोशिश को रोकिये, जो कि आज की जा रही है।"

इस भाषण का पूरा महत्त्व तभी समझा जा सकेगा जबकि हम किसी भी पार्टी का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी भी दूसरे व्यक्ति द्वारा किसी सम्मेलन में या बातचीत के दौरान कही गई बातों के साथ इस भाषण का मिलान करके देखें; या यह याद रखें कि, एक प्रकार के वक्तव्य के अनुसार कांग्रेस और मुस्लिम लीग विफल हो गए, और एक दूसरे वक्तव्य के अनुसार कलकत्ता वाला 'हत्याकांड' घटित हो चुका था और उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप, बंबई, नोआखाली, बिहार और पंजाब में होने वाली घटनाओं के रूप में जीवन का प्रचंड और अंधाधुंध हनन हो रहा था। वे सभी लोग, जो कि एक न्यायपूर्ण और युक्ति-युक्त समझौते के लिए युक्तिसंगत रियायतें देने को तैयार थे, निराश हो गए थे। एक शिक्षक के नाते डा. ज़ाकिर हुसैन ने गहरी निराशा में अपनी आखिरी अपील की थी। जामिया के दफ्तर का, अपने सफर का और समितियों की बैठकों में शामिल होने का अपना दायित्व वे अब भी पूरा कर रहे थे। मगर वह हतोत्साह हो गए थे, और उदासीन। वह स्वीकार तो नहीं करना चाहते थे, मगर वह बीमार भी थे, उनका मधुमेह रोग, जिससे वह एक साल से भी ज्यादा वक्त से पीड़ित थे, उनकी शक्ति को चूसे ले रहा था। कुछ दिन के लिए कहीं जाकर वह आराम करना चाहते थे, लेकिन अपने कार्यक्रम में वह उसे कहीं भी बिठा नहीं पा रहे थे, क्योंकि उसे तैयार करने वाले वह नहीं दूसरे ही लोग थे। आखिरकार, स्वाधीनता दिवस और ईद के बाद, उन्होंने कश्मीर जाने का फैसला कर लिया। पंजाब में सांप्रदायिक रक्तपात शुरू हो चुका था और रेल गाड़ियों में होने वाली हत्याओं की खबरें अखबारो मे दहशत पैदा करने वाली तेजी के साथ आने लग गई थीं। उन्होंने इन सबकी उपेक्षा की, और अपने सहयोगियों और मित्रों के अनुरोध को भी ठुकराकर 21 अगस्त को सबेरे मंजूर नाम के एक नौकर के साथ दिन की गाड़ी से दिल्ली रवाना हो गए।[1] वह दूसरे दरजे में सफर कर रहे थे, और बगल वाले पहले दरजे के एक डिब्बे में, अपने नौजवान बेटे के साथ, जलंधर का एक दौलतमंद आदमी फ़ज़ले हक़ सफर कर रहा था। गाड़ी हर स्टेशन पर 'लेट' होती चल रही थी, और डा. ज़ाकिर हुसैन इतने बेचैन होते जा रहे थे कि गाड़ी के रुकते ही हर बार वह यह देखने के लिए उतर जाते कि गाड़ी रुकी क्यों। उसी गाड़ी से हरबंसलाल कपूर नाम का एक रेलवे अधिकारी भी सफर कर रहा था, जो डा. ज़ाकिर हुसैन को जानता तो नहीं था लेकिन उनकी शक्ल सूरत से प्रभावित हो गया था। एक स्टेशन पर उसने मंजूर से दर्याफ्त किया उसके यह मालिक हैं कौन, और जब उसने बताया कि यह

[1] परवर्ती विवरण मुझे मंजूर से सुनने को मिला, जो अब जामिया मिल्लिया मे चपरासी है।

डा. ज़ाकिर हुसैन हैं, तो वह भी उन पर निगरानी रखने के लिए हर स्टेशन पर उतर पड़ता। लुधियाना में डा. ज़ाकिर हुसैन यह जानने के लिए स्टेशन मास्टर के पास जा पहुंचे कि पठानकोट के लिए वहां से कोई और गाड़ी है या नहीं। स्टेशन मास्टर के दफ्तर में कुछ और लोग भी थे, और उनके घुसते ही वे सब अजीब ढंग से उनकी ओर ताकने लगे। उनके पूछने पर स्टेशन मास्टर ने बताया कि कोई गाड़ी वहां नहीं जा रही, और उनके नजदीक ही खड़ा एक दूसरा आदमी उनके कान में ऊंची आवाज में कह उठा, "इन्हें जलंधर तक जाने दीजिये न।" जब डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपने डिब्बे में वापस आये तो फ़ज़ले हक़ भी, जो बहुत शराब पी चुका था और मुश्किल से खड़ा रह सकता था, उन्हीं के साथ आ गया, और जलंधर सिटी तक दोनों ने एक साथ सफर किया। यहां उन्होंने स्टेशन को वीरान पाया, सिर्फ कुछ हथियारबंद गोरखा सिपाही प्लेटफार्म पर टहल रहे थे। फ़ज़ले हक़ को और आगे नहीं जाना था, और चूंकि गाड़ी भी और आगे नहीं जा रही थी, इसलिए डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपना भी असबाब निकलवा लिया। फ़ज़ले हक़ यह कहकर उनसे अलग हो गये कि वह फोन करके अपनी कार मंगा लें। अपने घर पर वह फोन नहीं मिला सके, लेकिन उनके वापस लौटने से ठीक पहले लंबा-चौड़ा हट्टा-कट्टा आदमी जांघिया-कमीज पहने कुछ नौजवानों के साथ आकर डा. ज़ाकिर हुसैन के नजदीक खड़ा हो गया, और उस असबाब पर एक नजर डालने के बाद पंजाबी में बोला, "ले जाओ यह असबाब!" वे नौजवान उस असबाब को उठा ही रहे थे कि फ़ज़ले हक़ वापस आ गए और कड़ककर बोले कि उस असबाब को वे लोग हाथ भी न लगाएं। उस तगड़े लीडर ने फ़ज़ले हक़ को एक धक्का देकर हटा दिया और फिर बोला, "ये असबाब ले जाओ! फ़ज़ले हक़ ने तैश में आकर उस आदमी को एक जोर का थप्पड़ मार दिया। इस पर उस आदमी ने गोरखा सिपाहियों को गोली चलाने का हुक्म दिया। उन्होंने भी डा. ज़ाकिर हुसैन और फ़ज़ले हक़ की ओर अपनी बंदूकों का निशाना बिठाया। डा. ज़ाकिर हुसैन के सामने जो गोरखा खड़ा था, मंजूर झपटकर उसके सामने आ गया और बंदूक की नली अपनी ओर घुमा दी। किसी वजह से गोरखों ने गोली नहीं दागी, लेकिन जब ध्यान उन लोगों की ओर बंट गया था, वह असबाब उड़ा दिया गया। रेलवे अधिकारी कपूर यह सब देख रहा था और वह दौड़ा-दौड़ा स्टेशन मास्टर के पास पहुंचा और बताया कि डा. ज़ाकिर हुसैन कौन हैं और उनकी जान पर क्या खतरा है। स्टेशन मास्टर बाहर आया और डा. ज़ाकिर हुसैन और फ़ज़ले हक़ को अपने दफ्तर में ले गया। लेकिन चलने से पहले डा. ज़ाकिर हुसैन ने उन सिपाहियों की ओर मुखातिब होकर उनसे पूछा कि क्या वे जानते हैं, वे क्या कर रहे हैं? उनका काम है मुसाफिरों की हिफ़ाजत करना, न कि उन्हें धमकाना। सिपाहियों के कानों में मानों कुछ जा ही नहीं रहा था। स्टेशन मास्टर के दफ्तर में दिल्ली से आए कुछ सिख थे। उन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन को पहचान लिया, और उनमें से एक ने उन्हें सलाह दी कि वे स्टेशन से बाहर न जाएं, क्योंकि बाहर जाना उनके लिए खतरनाक होगा। इस पर स्टेशन मास्टर ने उसको और उसके साथियों को अपने दफ्तर से निकल जाने के लिए

कहा। इस बीच कपूर को, जो स्टेशन के आसपास मदद की तलाश में घूम रहे थे, एक नौजवान सिख अफसर, कैप्टेन गुरुदयालसिंह, दिखाई पड़ गये और उन्होंने उन्हें डा. ज़ाकिर हुसैन के बारे में बताया और मदद करने को कहा। गुरुदयालसिंह उनके साथ स्टेशन मास्टर के दफ्तर में आए। उन पर नजर पड़ते ही डा. ज़ाकिर हुसैन फिर भड़क उठे और अपने प्रारंभिक कर्त्तव्यों की बुरी तरह अवहेलना करने के लिए उन्हें फटकारने लगे। आंखे नीची किये गुरुदयालसिंह चुपचाप उनकी फटकार को सुनते रहे, और फिर किसी सुरक्षित स्थान पर उन्हें ले जाना चाहा। मगर असबाब के बारे में तो कुछ करना ही था। गुरुदयालसिंह ने गोरखा सिपाहियों को दफ्तर के सामने घेरा डालने का और किसी को भी अंदर न घुसने देने का हुक्म दिया, और फिर उस असबाब को ढूंढ़ने निकल पड़े। कुछ ही देर बाद लौटकर उन्होंने बताया कि उसका कहीं पता नहीं चल सका और डा. ज़ाकिर हुसैन और फ़ज़ले हक़ से कहा कि उसकी फिक्र छोड़ वे लोग उनके साथ हो लें। ज्यों ही वे लोग बाहर आए, गुरुदयालसिंह के हुक्म और धमकियों की परवा न कर लोगों ने उन्हें घेर लिया; किसी ने फ़ज़ले हक़ की जेब से उनका बटुआ निकाल लिया जिसमें 300 रुपये थे, किसी ने मंज़ूर से उसकी कलम छीन ली। जब तक वे लोग गुरुदयालसिंह के फौजी ट्रक तक पहुंचे तब तक उन्हें घेरने वाली भीड़ बहुत बढ़ चुकी थी और इस बात का खतरा पैदा हो गया था कि वे लोग उन्हे नहीं जाने देंगे। गुरुदयालसिंह ने ड्राइवर से, जो हथियारबंद था और उसके पास बैठे हुए एक सिपाही से, अपनी बंदूकें भरकर पीछे आकर खड़े हो जाने के लिए कहा, और वह खुद भीड़ से बात करने के लिए उसकी ओर मुड़े। भीड़ ने मांग की कि जिन आदमियों को वह बचा रहे हैं उन्हें उनके हवाले कर दे; उन्होंने जवाब दिया कि उन्हें किसी सुरक्षित स्थान पर पहुंचाने का वह वचन दे चुके हैं और उसे वह भंग नहीं करेंगे। तब उनसे कहा गया कि उन लोगों को स्टेशन से कुछ दूर ले जाकर वह उनके हवाले कर दें। गुरुदयालसिंह राजी नहीं हुए। "उस दढ़ियल को आप ले जा सकते हैं", भीड़ में से लोग चिल्ला उठे, "दूसरा शख्स तो जलंधर का ही है, उसे आप हमे क्यों नहीं देते ?" आखिर गुरुदयालसिंह को कहना पड़ा कि अगर वे लोग ट्रक के ज्यादा नजदीक आए तो उन्हें गोली चलाने का हुक्म देना पड़ेगा, और तब जाकर वे लोग वहां से रवाना हो सके। सड़कों पर, रास्ते भर, मकानों से लुटे हुए माल को ले जाते आदमी और लड़के मिले। स्टेशन से कोई एक मील जाने पर जब वे लोग एक बड़ी हवेली के सामने से गुजर रहे थे तो फ़ज़ले हक़ ने ड्राइवर को रुकने के लिए आवाज लगाई, क्योंकि वह मकान जस्टिस बेदी का था जिन्हें वह बखूबी जानते थे। ट्रक रोक दिया गया, लेकिन गुरुदयालसिंह ने डा. ज़ाकिर हुसैन और फ़ज़ले हक़ से तब तक रुकने के लिए कहा जब तक कि वह ठीक पता न लगा लें कि मकान जस्टिस बेदी का ही है और वह खुद घर पर हैं। शीघ्र ही जस्टिस बेदी नंगे पाव दौड़ते हुए मकान से बाहर निकल आए और डा. ज़ाकिर हुसैन और फ़ज़ले हक़ को अंदर लिवा ले चले। आश्वस्त हो चुकने के बाद ही गुरुदयालसिंह अपना ट्रक लेकर वापस गये।

डा. ज़ाकिर हुसैन वापस लौटकर प्रधान मंत्री और सरदार पटेल को जलंधर की स्थिति

से वाकिफ कराने के लिये बहुत ही बैचेन थे। रात तो उन्होंने जस्टिस बेदी के घर पर किसी तरह काट दी, लेकिन अगले दिन सुबह होते ही वह दिल्ली लौटने के लिये जिद करने लगे। जस्टिस बेदी और मंजूर ने आग्रह किया कि या तो वह हवाई जहाज से जाएं और या तब तक इंतजार करें जब कि रेल का सफर खतरनाक न रह जाए। लेकिन वह किसी तरह नहीं माने। आखिर जस्टिस बेदी को उन्हें हथियारबंद पहरे के अंदर जलंधर छावनी के स्टेशन तक भेजना पड़ा, और वहां भी उनके डब्बे पर गाड़ी छूटने तक पहरा रहा। लेकिन लुधियाना में गाड़ी छह घंटे रुकी रही। डा. ज़ाकिर हुसैन खीजते जा रहे थे। मंजूर के अनुरोध पर वह खिड़की के पास वाली जगह से तो हट कर बैठ गए, लेकिन फिर इतने बेचैन हो उठे कि प्लेटफार्म पर उतर आए। मंजूर ने, जो बराबर उन्हीं के पास खड़ा रहा, फिर उसी तगड़े आदमी को उन्हीं 'वालंटियरों' के साथ देखा जो जलंधर मे प्लेटफार्म पर चक्कर लगाते रहे थे और उनका असबाब उठा ले गये थे। साफ था कि वे जलंधर जानेवाली अगली रेलगाड़ी के मुसलमान मुसाफिरों को पहचानने के लिये ही लुधियाना आए थे ताकि जलंधर पहुंचने पर उनका सफाया कर डाले। कुछ स्थानीय मुसलमानों ने डा. ज़ाकिर हुसैन को देख उन्हें आगे न जाने की और लुधियाना में ही उनके साथ रुक जाने की सलाह दी। तभी न जाने कैसे और कहां से आकर एक बहुत ही काला नौजवान अचानक डा. ज़ाकिर हुसैन के पांवों पर गिर पड़ा। उन्होंने उस नौजवान को उठाया और पूछा कि वह कौन है। नौजवान ने बताया कि वह एक शरणार्थी है जो लाहौर से आ रहा है और उसके पिता जामिया मिल्लिया में पढ़े थे; अब वह बिलकुल ही निराश्रय था, लेकिन अगर वह उनके किसी काम आ सका तो इसे अपना सौभाग्य मानेगा। कुछ ही देर बाद वे नौजवान सिख जो जलंधर सिटी स्टेशन पर स्टेशन मास्टर के दफ्तर में उनसे मिले थे, इसी गाड़ी से उन्हें सफर करते देख, उनकी हिफाजत करने के लिये आ पहुंचे। वे लोग अंबाला तक उनके साथ रहे, जिसके बाद तब तक कोई खतरा पैदा नहीं हुआ था।

दिल्ली स्टेशन पर डा. ज़ाकिर हुसैन सबेरे तीन बजे पहुंचे। उन्होंने कार्यालय की गाड़ी के लिये मंजूर को जामिया मिल्लिया फोन नहीं करने दिया क्योंकि इससे वहां बेकार के लिये फिक्र हो जाती, और 'वेटिंग रूमों' (प्रतीक्षालयों) की ओर चल पड़े कि कहीं जगह मिले तो बैठ जाएं। सभी कमरे भरे हुए थे; 'वेटिंग रूम' के चौकीदार ने कहा कि बरामदे में कहीं बिस्तरा खोल कर बिछा लें; लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन के पास बिस्तरा अब कहां था! उन्होंने उससे दर्याफ्त किया कि नजदीक कहीं क्या कोई सस्ता-सा होटल होगा। चौकीदार ने एक होटल का नाम बताया। डा. ज़ाकिर हुसैन वहां जा पहंचे और उन्हें एक ऐसी कोठरी मिली जिसमें न कोई पंखा था और न हवा के लिये खिड़कियां ही। उन्होंने मंजूर को यह देखने के लिये छत पर भेजा कि वहां जगह हो तो वहीं जा सोएं। पता चला कि वहां न सिर्फ जगह है, बल्कि एक खाट भी है। लेकिन जब वह और मंजूर ऊपर पहुंचे तो देखते क्या हैं, सारी छत बकरियों से भरी है। मंजूर ने उन्हे एक ओर को खदेड़ दिया, और डा. ज़ाकिर हुसैन खाट पर लेट रहे। ओखला जाने वाली पहली बस लेकर वह उसके

'टर्मिनस' पर उतर गए और वहां से खेतों के रास्ते घर पहंचे ताकि कोई उन्हे देख न पाए।

उसी दिन या अगले दिन उन्होंने प्रधान मंत्री और सरदार पटेल से मुलाकात की और जो कुछ हुआ था और जो कुछ उन्होंने देखा था उससे उन्हें वाकिफ किया। उनके लिये यह एक बिलकुल ही नई जानकारी थी और एक भारी सदमा भी। अगले दिन ही प्रधान मंत्री हवाई जहाज से जलंधर जा पहुंचे, और उनकी उस यात्रा की वजह से ही आम लोगों को यह पता चल सका कि एक कितनी बड़ी दुर्घटना होने से रह गई। लेकिन खून-खराबी, तकलीफ और शौक इतने बड़े पैमाने पर था कि एक घटना का असर कब तक रह सकता था? हिंसा की आग दिल्ली की ओर फैलती जा रही थी और उसके साथ ही साथ मानव भावनाओं का लोप होता जा रहा था, और उसे रोकने या उसकी गति धीमी करने के लिये कुछ भी नहीं किया जा सकता था।

कुछ आराम कर सकने की जब गुंजाइश नहीं रह गई तो डा. ज़ाकिर हुसैन मेरे घर आ छिपे। मैं तब बाहर लखनऊ में था। मंजूर पिछवाड़े वाले दरवाजे से उनके लिये खाना लाता था, और कितने ही लोगों को उनकी तलाश रहने पर भी, उनका ठौर-ठिकाना किसी को नहीं मालूम हो पाया। लेकिन तभी दिल्ली में भी दंगे शुरू हो गए, और जामिया मिल्लिया के इर्द-गिर्द के गांवों में बाकायदा लूटपाट और मारकाट चल पड़ी। यह सारी कारगुजारी गांव वालों की कतई नहीं थी जिनके साथ जामिया के ताल्लुकात बड़े ही दोस्ताना थे, बल्कि बाहर वालों के सुसंगठित गिरोहों की थी जिनके हाथों हिंदू गांव वालों की भी दुर्गति ही होती अगर मुसलमान पड़ोसियों को बचाने के लिये कुछ करने। शफ़ीकुर्रहमान किदवई, जिनका सामाजिक शिक्षा और सामुदायिक केंद्र वाला छोटा-सा संगठन, और करौलबाग स्थित जिनके क्लब, अच्छा काम कर रहे थे, और हमीद अली खां, जो जामिया के मकतबा (प्रकाशन विभाग) के इनचार्ज थे, मुश्किल से अपनी जान बचा पाए। इन सारी खबरों ने डा. ज़ाकिर हुसैन को अपना एकांतवास छोड़ बाहर निकल आने के लिये मजबूर कर दिया। और जब एक बार वह मैदान में आ गए तो उनकी सारी मायूसी और सुस्ती गायब हो गई। जामिया की छोटी-सी जमात में उन्होंने विश्वास और साहस भर दिया, और अपनी स्त्रियों और बच्चों की रक्षा करने के लिये उन्हें संगठित कर डाला। गांवों से भाग कर आने वाले मुसलमान शरणार्थियों को ठहराने का और पुराने किले और हुमायूं के मकबरे के शिविरों में उन्हें पहुंचाने का इंतजाम किया गया। बहुत कुछ डा. ज़ाकिर हुसैन की वजह से, स्वाधीन भारत की सरकार और दिल्ली प्रशासन ने, जामिया मिल्लिया और ओखला पर हिफ़ाजत की नजर रखी। एक रात काफी देर से डिप्टी कमिश्नर एम. एस. रंधावा मुआइना करने के लिये आ पहुंचे और करीब एक दर्जन बंदूकों के लाइसेंस दे गए। एक रोज आधी रात को प्रधान मंत्री आ पहुंचे, हिफ़ाजत के लिये किये गए इंतजाम का उन्होंने निरीक्षण किया और सुबह होने के कुछ पहले तक वहीं बने रहे। प्रधान सेनाध्यक्ष जनरल करियप्पा मद्रास रेजिमेंट के एक प्लेटून को, जो ओखला रेलवे स्टेशन पर फंसा पड़ा था, ले आए और जामिया की बस्ती के लिये फौजी पहरे का इंतजाम

कर दिया । दिल्ली स्टेशन पर उतरते ही गांधी जी ने सबसे पहला सवाल यही किया था, "ज़ाकिर हुसैन तो सही-सलामत हैं ? जामिया तो सही-सलामत है ?" अगले दिन वह खुद अपनी तसल्ली करने आ पहुंचे । बाद को, इन दिनों का एक विवरण देते हुए डा. ज़ाकिर हुसैन ने उस दिन गांधी जी के आने की बात का बड़ा मार्मिक शब्दों में उल्लेख किया था :

"कार के दरवाजे में उनकी उंगलियां कुचल गई थीं और उन्हें सख्त तकलीफ थी । इसके बावजूद वह हंस रहे थे और दूसरों को भी हंसा रहे थे, हम सबका साहस बढ़ा रहे थे और अपनी प्रकृति की पूरी गंभीरता के साथ यही सलाह दिये जा रहे थे कि हम जहां हैं वहीं रहे जाएं । माध्यमिक स्कूल के चबूतरे पर जाकर उन्होने मुसलमान शरणार्थियों से बात की, और एक यतीम बच्ची को अपनी गोद में लेकर उसे छाती से लगा लिया और चूमा । फिर वह यह कहकर चले गए कि हम लोगों की हिफाजत के लिये जो कुछ भी जरूरी होगा वह करेंगे, नहीं तो खुद खत्म हो जाएंगे । जामिया में बापू का वह आना आखिरी था ।

"बरज़मीं के निशाने क़फ़े पाए तो बुवद
सालहा सिजदए साहेब नज़रां ख्वाहद बुवद ।"

यानी-जिस जमीन पर तेरे पांव का निशान मौजूद है उस पर सालो तक समझदार लोग सिर झुकाएंगे ।

हिफाजत के लिये किये जाने वाले बंदोबस्त के बारे ज्यों ही डा. ज़ाकिर हुसैन को इतमीनान हो गया, वह उन कामों में हाथ बंटाने के लिये शहर जाने लग गए जो लोगो को बचाने, उन्हे दूसरी जगह ले जाने और उनकी हिफाजत करने के लिये जरूरी थे । उनका मुख्यालय एक सेवानिवृत्त इंजीनियर एम. ए. अब्बासी का मकान था, जहां नई-नई समस्याओं पर विचार करने के लिये एक अर्ध-सरकारी समिति की बैठकें होती थीं । जामिया के स्टाफ के कुछ सदस्यों ने, जिनमें प्रमुख थे शमसुर्रहमान मोहसिनी, प्रो. मुहम्मद आकिल, अख्तर हसन फारूकी और अब्दुर्रजाक, हुमायूं के मकबरे वाले शरणार्थी शिविर में लोगों को ठहराने और उनके खाने-पीने का इंतजाम अपने हाथ में ले रखा था । अक्टूबर और नवंबर में डा. ज़ाकिर हुसैन और एम. ए. अब्बासी ने निष्क्रांत संपत्ति अभिरक्षक जे. एम. लोबो प्रभु के मुस्लिम सलाहकारों के रूप में काम किया । अन्य सलाहकार थे श्रीमती सुचेता कृपलानी, सर शोभासिंह और रघुनंदन शरण । लोबो प्रभु तथा उनके सलाहकारों को जो काम करने पड़ते थे वे नाजुक और खतरनाक थे । जो मुसलमान दिल्ली में रह गए थे उनकी संपत्ति को शरणार्थियों के कब्जे से छुड़ा कर उन्हें वापस दिलाना, आने-जाने वाले शरणार्थियों द्वारा उन पर दखल जमाने की नई कोशिशों को रोकना, और निष्क्रांतों की भूमि तथा संपत्ति को जरूरतमंद शरणार्थियों के बीच बांटना । दिल्ली में इस प्रकार की भूमि तथा संपत्ति की संख्या करीब 5,000 थी, और आवेदकों की संख्या, जिनमें से अधिकांश अपनी सुधबुध खो बैठे थे और कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थे, लगभग

50,000 । अभिरक्षक के स्टाफ के कर्मचारियों की नियुक्ति शरणार्थियों में से ही की गई थी जिन्हें कि रोजगार देना था, और कभी-कभी तो सलाहकारों के बीच भी गहरे मतभेद हो जाते थे । अभिरक्षक के दफ्तर पर सदा ही घेरा पड़ा रहता था । लोबो प्रभु ने मुलाकात करने पर मुझे एक सिख शरणार्थी के बारे में बताया; गैर कानूनी तौर पर एक मकान पर कब्जा कर लेने के बाद उसे जब उससे निकाल बाहर किया गया था तब वह एक 'कृपाण' लेकर उनसे बदला लेने आ पहुंचा था । डा. ज़ाकिर हुसैन और सर शोभासिंह ने बड़ी मुश्किल से उसे रोका । डा. ज़ाकिर हुसैन की निष्पक्षता के एक दृष्टांत के रूप में लोबो प्रभु ने 10, कर्जन रोड के मालिक की बात बताई जो पाकिस्तान चले जाने के बाद फिर लौट आया था । डा. ज़ाकिर हुसैन ने उसे निष्क्रांत ही घोषित किया । लोबो प्रभु के इस्तीफे की सनसनीदार वजह थी सर दातार सिंह और लियाकत अली खां के बीच भूमि व संपत्ति की अदलाबदली के बारे में हुए व्यक्तिगत समझौते का वैध न माना जाना । कानून के आधार पर यह अदलाबदली जायज नहीं थी, और लोबो प्रभु को, उस वक्त भी और बाद को भी जब कि जांच का काम हुआ डा. ज़ाकिर हुसैन का पूरा समर्थन मिला ।

लेकिन जहां तक भविष्य का सवाल था, सबसे महत्वपूर्ण काम तो शरणार्थियों और मुसलमानों को एक दूसरे को अपनाने और एक साथ शांतिपूर्वक भाइयों, दोस्तों और साथियों की तरह रहने के लिए तैयार करना था । यही उस रेडियो वार्ता का शीर्षक था जिसे डा ज़ाकिर हुसैन ने सितंबर में प्रसारित किया था, जब दिल्ली मे स्थिति सबसे ज्यादा खराब थी और जब कि एक ही देश मे पैदा होते जाने वाले मनुष्यो के प्राकृतिक संबंधो को अस्वीकार किया जा रहा था ।

''हां, आप कह सकते है कि मनुष्य प्रकृति का ही एक अंग है । वह पत्थर नहीं है, और न कोई पेड़ या पौधा या जानवर ही, जो ठीक वैसा ही बना रहे जैसा कि प्रकृति ने उसे गढ़ दिया । आदमी आदमी है; वह अपनी दुनिया को खुद ही गढ़ता और खुद ही बिगाड़ता है । यह सही है । यही वजह है कि आप लोगों को 'दोस्त' कह रहा हूं । एक ही देश में आपको और मुझको रख कर प्रकृति ने भाई-भाई नही बनाया है । हम लोग अपनी स्वतंत्र इच्छा से ही सदियों से एक साथ रहते आ रहे हैं, एक-दूसरे के सुख-दुख में हिस्सा बांटते आएं हैं, एक-दूसरे के प्रति मेहरबान रहे हैं, एक-दूसरे के दोषों को हमने नजरंदाज किया है, एक-दूसरे की अच्छाई ही हमने देखी है, एक-दूसरे से हम सीखते आए हैं और एक-दूसरे को सिखाते भी आए है, और एक-दूसरे की कमियों को हमने पूरा किया है । हम एक-दूसरे के कंधे से कंधा भिड़ाकर काम करते आए है, एक-दूसरे को परखते और समझते आए हैं; प्यार किया है, निष्ठा से उत्पन्न दायित्वों को निभाया है, एक-दूसरे के दिल और आत्मा में घुलमिल गए हैं; गुलामी की अंधेरी रात हमने इन्हीं ताल्लुकात की टिमटिमाती रोशनी में गुजारी है । अब जब कि आजादी का सूरज निकला है, हमारे दिल क्यों जुदा हो रहे हैं, हमारी आंखें क्यों एक-दूसरे को पहचानने से इंकार कर रही हैं ? दोस्तों । दोस्ती के कायदों पर चलो, दोस्तों को दुश्मन न समझो, पल भर के आवेश में आकर सदियों पुरानी दोस्ती को मत उखाड़ फेंको। यही सोचो कि जिन पर पागलपन सवार हो गया है उन्हें इस मर्ज से किसी तरह छुटकारा दिला सकते हो; वे भी तुम्हारे भाई हैं, वे भी तुम्हारे दोस्त बन

जाएंगे । उनसे दोस्ती और निष्ठा की ऐसी गारंटी मत मांगो जो सिर्फ दुश्मनों से मांगी जाती है, अपनी दोस्ती से ही निष्ठा की नींव को पक्का कर दिखाओ । दोस्ती एक ऐसा पौधा है जो शक और शुबहा, अविश्वास और नफ़रत की मिट्टी में अपनी जड़ें नहीं जमा सकता । प्यार करो और एतबार करो, मानव प्रकृति में विश्वास रखो, फिर देखो कि दोस्ती का यह पौधा किस तरह पनपता है, किस तरह उसके फूल प्रतिशोध और विद्वेष के वातावरण को अपनी खुशबू से सुगंधित कर देंगे, किस तरह उनके रंगों की बहार आसपास की गंदगी को खत्म कर देगी । भाइयो । दोस्ती बढ़ाओ, उसके सिद्धांतों पर चलो, उसके तकाजों को पूरा करो और दूसरों से भी वैसा करने को कहो ।''

जामिया मिल्लिया का काम जैसे ही फिर से शुरू हुआ उसने अपने दरवाजे शरणार्थी बच्चो के लिए खोल दिए । शफीकुर्रहमान किदवई, धीरज के साथ अपने प्रयत्न किये जा रहे थे, और उस दिन के इंतजार में थे कि उनका कुछ तो नतीजा निकले और मेलजोल की दिशा में एक भी कदम तो आगे उठे; और 10 जनवरी, 1948 को कहीं जाकर पड़ोस के बाड़ा हिंदू राव के शरणार्थी बच्चों और उनके माता-पिताओं को वहां स्थापित सामुदायिक केंद्र में आकर, जो अब शफीक स्मारक स्कूल बन गया है, मुसलमान बच्चों और उनके माता-पिताओं से मिलने और उनके साथ बैठ कर फल और मिठाइयां खाने के लिए आमंत्रित किया जा सका ।

13 जनवरी को डा. ज़ाकिर हुसैन ने गांधी जी के उपवास से संबंधित एक वक्तव्य उनके नाम प्रकाशित किया :

''हमें इसमें संदेह नहीं है कि आप किसी ऊंचे विचार से प्रेरित हैं, और अपने देशवासियों की हृदय की शुद्धि के लिए उन्हें प्रोत्साहित करने का आपने बिलकुल सही वक्त चुना है । ईश्वर ने आपको वह शक्ति और आत्मविश्वास दिया है जो विफल नहीं होता, और एक ऐसी आस्था भी जिसे विपरीत परिस्थितियां डिगा नहीं सकती । ईश्वर आपके साथ है और आपकी सफलता सुनिश्चित है । हमारे सिर शर्म से झुके हैं कि स्वाधीन भारत के पास कटुता और व्यथा को छोड़ आपकी भेंट चढ़ाने के लिए आज और कुछ भी नहीं है ।. . .परमात्मा से यही प्रार्थना है कि वह आपको बख्श दे, ताकि आप हमें उस और भी ऊंची स्वाधीनता की ओर ले जा सकें जिसके लिए आप प्रयत्न करते रहे हैं और जिसके काबिल हमें आप, हमारे सारे अंधेपन और कुकृत्यों के बावजूद, अब भी मानते हैं । अगर हमारे अंदर कोई बात तबदीली ला सकती है तो आपकी यह आस्था ही कि हमारे अंदर की ऊंची से ऊंची भावना जाग्रत होनी चाहिए, और वह जाग्रत होकर ही रहेगी ।''[1]

गांधी जी के उपवास के बाद तनातनी में स्पष्ट कमी दिखाई देने लगी, लेकिन सांप्रदायिक घृणा के दानव को शांत करने के लिए उनके जीवन को ही बलि होना पड़ा ।

[1]प्यारेलाल, 'महात्मा गांधी-दि लास्ट फेज' (महात्मा गांधी, अंतिम अवस्था), खंड 2, 1968 वाला संस्करण, पृ. 712 ।

30 अक्टूबर, 1948 को होने वाली जामिया मिल्लिया के अंजुमन (कोर्ट) की बैठक में डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपनी रिपोर्ट का अंत इस अनुरोध के साथ किया कि शैखुल जामिया के पद पर उन्हें फिर से न चुना जाए।

''रजत जयंती के बाद जामिया मे नए विभागों को खोलने की दिशा में कुछ भी नहीं किया गया है। जहां तक इसके लिए मेरी जिम्मेदारी थी, मैं अपना दोष स्वीकार करता हूं। आज की परिस्थितियों में, खासतौर से स्टाफ की कमी और स्थानाभाव के कारण, इसका विस्तार संभव नहीं दिखाई देता। जहां तक कि स्टाफ का सवाल है, वर्तमान वेतन दर पर स्टाफ में सुयोग्य व्यक्तियों की नियुक्ति अगर असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है, भले ही उन व्यक्तियों के अंदर कुछ त्याग करके भी एक ध्येय की खातिर काम करने की आकांक्षा हो। दूसरे, मैं यह भी महसूस करता हूं कि हमारी जमात नए लोगों को अपने बीच खपाने की क्षमता खोती जा रही है, शायद अपने पिछले त्यागों की वजह से अपने को ऊंचा मान बैठ लेने से, और या उस संस्था के भविष्य के बारे में वस्तुनिष्ठ ढंग से न सोच सकने के कारण. . .

''पच्चीस साल से चले आने वाले एक अभ्यास के कारण मेरे अंदर सरकार से कुछ भी मांगने में स्वभावतः एक झिझक है। लेकिन जब देखा कि मेरे सहयोगी यह चाहते हैं कि स्टाफ के वेतनो को बढ़ाने के लिए सरकार से सहायता मांगी जाए और इस तरह की मांग को स्वीकार करने के लिए कुछ जिम्मेदार सरकारी अधिकारियों को भी मैने तैयार पाया, तो मैंने मौलाना आजाद के साथ सलाह करके शिक्षा मंत्रालय को लिखा. . .लेकिन एक साल गुजर गया है, फिर भी अभी तक कुछ नहीं हुआ है। शायद सरकारी काम का तरीका यही है; यह भी हो सकता है कि मेरा कहीं असर न होने की वजह से यह बात हो, या यह भी संभव है कि इस मामले की सुनवाई कराने में मेरी ही ओर से ढिलाई हुई हो. . .

''आखिर में मैं आपसे एक व्यक्तिगत अनुरोध करने की इजाजत चाहूंगा।. . .मैं एक ऐसा शख्स हूं जिसकी सामर्थ्य बहुत सीमित है, और जामिया मिल्लिया के भविष्य के बारे मे मेरे कम-उम्र सहयोगियो के अंदर जो उंची आकांक्षाएं हैं उनकी पूर्ति के लिए मैं अपनी सामर्थ्य को अपर्याप्त मानता हूं। फिर, परिस्थितियों ने मुझे दूसरी तरह के कामो में भी उलझने के लिए बाध्य कर दिया है. . .जिन्हें कि कुछ कारणों से मैं जारी रखना चाहता हूं। . . .मैं अब तक इसी भ्रम मे था कि बाहर मैं जो कुछ करता आया हूं उससे भी अप्रत्यक्ष रूप में जामिया की ही सेवा करता रहा हूं। इसकी वजह से अगर मैंने जामिया की प्रत्यक्ष सेवा के लिए कम ध्यान या शक्ति दी है तो इसका एक अच्छा नतीजा यह होगा कि जो लोग जामिया का काम करना चाहते हैं वे उस वक्त के लिए तैयार हो जाएंगे जबकि स्वेच्छा से या अनिच्छापूर्वक मैं इसके साथ अपना नाता तोड़ लूं। मगर देखता हूं कि ऐसा हो नहीं रहा है। बल्कि, मेरे बाहर वाले काम से बेचैनी और असंतोष बढ़ रहा है। इस बात को मैं जल्द ही इसलिए कहे दे रहा हूं ताकि रचनात्मक चिंतन के लिए रास्ता खुल जाए...''

मैं अपने अनुभव के आधार पर इस बात की तसदीक कर सकता हूं कि जामिया मिल्लिया के 'पुराने लोग' सभी नवागंतुकों के विरोधी थे, और यह भी कह सकता हूं कि

नया खून डाले बिना जामिया मिल्लिया का न तो सुधार ही हो सकता था और न विकास ही । इस नए खून को लाने के लिए साधनों की जरूरत थी, और सहायता के लिए दी जानें वाली दरखास्तों में से अधिकांश को चूंकि मैंने ही तैयार किया था और बाद की कार्रवाइयों के सिलसिले में भी मैं ही लोगों से मिलता-जुलता रहा था और तकाजे करता रहा था, इसलिए इस बात की भी मैं तसदीक कर सकता हूं कि डा. ज़ाकिर हुसैन के शैखुल जामिया होने से भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय के रुख में कोई फर्क नहीं पड़ा था, हालांकि शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ही थे । अंत में जरूर भारत सरकार ने जामिया मिल्लिया को इस तरह की सहायता दी जिससे उसका आर्थिक संकट दूर हो गया, लेकिन आजादी के छह साल बाद जाकर ही यह हो पाया, और प्रधान मंत्री से दो-दो शिष्टमंडलों के मिलने के बाद ही । इसकी वजह बिलकुल साफ थी । सरकार ऐसे मामलों में तभी कुछ करती है जब कि उसे कार्रवाई करने का हुक्म मिलता है, और तत्कालीन नियमों के आधार पर किसी अधिकारी द्वारा जब तक कदम नहीं उठाए जा सकते, तब तक कि उच्चतर अधिकारी अथवा उच्चतम अधिकारी का दरवाजा नहीं खटखटाया जाता । जामिया मिल्लिया ने 1954-55 से लेकर जो सहायता प्राप्त करनी शुरू की उसकी स्वीकृति 1948-49 में ही हो गई होती अगर डा. ज़ाकिर हुसैन सीधे प्रधान मंत्री से मिल कर अपनी मांग पेश करते । प्रधान मंत्री के पास 1946 में वह गए भी थे और रजत जयंती के अवसर पर अच्छी खासी सहायता मिल भी गई थी । 1948 में वह फिर यह करने के लिए तैयार नहीं थे ।

इसमें ताज्जुब की कोई बात है भी नहीं । 1948 में डा. ज़ाकिर हुसैन, मौलाना आजाद और रफ़ी अहमद किदवई के साथ-साथ, भारतीय मुसलमानों में सर्वोच्च माने जाते थे, और देश का शासन करने वालों के बहुत नजदीक । राष्ट्रीय सरकार के सामने बहुत बड़े-बड़े काम करने को पड़े थे और अपने मानव साधनों का उपयोग उसे बुद्धिमानी के साथ और अधिक से अधिक मात्रा में करना था । लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन ऐसे किसी भी काम के लिए उपयुक्त नहीं दिखाई दिए, हालांकि लोगों के नेता तथा संस्कृति के मूर्त्तिमान आदर्श के रूप में वह उच्चतम प्रतिष्ठा के भाजन बने हुए थे । कहीं कोई गड़बड़ी जरूर थी, वास्तविक योग्यता के प्रति किसी न किसी प्रकार दृष्टिहीनता, लोगों का चुनाव करने के बारे में कोई अनिवार्य दुविधा, या दुराग्रह या दबाव के सामने झुक जाने की कोई कमजोरी, अथवा प्रभाव अथवा सत्ता के हर पद से उन्हें अलग रखने का किसी का सुनिश्चित संकल्प ।

7. पुरानी बोतल में नई शराब

यह बात निश्चित रूप से नहीं मालूम है कि डा. ज़ाकिर हुसैन को अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का कुलपति बनाने का प्रस्ताव कब और किसके द्वारा रखा गया था। किंतु स्पष्ट ही वह इस पद के लिए सर्वोत्तम व्यक्ति थे। खुद उन्होंने मुझे यही बताया था कि उन्हें इसलिए राजी होना पड़ा कि उन्होने अगर यह पद न स्वीकार किया होता तो यह एक ऐसे विशिष्ट व्यक्ति को दिये जाने वाला था जिन्हें न आंखों से सुझाई पड़ता था न कानों से सुनाई देता था, और जिनकी बौद्धिक योग्यता भी कभी अधिक नहीं रही थी। डा. ज़ाकिर हुसैन ने यह बात किसी सीधे सवाल के जबाव में नहीं कही थी, और संभव है कि यह भी उनकी वाचालता का ही नमूना हो जिसमें वह बहुत ही बढ़े-चढ़े थे। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि उनसे इस पद को ग्रहण करने के बारे मे पूछा गया था, और वह इस शर्त पर राजी हुह थे कि विश्वविद्यालय का 'कोर्ट' उन्हें सर्व सम्मति से निर्वाचित करे। सरकार द्वारा नामजद होकर वह उस पद को ग्रहण करने के लिए तैयार नहीं थे। 'कोर्ट' की एक बैठक 28 नवंबर 1948 को हुई। नवाब मुहम्मद इस्माइल खां ने, जो कि नियमित नियुक्ति के न होने तक कार्यकारी कुलपति के रूप मे काम कर रहे थे, इस्तीफा देते हुए डा. ज़ाकिर हुसैन के नाम का प्रस्ताव उस पद के लिए पेश किया। कोर्ट ने उनका इस्तीफा स्वीकार कर लिया और डा. ज़ाकिर हुसैन को सर्वसम्मति से चुन लिया। दो दिन बाद उन्होंने उस पद को संभाल लिया। 29 नवंबर 1951 को, 1951 के संशोधित अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय अधिनियम के अंतर्गत, वह छह साल के लिए फिर उस पद पर नियुक्त हो गए।

कुलपति रहते हुए उन्होंने जिन अन्य उत्तरदायित्ववों को भी निभाया उनका संदर्भ यहां दे देना उचित होगा। दिसंबर 1948 में वह भारतीय विंश्वविद्यालय आयोग के एक सदस्य नियुक्त हुए और अगस्त 1949 में उसकी रिपोर्ट पेश किये जाने तक इस दायित्व को निभाते रहे। 3 अप्रैल 1952 को वह राज्य सभा के एक सदस्य मनोनित किये गए; अप्रैल 1956 में फिर उसके लिए मनोनित हुए। अक्टूबर 1952 में वह प्रेस आयोग के एक सदस्य मनोनीत हुए और जुलाई 1954 तक उस दायित्व को निभाया। उन्हें नियुक्त या मनोनीत

करने वालों का इरादा हर बार यही था कि सर्वोत्तम व्यक्ति का चुनाव किया जाए, किंतु हमें यह भी याद रखना होगा कि सभी कार्यों को करने के लिए एक सीमा तक एकनिष्ठता की जरूरत होती है, और कोई व्यक्ति कितना भी योग्य क्यों न हो, कई कार्यों का भार उसके कंधों पर डाल देने से यह एकनिष्ठता नहीं आ सकती । डब्ल्यू. यू. एस. अर्थात 'वर्ल्ड युनिवर्सिटी सर्विस' (विश्व-विश्वविद्यालय सेवा) के साथ उनका संबंध एक-दूसरे ही प्रकार का, और उसके लिए शायद दूसरे दायित्वों से अधिक संतोषजनक था । डब्ल्यू. यू. एस. में उनकी दिलचस्पी इसीलिए शुरू हुई थी कि देश में विभाजन और स्वाधीनता के बाद भारत के कई विश्वविद्यायों में पुनर्वास और विस्तार संबंधी प्रायोजनाओं में उनकी गहरी दिलचस्पी थी । एक संगठन के रूप में डब्ल्यू. यू. एस. की भित्ति युद्ध द्वारा पीड़ित देशों तथा विकासशील देशों के विश्वविद्यालयों की आवश्यकताओं के अध्ययन द्वारा सद्भाव, शांति और अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की स्थायी नैतिक नींव पर खड़ी की गई थी । भारत में इसके काम की शुरूआत मैलकम और एलिजाबेथ आदिशेसिया[1] द्वारा की गई थी जिनका मुख्यालय मद्रास में था । 1950 में डा. ज़ाकिर हुसैन उसकी राष्ट्रीय समिति के सभापति चुने गए, और दिल्ली के बड़े ही कर्मठ और कल्पनाप्रवण छात्र नेता वीरेंद्र अग्गरवाला उसके प्रधान सचिव । डब्ल्यू. यू. एस., समितियां कई विश्वविद्यालयों में बनाई गई और विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के स्थायी लाभ की बड़ी ही उपयोगी प्रायोजनाएं शुरू और पूरी की गई । एक विश्व के विचार का निर्माण करने के लिए भारत तथा अन्य देशों में अंतर्राष्ट्रीय सेमिनार (विचार-गोष्ठियां) आयोजित हुए । डा. ज़ाकिर हुसैन ने भारतीय प्रतिनिधि के रूप में तीन बार यूरोप की यात्रा की और 1956 मे हेलसिंकी में होने वाली जनरल एसेंबली (साधारण सभा) की बैठक में डब्ल्यु. यू. एस. की अंतर्राष्ट्रीय समिति के सभापति चुने गए; वही एक मात्र व्यक्ति थे जिनके चुनाव पर पूर्वी और पश्चिमी गुट एकमत हो सके थे । 1957 में, बिहार के राज्यपाल नियुक्त होने के कुछ ही काल बाद, उन्होंने इस्तीफा दे दिया ।

अक्टूबर 1949 में डा. ज़ाकिर हुसैन को दिल का बड़ा जबर्दस्त दौरा पड़ा । नागपुर विश्वविद्यालय के लिए उन्हें एक भाषणमाला तैयार करनी थी, और जैसी कि उनकी आदत थी, वे आखिर तक उसका लिखना टालते चले गए थे । मुलाकातियों से काम में बाधा पड़ने के डर से वह प्रोफेसर रशीद अहमद सिद्दीकी के घर में जा छिपे । लिखते-लिखते उन्हें ऐसे कुछ लक्षण दिखाई दिये जिन्हें वह 'कोरोनरी थ्रोंबोसिस' के लक्षण समझ गए । विश्वविद्यालय के डाक्टर को बुला भेजा गया, और वे ऐन वक्त पर पहुंच गया जिससे

[1]मैलकम आदिशेषैया को सर जूलियन हक्सले ने बाद में यूनेस्को के स्टाफ में शामिल होने के लिये आमंत्रित किया था, और वह यूनेस्को के डिप्टी डाइरेक्टर-जनरल (उपमहानिदेशक) के पद तक पहुंच गए । वह एक विरल प्रतिभा और ऊर्जस्विता संपन्न व्यक्ति थे और लगभग दो दशकों तक एशियाई, अफ्रीकी और दक्षिण अमेरिकी देशों में उन्हीं के कारण यूनेस्को की गतिविधियों का विस्तार हुआ ।

उनकी प्राण रक्षा हो गई। यों तो वह करीब छह हफ्ते में ठीक हो गए, लेकिन अगले दौरे के खतरे ने और उनके मधुमेह ने भी, जिससे वह लगभग पांच साल से पीड़ित थे, उन्हें डाक्टर की कड़ी देखरेख में रहकर चलने के लिए मजबूर कर दिया। यह बात न सिर्फ कष्टकर थी, बल्कि अब वह अपने मन के मुताबिक न तो काम ही कर सकते थे, न खा-पी सकते थे।

लेकिन अलीगढ़ के कुलपति के रूप में उन्हें विशुद्ध रूप से जो शारीरिक सुख-सुविधाएं प्राप्त थी उनकी जामिया मिल्लिया में तो निश्चय ही कभी आशा तक नहीं की जा सकती थी। बेगम ज़ाकिर हुसैन ओखला वाले अपने घर में जहां बकरियां पालती थीं वहां अब उनके पास एक गाय और एक भैंस थी, और जब पहलेपहल मैं उनके घर अलीगढ़ गया तो लगा कि इतने नौकरों के बीच, जब कि उनके लिए करने को कुछ ज्यादा काम नहीं था, वह कुछ ज्यादा खुश नहीं थीं। मगर वैसे पूरे परिवार ने इस नए परिवर्तन को सहज रूप में ही स्वीकार कर लिया था। तब तक भले ही खाने पर एक साथ बैठने की आदत न रही हो, पर अब यह कुछ ज्यादा नई नहीं मालूम हो रही थी। एक बार जब एक अमेरिकी मेहमान डा. ज़ाकिर हुसैन के यहां ठहरे तो पाखाने में 'फ्लश' वाली व्यवस्था का न होना उन्हें खल गया, जिसकी वजह से मकान में कुछ तबदीलियां करानी पड़ गईं। जल्द ही पखाने वगैरा, को आधुनिक रूप दे दिया गया, रहने वाले और अतिथियों वाले कमरों की सुरुचिपूर्ण साज-सज्जा हो गई, किताबों और फॉसिलों (जीवाश्मों) और कैक्टस (नागफनी) के पौधों का संग्रह और एक बगीचा भी, जिसे उन्होंने खुद लगाया था, दिखाई देने लगा।

अलीगढ़ में क्या हो रहा है इसके बारे में उन्हें हमेशा गहरी चिंता रहती थी। इस विश्वविद्यालय के मुस्लिम लीग के प्रभाव में आ जाने के बाद, और डा. जियाउद्दीन द्वारा 'कोर्ट' की सदस्यता से उनके वंचित कर दिये जाने के बाद भी, यह चिंता कितनी मात्रा में बनी रही यह कहना मुश्किल है। जब जियाउद्दीन खुद ही हटा दिये गए तब ऐसा कोई भी वहां नहीं रह गया जिसे बिगड़ी हुई बातों के लिए जिम्मेदार ठहराया जा सकता, और न कोई ऐसा ही व्यक्ति रह गया जिसे, सुधार की आशा करके, समर्थन दिया जा सकता। देश विभाजन के संकट को तो यह विश्वविद्यालय किसी तरह झेल गया; स्वाधीनता के बाद भी यदि यह केवल उच्चतर शिक्षा देने वाली एक संस्था के रूप में ही रह जाता तो भी इसका भाग्य, कम-से-कम स्पृहणीय तो नहीं ही रहता। लेकिन अपने ढंग की सबसे पुरानी और सबसे बड़ी भारतीय मुस्लिम संस्था होने के नाते यह इस देश के मुसलमानों का एक प्रतीक भी बन गया था, उनकी प्रतिष्ठा का भी सूचक। किसी भी धर्म-निरपेक्ष राष्ट्रीय सरकार के लिए यह जरूरी होता कि अपनी खुद की प्रतिष्ठा के लिए और साथ ही शिक्षा के प्रसार और विद्या की उन्नति के लिए वह इसके रखरखाव और विकास के लिए पर्याप्त ध्यान दे और साधन जुटाए। मगर साथ ही, चूंकि यह एक प्रतीक के रूप में था, कुछ ध्येय और मूल्यांकन के मानदंड भी आप-से-आप निर्धारित हो गए थे। एक पूरे-के-पूरे संप्रदाय को संतुष्ट रखने की बात थी और, इससे विपरीत, उस संप्रदाय को भी, इस विश्वविद्यालय के

अधिकारियों के जरिये, अपने समय की सरकार को संतुष्ट रखना था—कम-से-कम राज्य के प्रति अपनी मूलभूत निष्ठा के मामले में। अधिकारियों की, जिनका प्रतिनिधित्व कुलपति करता था, सफलता इस बात पर निर्भर करती थी कि यह पारस्परिक संतोष किस सीमा तक प्राप्त होता है। कुलपति को 'नेता' बनना था, और उसका प्रभाव सरकार पर भी होना आवश्यक था और मुस्लिम लोकमत पर भी, और उसे इस तरह काम करना था कि दोनों में से किसी एक को भी वह प्राथमिकता देता न दिखाई पड़े। उसकी प्राथमिकता इन बातों से जांची जाती कि सरकार से वह कितनी सहायता और गैर-सरकारी स्रोतों से कितना दान प्राप्त कर सका, कितने उच्चाधिकारी विश्वविद्यालय के दीक्षांत भाषण देने के लिए या मानद उपाधियां प्राप्त करने के लिए आए, और विद्यार्थियों को काम और अपने सहयोगियों की महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के अवसर दिलाने के लिए वह क्या कर सका। यह सारी बातें स्पष्ट रूप से शैक्षिक महत्त्व वाली नहीं मानी जा सकती थीं। किसी कुलपति का शैक्षिक क्षेत्र में भी विशिष्टता प्राप्त करना आवश्यक था ताकि वह बौद्धिक कार्यकलाप को प्रोत्साहन दे सके और विशुद्ध विद्वत्ता के जगत में अपने विश्वविद्यालय को विद्या के एक केंद्र के रूप में मान्यता दिला सके। यही कारण था कि डा. जियाउद्दीन एक गणितज्ञ के रूप में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति से मंडित थे। दरअसल एक लंबे अरसे तक तो एक शैक्षिक संस्था के रूप में इस विश्वविद्यालय की ख्याति प्रो. एम. हबीब के ही कारण थी। डा. जियाउद्दीन के रहस्यपूर्ण व्यक्तित्व ने, उसकी योग्यताओं और त्रुटियों ने, उन्हें एक ऐसे कुलपति का रूप दे दिया था जो अलीगढ़ के लिए उपयुक्त ही लगता था, लेकिन उन्होने अपने विरोधी भी प्रगट कर दिये जिनका सामना करने के उनके तरीके कालांतर में अधिकाधिक विफल होते गए। उनके समर्थक जहां उनको विश्वविद्यालय से अभिन्न मानने लगे थे और अपने सारी आशाएं उन्हीं पर केंद्रीभूत किये हुई थे, वहां उनके विरोधी यह मानने लगे थे कि विश्वविद्यालय को अब तभी बचाया जा सकता है जब कि वह अपने पद से हटा दिये जाएं। नतीजा यह हुआ था कि तीन दशकों तक एक ऐसा संघर्ष चलता रहा जिसका चित्रण कोई ऐसा ही व्यक्ति कर सकता था जिसके अंदर जार्ज इलियट, सर आर्थर कोनन डायल और मार्क ट्वेन तीनों की प्रतिभा मौजूद हो। अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के मूल्य और महत्त्व के संबंध मे प्रश्न उठाने वाले किसी सामान्य व्यक्ति को तो, अपने ही ढंग की पूछताछ और उनके फलस्वरूप मिले जवाबों के बाद, किसी ऐसे ही निष्कर्ष पर पहुंचना पड़ता जैसे निष्कर्ष पर रूसी कवि तीयूतीव अपने देश के बारे में पहुंचा था :

रूस को मस्तिष्क से नहीं पकड़ा जा सकता,
और न किसी सामान्य गज से नापा जा सकता है;
उसकी अपनी एक पृथक ही विलक्षणता है
रूस में हम केवल आस्था रख सकते हैं।

प्रायः वे सभी लोग जिनकी शिक्षा अलीगढ़ में हुई है या वहां लम्बे अरसे तक काम करते रहे हैं इसी आस्था को लिए हुए हैं। दूसरे लोगों को सिर्फ अचम्भा होता है। डा. ज़ाकिर

हुसैन आस्था रखने वालों में ही थे। कुलपति के रूप में उनकी नियुक्ति की बात जब मालूम हुई तो जामिया के उनके अधिकांश सहयोगियों को या तो क्रोध आया और या उनके अंदर निराशा पैदा हो गई। वे लोग अपने और जामिया के बारे में ही सोचते थे , और यह मान बैठे थे कि जामिया के साथ अब संबंध वह खुद कभी नहीं छोड़ेंगे। मैं यह महसूस करता था कि जामिया को उनकी जितनी जरूरत थी उतना ही नहीं, उससे कहीं ज्यादा, वह उसे दे चुके थे, और अगर वह उससे मुक्ति चाहते थे तो वह उन्हें दी जानी चाहिए थी। लेकिन अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के प्रति मेरी कोई आस्था नहीं थी और इसलिए मैं उन्हें यह चेतावनी दिये बगैर नहीं रह पया था कि अगर वह यह उम्मीद करके वहां जा रहे हों कि वहां उन्हें ऐसा सहयोग मिलेगा जो खुशी से दिया जाए और जिससे कोई लाभ हो, तो उन्हें निराश होना पड़ेगा। उन्होंने जो भाव प्रगट किया इससे लगा मेरे इस रुख से उन्हें तकलीफ हुई थी और उसे उन्होने पसंद नहीं किया था, वह बोले कि उन्हें यकीन है कि अलीगढ़ में उन्हें काम करने के बड़े मौके मिलेंगे। लेकिन मुझे लगा कि यह बात उन्होंने कुछ अधिक आत्मविश्वास या उत्साह के साथ नहीं कही थी।

लेकिन आस्था न रखने वालों को भी अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के लिए वही कसौटी रखनी होगी जो वह उन विश्वविद्यालयो लिए रखता है जिसका कोई प्रतीकात्मक महत्त्व नहीं होता और जो विशुद्ध रूप से शैक्षिक संस्थाओ के रूप में ही होती हैं या जिन्हें वैसा होना चाहिए। अगर डा. ज़ाकिर हुसैन किसी दूसरे विश्वविद्यालय के कुलपति नियुक्त किये जाते तो निश्चय ही में उन्हें चेतावनी देता कि सही प्रतिक्रिया और सहयोग की उम्मीद करने में वह वास्तविकता का ध्यान रखें। और यह बात भी सही है, जिसे हर निष्पक्ष व्यक्ति द्वारा जोर देकर कहा जायगा, कि अपनी प्रतीकात्मक विशेषता के कारण अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय पर वे सभी लोग बड़ी आसानी से वार करते आए हैं जो किन्हीं कारणों से उस संप्रदाय से खुश नहीं है जिसका वह प्रतीक है। 8 दिसंबर को होने वाली दीक्षांत समारोह के अवसर पर, जिसके प्रधान अतिथि भारत के राष्ट्रपति थे, 1951 की वार्षिक रिपोर्ट पेश करते हुए उन्होंने विश्वविद्यालय की उस स्थिति का जो उन्हें 1948 में देखने को मिली थी, और अपने उत्तरदायित्वो के दूसरे पहलूओं का, जिक्र किया था। उन्होंने अपनी रिपोर्ट की शुरूआत इस प्रकार की थी :

"1951 साल की सालाना रिपोर्ट पेश करते हुए मुझे वह वक्त याद आता है जब तीन साल पहले मैंने इस विश्वविद्यालय के कुलपति का पद संभाला था। इस संस्था के लिए वे दिन कुछ ज्यादा अच्छे नहीं थे और अपने रोजमर्रा का काम चलाने में भी उसे बड़ी-बड़ी मुश्किलो का सामना करना पड़ता था। विद्यार्थियों की संख्या बहुत घट गई थी, और यह डर पैदा हो गया था कि अगर हालत उसी तरह बिगड़ती गई तो इसके अखिल भारतीय स्वरूप को क्षति पहुंच सकती है। इन तीन वर्षों की बीच मुझे इस संस्था के कार्य से संबद्ध सभी लोगों को, खासतौर से इसके अध्यापकों और विद्यार्थियों को, मर्दानगी के साथ इन मुश्किलों का सामना करते और एक बार फिर इस स्थायी प्रगति के मार्ग पर ले जाते हुए

देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है । पिछले दो वर्षों के बीच विद्यार्थियों की संख्या में खासी वृद्धि हुई है और आज हमारे साथ में, अपने वर्तमान साधनों को देखते, जिनमें रिहाइशी जगह और शैक्षिक साजसामान भी शामिल हैं, इतना ज्यादा काम है कि उसे ठीक से निभा सकना भी मुश्किल हो रहा है. . .।''

और इस रिपोर्ट के आखिर में उन्होंने कहा :

''इस रिपोर्ट के आखिर में इस विश्वविद्यालय के काम और इसकी आशा-आकांक्षाओं के बारे में कुछ आम बातें कहना चाहूंगा । ऐसा मैं इसलिए कर रहा हूं कि कुलपति के रूप में मेरे इस पद की पहली अवधि पिछले 28 नवम्बर को खत्म हो चुकी है, हालांकि कुलाध्यक्ष (विजिटर) ने दूसरी अवधि के लिए भी मुझे ही इस पद पर नियुक्त करना उचित समझा है । मेरी आम धारणा यह है कि यह विश्वविद्यालय, जिसे एक बड़े ही नाजुक दौर के बीच से गुजरना पड़ा है, निश्चित रूप से संकट की स्थिति को पार कर चुका है, और यह इसलिए हो पाया है कि इससे संबद्ध सभी लोगों ने हर तरह का सहयोग दिया ।. . .भारत सरकार ने बहुत ही कठिन वित्तीय संकट से उबरने में हमारी मदद की है, और यह बात सही होते हुए भी कि सरकार किसी विश्वविद्यालय की जितनी भी सहायता करे वह थोड़ी ही होगी, और यह हमारी सरकार, अपनी खुद की वित्तीय कठिनाईयों के कारण, अभी भी पूरी उदारता नहीं दिखा सकी है, मुझे सार्वजनिक रूप में यह स्वीकार करते खुशी हो रही है कि हमारी वित्तीय समस्याओं के प्रति भारत सरकार का रुख सहानुभूतिपूर्ण है, जिसके बिना अपने बड़े ही नाजुक वित्तीय संकट से उबर पाना हमारे लिए बहुत ही मुश्किल होता । तीन साल इस पद पर रहने के बाद मेरे दिल में जो बात सबसे ज्यादा साफ है वह यह कि अपनी उपलब्धियों के लिए हमें संतोष है और सभी संबद्ध लोगों से सहयोग मिलने के लिए, जिसके बिना ये उपलब्धियां संभव ही नहीं थीं, उनके प्रति कृतज्ञता है ।

''मेरे दिल में जो दूसरा भाव है, और जो शायद एक ऐसे व्यक्ति के लिए स्वाभाविक है जिसकी जिंदगी तेजी के साथ ढलती जा रही हो, वह, मैं स्वीकार करता हूं एक अधीरता का भाव है; मुझे लगता है कि इस विश्वविद्यालय को मैं असंदिग्ध रूप में विद्या और सेवा के जिस केंद्र के रूप में देखता हूं उसे जिस तेजी से आगे बढ़ना चाहिए वह नहीं बढ़ रही है । भारतीय राष्ट्रीय जीवन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका उससे अपेक्षित है । उसकी इस नियति के बारे में अगर मेरे अंदर आस्था न होती तो मैं जामिया मिल्लिया का काम छोड़ अलीगढ़ नहीं आने वाला था । मैं यहां आने को इसलिए तैयार हुआ और इसलिए यहां बना हुआ हूं कि मुझे राष्ट्रीय महत्त्व का एक बड़ा काम यहां दिखाई पड़ा । इस काम का संबंध एक धर्मनिरपेक्ष, लोकतांत्रिक, राज्य में भारतीय राजनीतिमत्ता और भारतीय राष्ट्रत्व की प्रमुख समस्या से है और उसके जीवन में भारत के चार करोड़ मुसलमान नागरिकों की भूमिका से । हमारे जीवन के विभिन्न सांस्कृतिक प्रभावों को एक सामंजस्यपर्ण, परस्पर संवर्धनशील तानेबाने वाली बनावट के रूप में गूंथने का काम बहुत बड़ा भी है और अत्यंत आकर्षक भी । अतीत की सभी बहुमूल्य निधियों को, उनके स्रोत चाहे जहां के भी रहे हों,

प्रत्येक नागरिक की सर्वसामान्य विरासत के रूप मे परिणत करना है, ताकि हर नागरिक के अंदर अपने अतीत की सर्वसामान्य उपलब्धियों की भावना उत्पन्न हो और वह उनके एक सर्वसामान्य भविष्य के लिए उन्हें प्रेरित करे। इस महान देश के मुसलमान नागरिकों को इस भावना को लेकर अपनी वृद्धि करनी है कि उनका धर्म और भारतीय जीवन की स्वस्थ वृद्धि के लिए उनका विशिष्ट योगदान उनका एक अतिरिक्त उत्तरदायित्व और सेवा के लिए एक विशिष्ट अवसर है, न कि वह धर्मद्रोह है, या काफिर हो जाना। अदूरदर्शी और भ्रष्ट आलोचकों की वजह से अक्सर यह काम मुश्किल बना दिया जाता है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में होते रहने वाले सांप्रदायिक वैमनस्य की स्मृतियों को उभाड़ कर संकीर्ण हृदय वाले ये सूक्ष्म दृष्टिहीन लोग द्वेष भाव से प्रेरित हो, बिना दूसरों के प्रति हमदर्दी रखे, जो गलतफहमियां फैलाते रहते हैं उनका मुंह बंद करना मुश्किल हो जाता है। आम भारतीय जनता, भारतीय पत्रपत्रिकाएं, अपर्याप्त जानकारी रखने वाले भारतीय लोकसेवक, हमारे बारे में किसी भी बुरी बात को मान लेने के लिए मानो पहले से ही व्यग्र रहते हैं। उनकी इस व्यग्रता को मैं समझ सकता हूं, लेकिन एक भारतीय के नाते मैं महसूस करता हूं कि इस देश के प्रति निष्ठा रखने वाले मुसलमान भारतीय नागरिकों के अंदर इस अस्वस्थ मनोवृत्ति के कारण पैदा होने वाले इस भाव को रोकने के लिए मुझे कुछ भी उठा नहीं रखना चाहिए कि वे अपने ही देश मे विदेशी के रूप में देखे जा रहे है। इससे निराशा और कुंठा की एक भावना पैदा होती है जो उन्हें अंदर-ही-अंदर जकड़ देती है। यह न उनके लिए अच्छा है, और न देश के लिए ही। हमारे देश को, अपने पांवो पर खड़े होने और अपने एक समुचित राष्ट्रीय अस्तित्व का निर्माण करने के लिए, इस बात की सख्त जरूरत है कि उसके पास जो मानवशक्ति है उसका रत्ती-रत्ती उसकी सेवा में उल्लास के साथ समर्पित होता रहे। अलीगढ़ जिस तरीके से काम करता है, अलीगढ़ जिस ढंग से सोचता है, भारतीय जीवन के सभी अंगो में अलीगढ़ का जो योगदान होता है, वही अधिकतर यह निर्धारित करेगा कि भारतीय जीवन के ढांचे में मुसलमानों का स्थान क्या रहेगा। भारत अलीगढ़ के साथ जिस तरह पेश आता है, बहुत कुछ वैसी ही हमारे राष्ट्र की स्थिति होगी। पहली बात पर मुझे भरोसा है। भारतीय जीवन में अपना उचित योगदान करने में अलीगढ़ कुछ भी उठा नहीं रखेगा और योग्यता के बल और सेवा के अधिकार से वह, इस स्वाधीन गणराज्य में, जिसके राष्ट्रपति को अपने बीच पाने का सौभाग्य हमें आज मिला है, जो जीवन प्रस्फुटित हो रहा है उसमें अपने लिए एक प्रतिष्ठित स्थान बनाने की वैध रूप से आशा करेगा।''

अब हम इस बात पर नजर डालें कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को इस आदर्श पर चलाने के लिये डा. ज़ाकिर हुसैन ने खुद क्या-क्या किया।

देश के विभाजन की वजह से विश्वविद्यालय के उच्चस्तरीय स्टाफ में काफी कमी हो गई थी। 1948 के अंत में वहां सिर्फ तीन प्रोफेसर रह गए थे, और इनमें से भी प्राणिविज्ञान के प्रोफेसर डा. बाबर मिर्जा सक्रिय रूप से मुस्लिम लीग की विचारधारा का

प्रचार कर रहे थे । नीचे के स्टाफ और विद्यार्थियों में भी कम ही थे जो सांप्रदायिक महामारी की छूत से बच पाए हों । डा. ज़ाकिर हुसैन का पहला काम था भय और संदेह को घटाना । बहुत जल्द ही यह स्पष्ट हो गया कि वह एक सद्भाव संपन्न व्यक्ति थे जिनकी प्रकृति में न तो प्रतिशोध या दंड देने की भावना का लवलेश भी था और न मस्तिष्क-प्रक्षालन की ही रंचमात्र प्रवृत्ति । इसकी वजह से विश्वास की एक ऐसी भावना पैदा हो गई जो कि मुस्लिम विश्वविद्यालय को फिर से प्रतिष्ठित रूप देने की दिशा में पहला कदम सिद्ध हुई । इसी बीच डा. ज़ाकिर हुसैन नए खून की तलाश में रहे, और दूसरे विश्वविद्यालयों से चुन-चुन कर प्रोफेसरों, रीडरों और लेक्चररों को लाया जाने लगा और वहां के स्टाफ मे वृद्धि की जाने लगी । यह एक तात्कालिक आवश्यकता की ही पूर्ति थी । आर्ट्स और विज्ञान के विषयों की स्नातकोत्तर कक्षाओं पर डा. ज़ाकिर हुसैन की नज़र रही, और जो विद्यार्थी होनहार दिखाई दिये उन्हें भारत या विदेशों में आगे की शिक्षा दिलाने के लिये वह प्रयत्नशील रहे । यह एक दीर्घकालीन योजना थी जिसके परिणाम उनके चले जाने के बाद ही सामने आए । आज अगर कोई सर्वेक्षण किया जाए तो अधिक संभव यही है कि विभिन्न विभागों के प्राध्यापकों में अधिकांश लोग ऐसे मिलेंगे जिनके भविष्य को बनाने में उन्होंने मदद की थी ।

उन्होंने नियम बना लिया था कि जो अध्यापक उनसे मिलने आते थे उनसे वह पूछते थे कि वह किस काम में लगे हैं । उनमें ऐसे लोग भी होते थे जिनके काम की प्रगति से वह संतुष्ट थे, लेकिन ऐसे भी लोग होते ही थे जिनसे उन्हें कहना पड़ता था, 'यह तो आपने पिछली मुलाकात के वक्त ही बताया था ।' कुछ लोगों पर उनकी इस टिप्पणी का भी कोई असर नहीं पड़ता था और वे उनके बाद भी पूरी तरह निकम्मे बने रहते थे या बहुत ही कम प्रगति करते थे, पर कुछ लोगों पर इसका अच्छा असर पड़ता था । विभागाध्यक्षों को उन्होंने स्वतंत्रतापूर्वक काम करने की पूरी छूट दे रखी थी, और किसी विभाग के अंदर मतभेद पैदा हो जाने पर भी वह हस्तक्षेप न करने की अपनी नीति का दृढ़तापूर्वक पालन करते थे । एक बार तो इसके बड़े ही बुरे परिणाम हुए । एक भौतिक-विज्ञानी डा. पी. एस. गिल, जिनकी ख्याति यह थी कि संयुक्त राज्य अमेरिका में उन्होंने उच्च कोटि का कार्य किया है, और जिनकी सेवाओं को प्राप्त करने के लिये डा. ज़ाकिर हुसैन को ज्यादा मोलभाव करना पड़ा था, एक अजीब ढंग के आदमी थे । डा. ज़ाकिर हुसैन ने उन्हें हर तरह की सहूलियतें और मौके दिये थे जिनमें गुलमर्ग स्थित एक अनुसंधान वेधशाला भी थी जिसके लिये सं. रा. अमेरिका से साज-सामान और उपकरण मंगाए गए थे । लेकिन भौतिक विज्ञान के विधिवत् विस्तार के अतिरिक्त, जिसके लिये उस विद्वत्ता और योग्यता की जरूरत नहीं थी जिनका उसके बारे में दावा किया जाता था, उनका काम बिलकुल ही आगे नहीं बढ़ा । दूसरी ओर, अपने विभाग के लोगों के साथ वह जिस ढंग से पेश आते थे और अपने विभाग के मामलों को जिस तरीके से निपटाते थे उसकी वजह से उनका विरोध होने लगा और वह इस हद तक बढ़ गया कि बड़ी तकलीफदेह स्थिति पैदा हो गई जो

राजनीतिक दृष्टि से भी खतरनाक थी।

डा. ज़ाकिर हुसैन को कई ऐसे काम भी मिलते रहे थे जिसकी वजह से उन्हें अलीगढ़ से बाहर जाना पड़ता था। कुलपति के पद पर काम करते हुए एक साल भी नहीं बीतने पाया था कि उन्हें दिल का दौरा पड़ा था। फिर भी, सभी देख रहे थे कि जिस व्यक्ति के हाथ में अब वहां की बागडोर थी वह पुरानी लीक पर चलने वाला नहीं था। 1950-51 के बजट में विश्वविद्यालय ने 5,81,375 रुपये का घाटा दिखाया था। लेकिन खर्च कम करने की जगह और भी बढ़ा दिया गया। और इस तरह काम आगे बढ़ने लगा। कितने ही काम करने को पड़े थे, और उन्हें पूरा किया गया। इंजीनियरिंग और टेकनालाजी के कालेज की इमारतों का नक्शा जर्मन वास्तुशिल्पी, दिवंगत माल्टे फ़ान हीइंज़ द्वारा तैयार किया गया था, और उनका निर्माण शुरू कर दिया गया।[1] अंजुमन तरक्कीए-उर्दू की अलीगढ़ में फिर से स्थापना की गई। काजी अब्दुल गफ्फार मरहूम को 'हमारी जबान' का, जिसका प्रकाशन 1 जनवरी 1950 से फिर होने लगा, सचिव और संपादक नियुक्त किया गया।[2] 'इंस्टीट्यूट गज़ट' को, जो कि कब का बंद हो चूका था, जुलाई 1951 से 'दि मुस्लिम यूनिवर्सिटी गज़ट' के नये नाम से फिर शुरू किया गया, और उसके शुरू वाले अंकों में उन सभी कामों की सूची दी गई जिन्हें कि नये कुलपति कर चुके थे या करने जा रहे थे। ऊपर बताई गई बातो के अलावा, अखिल भारतीय मुस्लिम शिक्षा सम्मेलन को पुनर्जीवित किया गया, और 'पुरातन विद्यार्थी संघ' पुनर्गठित किया गया। उसकी वार्षिक सभा 24 अप्रैल

---

[1] यह बताया गया है कि दिल्ली के दंगो के दौरान डा. ज़ाकिर हुसैन एक सेवानिवृत्त सुपरिंटेंडिंग इंजीनियर (अधीक्षक अभियंता) एम. ए. अब्बासी के निकट संपर्क मे आए थे। उद्धार और पुनर्वास का काम पूरा हो जाने पर डा. ज़ाकिर हुसैन ने इंजीनियर के रूप में अब्बासी की प्रतिभा और अनुभव का उपयोग करना चाहा था। दुर्भाग्यवश अब्बासी को हिसाब किताब और रुपयो की अदायगी के काम से नफरत थी जिसकी वजह से बड़ा घपला हुआ। डा. ज़ाकिर हुसैन क्यो उनका इतना लिहाज करते थे या लिहाज करते जाने पड़ते थे, यह कोई भी न तो जान ही पाया और न समझ ही पाया; डा. ज़ाकिर हुसैन भी यह नहीं समझा सके। अब्बासी ने जामिया मिल्लिया के टीचर्स कालेज के छात्रावास का निर्माण किया था और अलीगढ़ के भी इंजीनियरिंग कालेज के निर्माण का काम उन्हीं को सौंपा गया था।

[2] काजी अब्दुल गफ्फार खिलाफत आंदोलन मे (न कि 'के') 'लीडरों' मे से थे और 1920 मे मौलाना मुहम्मद अली खां के साथ लंदन गए थे। मौलाना आजाद के भी वह विश्वासपात्र बन बैठे थे और अंजुमन तरक्किए-उर्दू को जो अनुदान दिया गया था उसकी एक अलिखित शर्त यह भी थी कि वह उसके सचिव बनाए जाएंगे। दरअसल काजी अब्दुल गफ्फार बूढ़े और बीमार आदमी थे, और उनकी तनखा एक तरह से पेंशन के तौर पर थी। अंजुमन के अध्यक्ष के नाते डा. ज़ाकिर हुसैन को, जब इलाज के लिये, बराबर उनके दिल्ली जाते रहने पर उनके यात्रा-भत्तों और मंहगाई-भत्तों के बिलों की तसदीक करनी पड़ती थी तो वह खीज उठते थे, और मालूम यही होता है कि मौलाना आजाद और डा. ज़ाकिर हुसैन के बीच गलतफहमी पैदा करने के लिये काजी अब्दुल गफ्फार हर मौके से फायदा उठाते थे। जान पड़ता है कि उनकी प्रकृति ही वैसी थी।

1951 को की गई । 'पुरातन विद्यार्थी संघ' का पुनर्गठन देश-विभाजन के बाद विश्वविद्यालय और उत्तर भारतीय मुसलमानों के बीच फिर से संपर्क स्थापित करने का भी एक रास्ता था । लेकिन इससे 1951 के अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय कानून में किये गए दो आवश्यक परिवर्तनों के विरुद्ध लोकमत प्रबल हो उठा । 1950 से लागू होने वाले भारतीय संविधान के अंतर्गत, भारत सरकार से अनुदान प्राप्त करने वाली कोई भी शिक्षा संस्था धार्मिक शिक्षा को अनिवार्य नहीं बना सकती थी । इसलिये अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय को भी अन्य संस्थाओ की भांति अनिवार्य धार्मिक शिक्षा को रद्द करना पड़ा । यह बात बहुत से मुसलमानों को पसंद नहीं आई जो यों इस बात को खुशी से स्वीकार कर लेते कि जोर जबर्दस्ती से धार्मिक शिक्षा न तो कभी धार्मिक ही बन सकी और न शिक्षा ही, बल्कि बराबर हास्यास्पद ही बनी रही । इस कानून में होने वाले दूसरे परिवर्तन द्वारा गैर मुसलमान भी विश्वविद्यालय के 'कोर्ट' के सदस्य बन सकते थे । इसका भी घोर विरोध हुआ, क्योंकि इससे यह डर पैदा हो गया कि मुसलमानों को 'कोर्ट' से निकाल बाहर किया जाएगा । ज़ाकिर हुसैन दिल से इन परिवर्तनों के पक्ष में थे और उन पर कितने ही अन्यायपूर्ण कटाक्षों के साथ-साथ यह इलजाम लगाया भी गया कि उन्होंने एक 'नए' ही अलीगढ़ की सृष्टि की है जैसा की भारत सरकार चाहती थी ।

आबिदुल्ला गाज़ी से, जो जुलाई 1951 में इस विश्वविद्यालय में आए थे, मुझे पता चला है कि विद्यार्थियों का एक हिस्सा डा. ज़ाकिर हुसैन को तब तक भी घुसपैठियों के रूप में देखता था, और अलीगढ़ की 'शुद्धि'[1]के लिये भारत सरकार द्वारा थोपा हुआ मानता था । कुलपति के रूप में उन्हें मिलने वाले वेतन की जामिया मिल्लिया वाले उनके वेतन के साथ तुलना की जाने लगी और यह मत प्रगट किया गया कि प्राणिविज्ञान के प्रोफेसर डा. बाबर मिर्जा या टीचर्स कालेज के प्रिंसिपल प्रो. हबीबुर्रहमान कुलपति के रूप में अधिक उपयुक्त होते । अहमद सईद, जिनका तखल्लुस 'जर्रा' था और विद्यार्थी जिन्हें 'अंडा' कहते थे, विद्यार्थी संघ के सचिव थे और एक मौके पर उन्होंने कुलपति का स्वागत करते हुए अपने भाषण में बड़ी चुभती हुई बातें कह डाली थीं । इसके पीछे वजह थी कुछ विद्यार्थियों के खिलाफ अनुशासन की कार्रवाई के फलस्वरूप उत्पन्न रोष और यह प्रस्ताव या अफवाह कि 'चेहलुम'[2]की छुट्टी रद्द कर दी जाएगी । 10 अक्तूबर, 1951 को जब रावलपिंडी में लियाकत अली खां की हत्या कर डाली गई तब कुछ विद्यार्थियों ने इस बात पर जोर दिया कि भोंपू बजाया जाए, जैसा कि आम मातम के मौकों पर पहले से होता आया था । कुछ विद्यार्थियों ने इसका विरोध किया, और विरोध करने वालों में से एक लड़के को, जो जरा ज्यादा आगे था, पीटा गया । हुल्लड़बाज लड़कों की एक भीड़ डा. ज़ाकिर हुसैन के मकान

---

[1]हिंदू धर्म में दीक्षित कर लेना ।

[2]इमाम हुसैन की शहादत, जो हिजरी सन के पहले महीने, मुहर्रम, की 10 तारीख को हुई थी, के बाद का चालीसवां दिन ।

पर आ पहुंची और उसने मांग पेश की कि वह भोंपू बजाए जाने का हुक्म जारी करें। उन्होंने इस मांग पर जोर न देने के लिये उन लोगों को समझाने बुझाने की कोशिश की, लेकिन उसके बाद भी वे लोग शोर मचाते रहे और अपनी मांग पर अड़े रहे तो उन्होंने तंग आकर कह दिया कि उनकी जो मर्जी हो जाकर करें। जिस कमरे में भोंपू बंद था उसका ताला तोड़ डाला गया, और भोंपू बजाया जाने लगा।

जो भी ऐसी घटनाए घटती हैं उनसे यह प्रकट है कि सभी जगहों के विद्यार्थी आवेश में आने पर पूरी तरह बह जाते हैं, लेकिन हमेशा ही देखा गया है कि बहुत ही थोड़े विद्यार्थी ऐसे होते हैं जो हिंसात्मक और निंदनीय कार्रवाइयों में खुद हिस्सा लेते और दूसरों को भी वैसा करने के लिए उकसाते हैं। अलीगढ़ में इससे भिन्न स्थिति नहीं थी। शरारत करने वाले वहां भी थे और उनसे प्रभावित होने वाले काफी लोग थे ही। बहुसंख्यक विद्यार्थी झगड़ों से दूर ही रहना चाहते थे, और काफी सक्रिय कुछ विद्यार्थी ऐसे थे जो अनुशासन कायम रखने के पक्ष में थे और अधिकारियों की नीति के औचित्य को स्वीकार करते थे और विद्यार्थियो के हित में कही जाने वाली हर बात के और उनके हित में किए जाने वाले हर काम के समर्थक थे। अलीगढ़ की नई सत्ता का अगर खुल्लमखुल्ला विरोध करने वाले लोग थे तो डा. ज़ाकिर हुसैन का खुल्लमखुल्ला समर्थन करने वाले भी थे ही। वह स्वयं भी बोलने की स्वतंत्रता को बढ़ावा देते थे और किसी भी अच्छे शिक्षक की भांति आशा करते थे कि कुछ लोगों द्वारा भले ही इसका नाजायज फायदा उठाया जाए, मगर आखिर में जाकर तो इसका शिक्षात्मक प्रभाव फायदेमद होगा ही। जो लोग मदद चाहते थे उनकी वह अबाध रूप से सहायता करते थे, और इस तरह की सहायता में कुलपति की विशेष निधि को ही नहीं अपने वेतन के भी एक बड़े हिस्से को खर्च कर डालते थे। उनके नौकर इशाक को एक ऐसा प्रसंग याद है जब कि उनके कुलपति नियुक्त होने के कुछ ही समय बाद कुछ विद्यार्थी उनसे मिलने के लिए आए हुए थे। फैशन के मुताबिक, उन लोगों की अचकन के ऊपर वाले बटन खुले हुए थे। डा. ज़ाकिर हुसैन को यह पसंद नहीं था। बिना कुछ कहे ही उन्होंने उनके साथ बाते करते हुए उनकी अचकनों के बटन बंद कर डाले। लेकिन ऐसे विद्यार्थियों के बारे मे उनके विचार क्या थे इसका पता उनके द्वारा दिए गए भाषणों से लग जाता है।

11 अगस्त 1951 को जब विद्यार्थी संघ ने नए विद्यार्थियों का स्वागत करने के लिए अपनी एक बैठक की तो डा. ज़ाकिर हुसैन से भी कुछ बोलने के लिए कहा। उन्होंने जो कुछ कहा उसका सारांश 24 अगस्त के 'मुस्लिम यूनिवर्सिटी गज़ट' में दिया गया था :

"हम सभी के अंदर, एक इंसान भी मौजूद है और एक जानवर भी। शिक्षा का उद्देश्य है उस जानवर को दबाकर रखना। शिक्षा का सारा रहस्य अपने अंदर के इस जानवर को दबा कर रखने में और इंसानियत के गुणों का विकास करने में ही है।

"जो लोग इस संस्था में यह सोच कर आए हैं कि वे इम्तहान पास करके कोई डिग्री हासिल करेंगे उन्होंने एक बहुत ही तुच्छ ध्येय और मानदंड अपने सामने रखा है। उनका खयाल है कि उन्हें कोई नौकरी, या रोज़ी का कोई दूसरा जरिया, मिल जाएगा। यह बात

कुछ गलत भी नहीं है। पर यही तो सब कुछ नहीं है। बड़ी बात तो है मस्तिष्क और अंतरात्मा का संस्कार, जिस काम में पूरी जिंदगी ही गुजर जाती है। यह काम तभी से शुरू हो जाता है जब हमें अपने आसपास की दुनिया का बोध होने लगता है। किसी शिक्षा संस्था का कार्य यही है कि लक्ष्य की ओर ले जाने वाले रास्ते पर हमें दृढ़तापूर्वक बढ़ाया जाए। आप लोग यहां अपना विकास करने के लिए आए हैं, अपने अंदर के जानवर को दबा कर रखने और अपने मनुष्यत्व को उन्नत करने के लिए। जानवर और आदमी के बीच का मूलभूत अंतर यही है कि जानवर पर किसी प्रकार का भी सामाजिक दायित्व नहीं है। जानवर एक स्तर से ऊपर नहीं उठ सकता। आपकी पढ़ाई-लिखाई का उद्देश्य अगर यही है कि कुछ तथ्यो को रट रटा लें तो यह गलत है। विद्योपार्जन से जब तक विद्यार्थी के अंदर एक बौद्धिक अवस्था नहीं आ जाती, जब तक वह ज्ञान की खोज के लिए लालायित नहीं होने लग जाता, और उसकी खातिर सख्तियां झेलने के लिए तैयार, तब तक उसका मस्तिष्क अपरिपक्व ही रहा आता है। इतिहास के सभी तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर लेने से ही कोई व्यक्ति इतिहासकार नहीं बन जाता। अब तक रचित सारे काव्य की जानकारी काव्यानंद का उपभोग करने की क्षमता नहीं पैदा करती। उसमें परमानंद प्राप्त होना परम आवश्यक है।

"उच्चतम मूल्यों को आत्मसात् करके ही कोई व्यक्ति अपने को शिक्षित बना सकता है। हमारे रस्मरिवाज, हमारी भाषा, साहित्य, धर्म इन मूल्यों के ही प्रतीक हैं, और सफल उसी को माना जा सकता है जो उन्हें आत्मसात् कर लेता है, उन्हें अपने व्यक्तित्व का अंग बना लेता है। क्या आप के अंदर कभी उन समस्याओं को हल करने की तमन्ना पैदा हुई है जिनका अभी तक हल नहीं मिल पाया है? काव्य को पढ़ने के बाद क्या आपके अंदर काव्य रचना की अभिलाषा उत्पन्न हुई है? वैज्ञानिक प्रयोग करते समय क्या आपके अंदर यह प्रेरणा हुई है कि आप स्वतः ही किसी वैज्ञानिक सत्य को खोज निकालें?

"दोस्तों, शिक्षा प्राप्त करने वाले नौजवानो। शिक्षा को कोई सतही चीज न बना डालो। शिक्षा महज रट लेने की चीज नहीं है। काव्य हो अथवा कला, गणित हो या विज्ञान, उसके सौंदर्य का आविष्कार करके, उसके रहस्य का उद्घाटन करके, आप अपने ही मस्तिष्क को सुंदरता प्रदान करेंगे।"

'शिक्षा का उद्देश्य यह भी है कि मनुष्य जीविकोपार्जन योग्य बन सके। ऐसा करने वाले को स्वार्थी नहीं कहा जा सकता। अपने समाज में हमें प्रतिष्ठित व्यक्ति की ही तरह रहना है, और वैसा करते हुए समाज की भी उन्नति करनी है। जिस स्थिति में हम अपने समाज को पाते हैं उसी में अगर उसे छोड़ देते हैं तो हम अपने दायित्व से च्युत होते हैं। भला आदमी वह है जो अपनी मृत्यु के समय अपने पीछे एक ऐसे समाज को छोड़ जाता है जो उसके जन्म के समय से बेहतर है।

"छात्रावास में आप लोगों का रहना बड़ा महत्त्वपूर्ण है। जिस छात्रावास में आप रहते हैं उसे आपको और भी अच्छा बनाना चाहिए। जो लड़के यहां पहले से हैं उन्हें अगर अपने दायित्व का बोध रहे तो नए लड़के भी उनके साथ उसमें हिस्सा बंटाना सीखेंगे। पुराने और नए विद्यार्थी एक साथ रहते हुए एक दूसरे से कुछ सीख सकते हैं। आपको नए समाज की

भाषा सीखना है, अपनी खुशी और नाराजगी का इजहार करने का तरीका सीखना है। जब आप अपने 'संघ' में आते हैं तब आपको न सिर्फ बोलने की बल्कि सुनने की भी कला सीखनी चाहिए। बोलना काफी आसान है, लेकिन दूसरे को बोलते सुनना मुश्किल है। फिर, जो कुछ कहा जाता है उससे सहमति या असहमति प्रकट करना भी आना चाहिए।

''परंपरा कोई बनी बनाई चीज नहीं होती। परंपराएं बनाई जाती हैं और उनमें नई परंपराएं जोड़ी जाती हैं। अगर परंपराओं में बुराई घुस आती हैं तो उन्हें दूर किया जा सकता है। स्वस्थ समाज स्वस्थ परंपराओं को जीवित रखता है और बुरी परंपराओं का त्याग कर देता है। हमारे मजहब में, जब शराब पीने की निंदा की गई है तो साथ ही उसके कुछ लाभ भी बताए गए हैं। इसे इसलिए मना किया गया है कि शराब पीकर आदमी अपने होश-हवाश खो बैठता है, और हर ऐसी चीज खराब और नुकसानदेह है जो आवश्यक बंधनों को इस हद तक तोड़ देने की ओर ले जाती है कि आदमी जानवर के स्तर पर रहने लग जाए।

''यहां जो लोग शिक्षा प्राप्त करने आए हैं उन्होंने एक बड़ा काम अपने हाथ में लिया है। उन्हें सबसे पहले तो खुद अपने को जानना होगा, अपनी क्षमताओं और प्रवृत्तियों का पता लगाना होगा और यह जानना होगा कि उनके व्यक्तित्व में कौन सी बात अनूठी है। अधिकांश लोग यह नहीं जानते कि उनके अंदर क्या प्रतिभा है, उन्हें क्या करना चाहिए, अपने लिए उन्हे कौन सा रास्ता बनाना चाहिए। अपनी प्रवृत्तियों और क्षमताओं का, अपने व्यक्तित्व का, पता लगाना और जिन विभिन्न तत्वों से हम निर्मित हैं उनके बीच सामंजस्य स्थापित करना ही अपने चरित्र का निर्माण करना है। इस प्रकार निर्मित अपने चरित्र को जब किसी ऊंचे ध्येय के लिए कोई समर्पित कर देता है तब वह एक व्यक्तित्व का रूप ग्रहण कर लेता है, और यदि ऐसा व्यक्तित्व उच्चतर मूल्यो की उपलब्धि मे ही तन मन से लग जाता है तो उसका हाथ खुदा का हाथ बन जाता है, उसकी जबान खुदा की जबान बन जाती है, क्योंकि उच्चतम मूल्यों की समष्टि को हम खुदा का नाम देते है।

''व्यक्तित्व का निर्माण केवल समाज मे ही रह कर हो सकता है, लंबे अरसे तक और निरंतर एकांतवास करते हुए नहीं। लोगो के बीच रह कर ही और उनके लिए काम करके ही व्यक्तित्व का विकास होता है। अगर आप दूसरों का भला करने की आदत डाल लें तो आपका समाज एक बेहतर समाज बन जाएगा और अपने व्यक्तित्व का भी आप विकास करेंगे। समाज की भलाई में ही आप अपनी भी भलाई देखें। नैतिक विधान को भंग करने वाली छोटी-मोटी हरकतें संपूर्ण समाज की ही प्रतिष्ठा को घटा देती हैं; हमीं उसकी शौभा को बढ़ाते है या घटाते हैं। कुछ लोगों के दुर्व्यवहार के कारण पूरा समाज बदनाम हो जाता है। यह ठीक है कि हममें से कुछ अगर बुरे हैं तो हम सभी बुरे नहीं हो जाते, लेकिन ये कुछ लोग भी, हकीकत में, हमारे ही तो हिस्से हैं, हमारे ही रक्त मांस, और उनके लिए भी हमारी जिम्मेदारी है ही। अपनी संस्था और अपने समाज को सुधारने के लिए आपको कोशिश करनी ही होगी। आपकी संस्था की अच्छाइयां आपकी अच्छाइयां बन जाएंगी, और

अगर आप अपने अंदर अच्छाइयां पैदा करते हैं तो आने वाली पीढ़ियों को एक बेहतर समाज में रहने का मौका मिलेगा।''

''अपने अध्यापकों के प्रति आपका आचरण बहुत ही महत्वपूर्ण है। बुरे विद्यार्थी किसी अध्यापक को भी मिट्टी का लोंदा बना डालेंगे, और अच्छे विद्यार्थी किसी साधारण अध्यापक को भी बुद्धिमत्ता की साकार मूर्ति में परिणत कर देंगे। विद्यार्थी और अध्यापक के बीच का भावात्मक सूत्र वही है जो बच्चे और मां के बीच रहता है। अध्यापक के दिल में वही स्नेह और ममता होनी चाहिए जो बच्चे के लिए मां के दिल में होती है और जो उसके दूध के जरिये, जिसे पीकर ही बच्चा बढ़ता है, उस तक पहुंचती रहती है। विद्यार्थी की अच्छाइयां अध्यापक को भी प्रोत्साहित करती हैं और उसे उन्नत बनाती हैं, और उसके जरिये समूचे समाज को।

''आपके साथ लड़कियां भी पढ़ रही हैं। उनके प्रति आपका सलूक अच्छा होना चाहिए। उन पर छींटाकशी करना और भद्दे ढंग से पेश आना आपके अपने छिछोरेपन का द्योतक है। किसी लड़की में मां, बहन और पत्नी तीनों का समावेश रहता है। एक दिन ये लड़कियां पत्नियां बनने वाली हैं। क्या आप यह पसंद करेंगे कि आपकी पत्नी को कोई ठेस पहुंचाए ?

'लिखना पढ़ना तो सामान्य प्रकार के ही काम है; मानव प्रकृति की पूर्ण उच्चता की प्राप्ति ही वास्तविक ध्येय है। इस ध्येय तक पहुंचना ही आपके दिल की तमन्ना होनी चाहिए। धूल के भी जर्रे-जर्रे में कोई रहस्य छिपा पड़ा है, अगर कोई उसे खोज निकालना चाहे; कितने ही दरवाजे खुलने के इंतजार में है, अगर कोई उन्हें खटखटाए। मौलाना रूमी का वह शेर आपने जरूर पढ़ा होगा जिसमें उन्होंने कहा है कि पानी तक को प्यासे की तलाश रहती है।''

डा. ज़ाकिर हुसैन ने जब अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय का कुलपति होना स्वीकार किया था तब उनके सामने दो प्रकार के अवसर थे। इनमें से एक था उस विश्वविद्यालय में शिक्षा की विभिन्न शाखाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले नौजवान, उद्यमी और प्रतिभाशाली लोगों को एकत्र करके उसे बौद्धिक तथा वैज्ञानिक क्रियाकलाप का एक केंद्र बनाना; और दूसरा था उसके मैदान को एक बगीचे की शक्ल दे देना।

उसे बगीचे की शक्ल दे देने वाला काम ही डा. ज़ाकिर हुसैन पूरी तरह और अपने संतोष लायक कर पाए। बागबानी का शौक उन्हें हमेशा से था, लेकिन ओखला में, जमीन काफी होते हुए भी, साधनों का अभाव था, और मवेशियों से उसकी रक्षा करने का कोई उपाय नहीं था। फूलों और बागबानी का उनका अपना ज्ञान सीमित था। इस कमी की पूर्ति उन्होंने रामपुर में की जहां वह अपने दिल के दौरे के बाद कर्नल बी. एच. जैदी के घर पर आराम करने के लिए गए थे। बेगम कुदसिया के शौक ऊंचे दरजे के थे और बढ़िया चीजों के संग्रह में उनकी रुचि थी जिसे अपनी साधन संपन्नता के कारण वह पूरा भी कर सकती थी। डा. ज़ाकिर हुसैन ने मामूली चीजों में भी, चांदी सोने की कलात्मक चीजों की

जगह काठ और मिट्टी और तांबे की बनी चीजों में भी, सौंदर्य देखने की कला उन्हें सिखाई, और इस सौंदर्य साधना के माध्यम से उन दोनों के बीच एक कोमल संबंध स्थापित हो गया। रामपुर के दीवान के नाते कर्नल जैदी ने वहां के बाग तैयार कराए थे, और डा. ज़ाकिर हुसैन ने उनके और बेगम जैदी के फूलपौधों के और बागबानी के ज्ञान से लाभ उठाकर बागबानी सीखना शुरू कर दिया। जहां कहीं भी वह जाते, बागबगीचों और 'नर्सरियों' में ज्यादा से ज्यादा वक्त बिताते और स्थानीय पेड़ पौधों और फूलों के बारे में जानकारी हासिल करते। इस तरह कुछ ही वक्त में, अलीगढ़ में अपने बागबानी विशेषज्ञों को वह आत्मविश्वासपूर्वक सलाह-मशविरा और मार्गदर्शन देने योग्य बन गए। विश्वविद्यालय का अहाता बूगन विलीय (बेगमबेलिया) फूलों वाली झाड़ियों और गुलाबों से हर वर्ष अधिकाधिक रंगीन होता चला गया, और उसकी हर सड़क के दोनों ओर शानदार दरख्तों की कतारें खड़ी होती चली गई।

अब हम कालानुक्रम को छोड़ यहां एक ऐसी बात का जिक्र करना चाहेंगे जिसका डा. ज़ाकिर हुसैन को बड़ा शौक था और जिससे उन्हें ज्यादा से ज्यादा खुशी हासिल होती थी—दक्षिण के पहाड़ी सैरगाहों और खूबसूरत जगहों की यात्रा की, जिसकी योजना उन्होंने और कर्नल वी. एच. जैदी ने 1955 की गर्मियों के लिए बनाई थी।

मगर उस पर कितना खर्च आएगा यह जान लेना तो जरूरी था ही। डा. ज़ाकिर हुसैन ने जब कर्नल जैदी से पूछा कि उन्हें कितना खर्च करना पड़ेगा, तो वह बोले कि इस सफर में करीब 500 रुपये खर्च हो जाएंगे। चूंकि खजांची का काम उन्हीं को करना था इसलिए उन्हें उम्मीद थी कि जो भी कमी पड़ेगी उसे वह अपने पास से पूरा कर देंगे और डा. ज़ाकिर हुसैन को पता भी नहीं चल सकेगा। मगर जब अपने पहले पड़ाव बंबई तक पहुंच कर ही डा. ज़ाकिर हुसैन ने उनसे हिसाब मांगना शुरू कर दिया तब वह घबड़ा गए। पर जब यह सफर पूरा हुआ तो दरअसल 500 रुपये से भी कम खर्च हुआ था। संसद सदस्य होने के नाते रेल भाड़ा उन्हें नहीं देना पड़ा था, और जहां-जहां वे गए प्रायः सभी जगह उनकी ऐसी मेहमानवाजी हुई कि रहने और खाने पीने का खर्च भी बच गया। खर्च हुई रकम का अधिकांश भाग तो बखशीशों और पौधों की खरीद पर खर्च हुआ था।

बंबई में चार दिन रुककर डा. ज़ाकिर हुसैन और कर्नल जैदी एक पखवारे के लिए पंचगनी गए। डा. ज़ाकिर हुसैन पैदल चलना नापसंद करते थे, लेकिन कुछ कसरत तो जरूर थी। कर्नल जैदी की यह आदत बन गई कि वह अकेले ही करीब मील भर दूर किसी ऐसे दरख्त की तलाश में निकल जाते जिसमें कोई खूबी हो। फिर वह डा. ज़ाकिर हुसैन से उसका जिक्र कर बैठते। यह एक ऐसा प्रलोभन था जिसे डा. ज़ाकिर हुसैन रोक नहीं सकते थे, और अगले दिन सबेरे ही वे दोनों उसे देखने के लिए चहलकदमी करते, और बीच-बीच में कई जगह रुकते, उस दरख्त तक जा पहुंचते।

अगला पड़ाव था शिवाजी की मातृभूमि-महाबलेश्वर, प्रतापगढ़, सिंहगढ़, सतारा और अंत में, पूना। शिवाजी और प्रारंभिक काल में मराठा इतिहास पर लिखी पुस्तकें उनके

साथ थीं, और घूमने फिरने की शारीरिक कसरत के अलावा, वे मराठा इतिहास के पुननिर्माण की दिमागी कसरत भी किया करते। पूना से वे बैंगलोर गए, और तीन दिन बाद मैसूर। मैसूर से वे कुर्ग जाना चाहते थे, जो तब चीफ कमिश्नर वाला प्रांत था, और जिसकी राजधानी मर्कारा थी, जो प्रतिष्ठ भारतीय सेनाध्यक्षों–करियप्पा और थिमैया–का अपना क्षेत्र था। रेल का रास्ता न होने की वजह से वहां जाने का इरादा वे लोग प्रायः छोड़ ही बैठे थे, कि उनके मेजबान से मिलने के लिए मैसूर आने वाले एक व्यापारी को इस बात का पता चला और उन्होंने उन्हें अपनी कार और स्टेशन वैगन को, जो उनके घर वालों को वहां छोड़ खाली वापस जाने वाले थे, उनके हवाले कर दिया। यह न केवल एक वरदान था, बल्कि उनकी बाकी यात्रा के लिए भी शुभ सिद्ध हुआ! हर जगह ही उनके उस मेजबान ने अगले पड़ाव तक उन्हें पहुंचाने के लिए किसी न किसी कार की व्यवस्था कर दी।

कुर्ग पहुंचकर वे लोग उस व्यापारी के घर पर ठहरे जिसने उन्हें अपनी कार सफर के लिए दी थी। वह एक चाय बगान वाला था, और उसकी बदौलत उन लोगों ने चाय और काफी के बगानों की सैर की। फिर वे कालीकट गए। उनके वहां आने की सूचना एक मलाबारी नौजवान मुहम्मद इशाक ने, जो कि जामिया मिल्लिया में ही पढ़ा था और सामाजिक कार्यों में बहुत अधिक भाग लेता था, पहले से ही लोगों को दे रखी थी। वहां पहुंचने पर उन्होंने देखा कि कालीकट के जानमाने लोगों द्वारा उनके स्वागत की पूरी तैयारी की गई थी, और उस अवसर के उपयुक्त भाषण भी उन्हें देने पड़े। यहां एक स्थानीय ब्राह्मण ने भी उनके आगमन की सूचना पाकर उन्हें भोजन के लिए निमंत्रित किया, और जब उसे बताया गया कि हर बार के खाने के निमंत्रण पहले से ही स्वीकृत हो चुके हैं तो वह बोला, "तब कृपा कर सबेरे के नाश्ते के पहले ही आ जाइये, और यह देखने का कष्ट उठाइये कि किसी ब्राह्मण की काफी कैसी होती है।" सचमुच ही वैसी स्वादिष्ट काफी उन्होंने पहले कभी नहीं चखी थी।

कालीकट को अपना पड़ाव बनाकर उन्होंने पश्चिमी नीलगिरि की छानबीन की, जिसका असाधारण सौंदर्य देख वे चकित रह गए। इसके बाद वे लोग कोचीन और एलेप्पी गए, जो भारत का वेनिस माना जाता है। यह नगर पंबियार और अचंकोविल नदियों के समुद्र प्रवेश के समय बने समुद्रतालों के ऊपर बना है। उन्होंने मलाबार के ईसाई इलाके का दौरा किया, और पेरियार झील और विख्यात वन्य पशुविहार को देखा। उनका अगला पड़ाव था क्विलन, जहां भारत के काजू उद्योग के सबसे बड़े उद्योगपति डा. ज़ाकिर हुसैन से मिलने आए और एक मुस्लिम आर्ट्स और साइंस कालेज के निर्माण के लिए उन्होंने 15 लाख रुपये का चैक उन्हें भेंट किया। इसके लिए उन्होंने दलील यह दी कि सिवा मुसलमानों के सभी संप्रदायों के इस तरह के अपने कालेज हैं; डा. ज़ाकिर हुसैन ने उन्हें समझाना चाहा कि इस रकम को वह ऐसे काम पर खर्च न करें जो कि पहले से ही हो रहा है। किसी दूसरे ढंग की संस्था पर क्यों न खर्च करें, मसलन, इंजीनियरी के कालेज पर। काजू-उद्योगपति ने जवाब दिया कि इंजीनियरी के एक कालेज की स्थापना के लिए वह 15 लाख रुपये और दे

देंगे, लेकिन मुसलमानों का एक आर्ट्स और सांइस का कालेज तो होना ही चाहिए। डा. ज़ाकिर हुसैन को राजी हो जाना पड़ा, और अब उनके नाम पर ऐसा एक कालेज मौजूद है।

क्विलन से डा. ज़ाकिर हुसैन और कर्नल जैदी त्रिवेंद्रम होते हुए कन्याकुमारी गए, और लौटते वक्त त्रिवेंद्रम से रेल से मद्रास आए। उनके साथ अपनी यात्रा की यादगार के रूप में 250 पौधे थे।

बागबानी के अलावा, अलीगढ़ में रहते वक्त, डा. जाकिर हुसैन का एक दूसरा शौक हो गया था जीवाश्मों (फॉसिल) और असाधारण किस्मों के पत्थरों और स्फटिकों का संग्रह। उन्होंने मुझे बताया था कि इसके लिए पहली प्रेरणा उन्हें विश्वविद्यालय के भूविज्ञान विभाग में जाने पर मिली थी। उसके बारे में उन्होंने जिस तरह बात की उससे लगता था कि एक मात्र वही विभाग ऐसा है जिसमें एक ऐसे उत्साह का स्पष्ट प्रमाण मिलता है जो ज्ञान के उपार्जन और प्रगति के काम में लगे रहने का दावा करने वालों को विशिष्टता प्रदान करता है, और उससे वह अत्यंत प्रभावित थे। इस विभाग के संग्रह को समृद्ध बनाने के लिए उनसे जो कुछ भी हो सकता था उन्होंने किया, और फिर अपने लिए भी उस प्रकार का संग्रह करने लग गए।

अलीगढ़ विश्वविद्यालय को उन्नत करने के लिए डा. ज़ाकिर हुसैन ने जो प्रयत्न किये उनके परिणामों का पता लगाने की मैने कोशिश की है। अनुसंधान की प्रचलित प्रविधियों की मांग यह थी कि एक विस्तृत प्रश्नावली तैयार करके उसे जानकार लोगों की ज्यादा-से-ज्यादा बड़ी संख्या के पास भेजा जाता और उन्हें उत्तर देने के लिए प्रवत्त किया जाता ताकि वैज्ञानिक निष्पक्षता के साथ यह निर्धारित किया जा सकता कि अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में डा. ज़ाकिर हुसैन के बारे में, उनके ध्येयों के स्वरूप, संख्या और महत्त्व के बारे में, जो कुछ वह करना चाहते थे उनमें मिलने वाली उनकी सफलता या विफलता की मात्रा के बारे में, और उनके कारणों के बारे में लोगों के विचार क्या हैं। लेकिन मैं तो यही मान कर चल रहा हूं कि कुलपति के रूप में अपने कार्य के बारे मे सबसे अच्छे पारखी स्वयं डा. ज़ाकिर हुसैन ही थे, और, 1951 में विद्यार्थियों के समक्ष दिए गये उनके उस अभिभाषण के अलावा, जिसे कि पहले ही उद्धृत किया जा चुका है, उनके कुछ अन्य भाषणों से भी, अगर उनकी ठीक-ठीक व्याख्या की जाए, अपने मतलब की सारी बातें हमें मालूम हो जाएंगी।

संयुक्त राज्य समेरिका के दौरे से लौटने के बाद, 11 अगस्त 1952 को, सर सैयद हाल में उनके सम्मानार्थ दिये गए भोज के अवसर पर उन्होंने कहा था :

"मैं चार महीने बाद अलीगढ़ लौट रहा हूं और मुझे बड़ी खुशी है। जब भी मैं अलीगढ़ आता हूं मुझे खुशी होती है। जब मै विद्यार्थी था तब अलीगढ़ को ही अपना सब कुछ मानता था। यह तब मेरा घर था, मेरा बाग था, मेरा वतन था। अलीगढ़ जब किसी भी बजह से, कुछ वक्त के लिए भी, मुझसे छूट जाता था तब मेरा दिमाग अपने इस घर, इस

बाग, इस वतन के खयालों में डूबा रहता था। मैं सिर्फ इसी के बारे में सोचा करता था। यही मेरी बनने वाली जिंदगी का एक हिस्सा था। (लेकिन) जब मैं विद्यार्थी था तब भी मैं अलीगढ़ से बिछड़ा हुआ था। मैंने और मेरे कुछ दोस्तों ने इस संस्था के खिलाफ बगावत कर दी थी। इस संस्था को हम जो कुछ बनाना चाहते थे, यहां के अधिकारी उसके खिलाफ थे, हम इसका जो सही उद्देश्य समझते थे उससे वे सहमत नहीं थे।. . .तब मैं साहेब बाग में रहता था। पुलिस ने आकर मुझे एक ट्रक में बिठा दिया और रेलवे स्टेशन ले गई। यहां मेरे आने पर रोक लगा दी गई। इसके बाद मैं और मेरे सहयोगी जामिया में काम करने लगे। यहां से विद्रोह करने के बाद ही हमने जामिया की स्थापना की थी, मगर हम जामिया मिल्लिया को इससे अलग कभी नहीं समझते थे। मैंने पूरे दिल से जामिया मिल्लिया में 27 साल तक काम किया क्योंकि मैं महसूस करता था कि वहां मैं अलीगढ़ के लिए ही काम कर रहा हूं। मुझे यकीन था कि किसी न किसी दिन हम अलीगढ़ लौटेंगे ही और इसे अपनी आशाओं और सपनों का केंद्र बिंदु बनाएंगे. . .''

यह उद्धरण 'मुस्लिम यूनिवर्सिटी गजट' से लिया गया है और ऐसा लगता है कि उसने उनके भाषणा का विवरण पूरा और शब्दशः नहीं दिया है, हालांकि उसका सारांश बहुत हद तक ठीक ही दिया गया है। किंतु शिक्षा के जिस आदर्श का प्रतिनिधित्व अलीगढ़ करता है उसकी उस तीव्र आलोचना के साथ, जिस पर एक पिछले अध्याय में हम विचार कर चुके हैं, घर की इस याद का कोई मेल नहीं बैठता। और उपर्युक्त भाषण के कोई आठ दिन बाद ही डा. ज़ाकिर हुसैन ने 'विद्यार्थी संघ' के समक्ष बोलते हुए कहा था :

''किसी देश के सबसे अधिक मेधावी लोगों के नाते आप उन थोड़े से लोगों में से हैं जो अपनी जिंदगी का एक खासा हिस्सा ज्ञानोपार्जन और (जीवन के लिए) प्रशिक्षण में बिताते हैं। आपसे यह उम्मीद की जाती है कि आपका चरित्र अच्छा होगा। दूसरे विश्वविद्यालयों में क्या हो रहा है, और वहां के विद्यार्थी क्या कर रहे हैं, यह आपको नहीं सोचना है। हमारे यहां अभी भी ऐसे विश्वविद्यालय नहीं हैं जो सचमुच अच्छे हों। अगर किसी विश्वविद्यालय में हमें ऐसे (आचरण के) उदाहरण मिलें जो अशिक्षित और असंस्कृत लोगों में देखने को मिलते हैं, तो यह कितने अफसोस की बात है। हम किसी भी चीज को परखते नहीं हैं, हमारे अंदर आत्मसंयम नहीं है। अगर चौदह पंद्रह साल तक शिक्षा पाने के बाद कोई आदमी अपने ऊपर नियंत्रण नहीं रख सकता तो वह जानवरों से किस मानी में बेहतर है. . .? उतावलापन और आत्मसम्मान का अभाव ऐसी बुराइयां हैं जिनसे हर भले आदमी को बचना चाहिए। हमें (मनुष्य होने के नाते) एक प्रतिष्ठा मिली हुई हैं जिसका तकाजा है कि हम आत्म निरीक्षण में लगे रहें। आपको अपने चरित्र का, अपने व्यक्तित्व का, निर्माण करना ही होगा, नहीं तो आपका यहां आना, और शिक्षा प्राप्त करना, सभी अपने को धोखा देना है।''

जो लोग डा. ज़ाकिर हुसैन के बोलने के तरीके को जानते थे उन्होंने देख लिया होगा कि 11 अगस्त 1951 के उनके भाषण, जिन्हें पहले उद्धृत किया जा चुका है, उनकी प्रकृति और

संस्कृति के हिसाब से अधिक से अधिक भर्त्सनापूर्ण थे, और 19 अगस्त 1952 के उनके भाषण से ऐसा नहीं प्रतीत होता कि विद्यार्थियों में आमतौर पर अच्छी दिशा में कोई परिवर्तन हुआ था। इससे भी ज्यादा आम, और समझ सकने की क्षमता रखनेवाले के लिए उतनी ही कटुतापूर्ण थी, उनकी यह शिकायत कि उन्होंने जो कुछ किया था और जो वह तब भी करना चाह रहे थे उसका कोई असर नहीं हो रहा था। उन्होंने यह भाषण सर सैयद अहमद खां के व्यक्तित्व और उनकी उच्च आकांक्षाओं की ओट में दिया था। इसके लिए उन्होंने जो मौका चुना वह था 17 अक्टूबर 1954 को मनाया जाने वाला सर सैयद दिवस। 'मुस्लिम यूनिवर्सिटी गजट' ने अचरज के साथ ही यह विवरण दिया कि डा. जाकिर हुसैन सारी सुबह उस सभा के लिए प्रबंध करने में ही व्यस्त रहे थे, और जैसे-जैसे अतिथि लोग आते गए थे वह उनकी इतनी ज्यादा खातिर करते गए थे जितनी की कुलपति के रूप में स्वयं उनकी किसी भी मौके पर नहीं की गई थी।

"सर सैयद कुछ कर दिखाना चाहते थे।[1] वह सिर्फ एक जिंदगी ही नहीं बिताना चाहते थे; वह बराबर के लिए जिंदा रहना चाहते थे। लेकिन उनके लोग उन्हें मार डालने पर तुले हुए थे। अपने किये हुए काम के बल पर ही हम जिंदा रहे आते हैं; मगर लोग काम से जी चुराना चाहते थे, उससे दूर ही दूर रहना चाहते थे।"

"सर सैयद वह करने के लिए आगे बढ़े जो दूसरे नहीं करना चाहते थे। वह चाहते थे कि खेती के बारे में किताबें लिखी जाएं। जब कोई भी इसके लिए तैयार नहीं हुआ तो वह खुद उन्हें लिखने बैठ गए। इस सभा में कई बड़े-बड़े विशेषज्ञ मौजूद हैं जो बड़ी-बड़ी तनखाहें लेते हैं। अपने-अपने विषयों पर उन्होंने कितनी किताबें लिखी हैं ? सर सैयद ने एक वैज्ञानिक समाज स्थापित किया और अनुवाद का काम शुरू कर दिया। यह काम बंद कर दिया गया। उन्होंने उर्दू साहित्य की श्रीवृद्धि करनी चाही। लोगों ने उनका विरोध किया। उन्होंने एक कालेज खोला। उसके काम को उन्होंने बढ़ाना चाहा, उसे उर्दू विश्वविद्यालय का रूप देना चाहा, अंग्रेजी की शिक्षा एक दूरदर्शी पैमाने पर देनी चाही, फारसी और अरबी के अध्ययन का एक केंद्र खोलना चाहा। उन्होंने बहुत कुछ करना चाहा, लेकिन एक आदमी अकेला कितना कर सकता है ? उसके साहस, उनकी उच्च आकांक्षा, उनके दृढ़ संकल्प को लोग बरदाश्त नहीं कर सके। उन्होंने अपने संप्रदाय को ऊंचे स्तर तक उठाना चाहा; निकम्मे लोगों ने उन्हें खींचकर अपने स्तर तक ले आना चाहा। सर सैयद ने उनके साथ समझौता किया। जो लोग आराम की जिंदगी बिताना चाहते थे वे डिप्टी कलेक्टरों और तहसीलदारों के ओहदे मिलने से ही संतुष्ट हो गए; जो किरानी का काम करके ही संतुष्ट रह सकता था उसके किरानी का काम मिला। जिनके अंदर महत्त्वाकांक्षा और हिम्मत थी उन्होंने उन्हें सहयोग दिया. . ."

इस खरी आलोचना के जरिये अपने दिल का गुबार निकालने के इस इरादे को सामने

---

[1] यह विवरण शब्दशः नहीं जान पड़ता।

रखकर ही उन्होंने उसकी क्षतिपूर्ति के रूप में उस समारोह की व्यवस्था में इतनी ज्यादा दिलचस्पी ली थी और अपने पद के गौरव को ध्यान में रखते हुए अधिक से अधिक शिष्टाचार और नम्रता बरती थी। एक साल और बीत जाने पर वह इस नतीजे पर पहुंच गए कि उनके बस में जितना था वह कर चुके। उनके कागजों में कुछ ऐसी खतकिताबत मिली है जिससे प्रकट होता है कि उनके दोस्तों को यह पता चल गया था कि मार्च 1956 में वह इस्तीफा दे देने वाले हैं। लेकिन हमें यही मानकर चलना होगा कि अपना यह फैसला उन्होंने 1955 के मध्य में कर लिया था। वह सिर्फ इस्तीफा ही नहीं देना चाहते थे। अपने पद की अवधि के सूर्यास्त के समय विश्वविद्यालय के समूचे चित्रपट पर वह इतने रंगों की छटा बिखेर देना चाहते थे कि हर कोई यही समझे कि यह दिन एक खुशी और बहार का दिन था। और यह कोई भी न समझ पाए कि डा. ज़ाकिर हुसैन का असल मंशा तो अपने सभी कर्जों को, बिना जरा भी इस बता का खयाल किये कि दरअसल उन पर कोई कर्ज था भी या नहीं, इस तरह चुका देने का था कि रंचमात्र भी न्यायभावना रखनेवाला हर व्यक्ति यही देखे कि हिसाब-किताब को साफ करने की अब कोई गुंजाइश नहीं रह गई। नवंबर 1955 में प्रधानमंत्री, जवाहरलाल नेहरू को, जो तब अपनी कीर्ति के शिखर पर थे, मौलाना आजाद लाइब्रेरी और सैफी होस्टल के शिलान्यास के लिए निमंत्रित किया गया था, और उनका स्वागत करते हुए डा. जाकिर हुसैन ने कहा :

"मेरा कितना बड़ा सौभाग्य है कि मुझे एक प्यारे और सम्मानित अतिथि, भारत के प्रधानमंत्री, पंडित जवाहरलाल नेहरू का, इस विश्वविद्यालय में स्वागत करने का अधिकार प्राप्त हुआ। किंतु इस अधिकार के साथ एक कठिन कर्त्तव्य भी जुड़ा हुआ है। किसी औपचारिक स्वागत की अभिव्यक्ति किसी न किसी प्रकार शब्दों के माध्यम से की जा सकती है। लेकिन जब पानी से लबालब भरे हुए बरसात के काले बादल सूखी और प्यासी धरती के ऊपर मंडराने लगते हैं, और उसका जर्रा-जर्रा जिंदगी की किसी छिपी हुई धारा से स्पंदित हो उठता है, तब बादलों का स्वागत करने के लिए धरती किसी प्रकार की भाषा को काम में नहीं लाती। पतझड़ की घातक हवा जब दरख्तों के ऊपर होकर गुजर जाती है और उनकी शिराओं में होकर फिर से जब रस बहने लगता है, तब बसंती हवा का स्वागत करने के लिए कलियां टहनियों के अंदर से झिझकती और सकुचाती-सी झांकने लगती हैं और फिर आनंद के ज्वार में अचानक खिल उठती हैं; पेड़-पौधे विकास के अपने प्रचंड उल्लास को प्रगट करने के लिए स्वागत भाषण की अपेक्षा नहीं रखते। बसंत के आगमन के साथ-साथ जब पहला पक्षी बाग में आ पहुँचता है तो समूचे बाग में मुस्कुराहट खिल उठती है और खुशी की मस्ती में वह झूम उठता है; फिर वह मुंह खोलकर कुछ कहता नहीं है। लेकिन इंसान ऐसा बेवकूफ है कि ऐसे क्षणों में भी वह सही सलाह को भूल जाता है कि इस तरह के रंगीन भावों की अभिव्यक्ति प्यार और हसरत भरी चितवन के जरिये ही होनी चाहिये। वह शब्दों के जरिये कुछ कह डालने की तमन्ना रखता है, और भी अपनी अक्षमता पर बेहद शर्मिंदा हो उठता है। मैं भी कैसा भौंदू और बेवकूफ हूं कि अच्छे से

अच्छे शब्दों में अपने भावों को प्रकट करने के लिए उठ खड़ा हुआ हूँ, मगर यह भी जानता हूँ कि ऐसा करने में मैं असमर्थ ही रहूँगा। फिर भी, मुझे उम्मीद है कि मैं जो कहना चाहता हूँ उसे पंडित जी समझ लेंगे।"

"पंडित जी, इस विद्यालय की ओर से, इसके अधिकारियों की ओर से, जो अच्छी तरह जानते है कि इस विश्वविद्यालय जैसे शिक्षा केंद्र चीजों की बिक्री नहीं करते बल्कि ये ऐसे स्थान हैं जहां मस्तिष्कों और चरित्रों का निर्माण होता है, मैं आपका हार्दिक स्वागत करता हूँ। वे जानते हैं कि अपने ध्येयो की पूर्ति के लिए अच्छे से अच्छे अध्यापकों को, अच्छे से अच्छे दिल और दिमाग वालों को, यहां इकट्ठा कर सकना उनके लिए सौभाग्य की बात होगी। ऐसे लोगों को पाकर उन्हें चाहिये कि विचार और अभिव्यक्ति की उनको पूरी स्वतंत्रता दें, क्योंकि केवल स्वतंत्रता के ही वातावरण में ज्ञान और मानव व्यक्तित्व फलफूल सकते हैं। ऐसे लोगों को राष्ट्र के जीवन निर्माताओं के रूप में देखा जाना चाहिये, उनके साथ शिष्टाचार और सम्मान का व्यवहार करना चाहिये और नवयुवकों को शिक्षा देने के अपने आकर्षक किंतु कठिन कार्य को संपन्न करने के लिए उन्हें हर तरह की सहूलियत दी जानी चाहिये। अधिकारियों को इस बात का भी खयाल रखना चाहिये कि विद्यार्थी आराम से रह सकें और एक निष्ठता के साथ अध्ययन और अनुसंधान में दत्तचित रहें। अच्छे शिक्षकों और उत्साही विद्यार्थियो को उन्हें इस तरह एक दूसरे के नजदीक लाना चाहिये कि शिक्षक का ज्ञान और विद्यार्थी की ज्ञानपिपासा, शिक्षक की बुद्धिमता और विद्यार्थी की कल्पना शक्ति, शिक्षक का स्नेह और विद्यार्थी की आस्था अच्छे दिमागों और अच्छे व्यक्तियों का निर्माण करने के लिए एक साथ आ मिलें और जीवन के ऐसे दृष्टिकोण की साकार मूर्ति बन जाएं कि उनकी सेवा राष्ट्र के जीवन की सुंदरता को रूपांतरित, विकसित, पवित्र और प्रकाशित करे। इस विश्वविद्यालय के अधिकारियों की ओर से, जो यह जानते हैं कि उनके विचारो और योजनाओं की आप कद्र भी कर सकते हैं और उन्हें पूरा करने में मदद भी कर सकते हैं, मैं आपका स्वागत करता हूँ।"

"इस विश्वविद्यालय के अध्यापकों की ओर से मैं आपका स्वागत करता हूँ। वे अपने को जनता का सेवक मानते हैं और अपने कार्य के सामाजिक महत्त्व को पूरी तरह समझते हैं। ये यह महसूस करते हैं कि उनके कंधों पर एक बहुत बड़ी जिम्मेदारी है, और जानते हैं कि उसे वह जितनी खूबी के साथ निभाएंगे उतना ही उनके समाज का भविष्य उज्ज्वल होगा। अपने विद्यार्थियों को वे राष्ट्र की सबसे बड़ी संपत्ति मानते हैं, और इन विद्यार्थियों की सही शिक्षा और विकास के उच्च आध्यात्मिक महत्त्व का स्रोत समझते हैं। वे जानते हैं कि शैक्षिक स्वतंत्रता के वातावरण में पूर्ण-विचार स्वातंत्र्य को कायम रखते हुए अपने सामाजिक दायित्व के साथ पूरा न्याय किस तरह किया जाता है। कक्षा के अंदर या खेलकूद के मैदान में, छात्रावास की जिंदगी में या मनोरंजन वाले क्षेत्र में, वे अपनी पूरी शक्ति से काम करने को तैयार रहते हैं, और इसका सही पुरस्कार चाहते हैं कि उनके विद्यार्थियों के व्यक्तित्व का निर्माण हो। उन सभी की ओर से मैं आपका स्वागत करता हूँ,

और यह निवेदन करना चाहता हूं कि आपके व्यक्तित्व में उन्हें एक प्रबुद्ध मस्तिष्क और स्नेहशील हृदय का उत्कृष्ट सम्मिश्रण दिखाई देता है; समाज सेवा के मार्ग पर निष्ठा और आत्मविश्वास के साथ आपका व्यक्तित्व इस तरह आगे बढ़ा जा रहा है कि उनके लिये वह एक अमोघ और जीता-जागता उदाहरण बन गया है, और वे अपने हर काम में उसे अपना आदर्श समझते हैं।''

''और सबसे ज्यादा, पंडित जी, मैं उन होनहार नवयुवकों और नवयुवतियों की ओर से आपका स्वागत करता हूँ कि जिनके लिये ही इस विश्वविद्यालय को चलाया जा रहा है। आज उनकी आंखों में हमेशा से कहीं ज्यादा चमक है क्योंकि आज आप उनकी आंखों के सामने हैं, लेकिन जब आप सामने नहीं होते तब भी वे आपके प्रति अपने प्यार को, आपके प्रति अपनी आस्था को, दिल के अंदर एक कीमती खजाने की तरह छिपा कर रखते हैं।''

''आज़ादी हासिल करने के लिये आपने जो कुर्बानियां की हैं, गुलामी की जंजीरों को तोड़ने के लिये आपने जो जोखिम उठाए हैं, उनकी वजह से उनके दिल आपके लिये श्रद्धा से परिपूर्ण हैं। आजादी मिल जाने के बाद उसे कायम रखने के लिये, और लोगो की निगाह में, उसकी कीमत बढ़ाने के लिये, आप जो कड़ी मेहनत करते आ रहे हैं उससे इन विद्यार्थियों के अंदर बार-बार यह ख्वाहिश पैदा होती है कि अपनी पढ़ाई पूरी करके वे आपके काम में खुद भी हाथ बटाएं। लेकिन सबसे बड़ी बात तो यह है कि इनके दिल में आपके लिये इतना लगाव और इतनी मौहब्बत है, आपके प्रति ऐसी निष्ठा है कि नौजवान होने के नाते अपने जोश में, या जल्दबाजी में ही, वे परिस्थितियों की चपेट में आकर दुविधा में पड़ जाते हैं और अपने बुजुर्गों की ओर से निराश हो उठते हैं और उनकी दुविधा और निराशा के भाव को भला आपसे ज्यादा जानने वाला दूसरा कौन होगा ? तो भी आपके प्रति उनकी श्रद्धा में कमी नहीं आ पाती। आपको वे अपनी कामनाओं, अपनी महत्त्वाकांक्षाओं और अभिलाषाओं की साकार मूर्ति के रूप में देखते है, जिसकी वजह से ही यह बात होती है कि उनके वर्ग, यानी विद्यार्थियों के बारे में आपके निराश हो जाने पर उनके दिल टूट जाते हैं, वे घबड़ा उठते हैं; तब वे गलत काम भी कर बैठते हैं। लेकिन पंडित जी, हम बुजुर्ग लोग क्या इस मामले में कम दोषी हैं? और मैं, जो पैंतीस साल से उनकी सेवा करता आ रहा हूँ, इस बात का गवाह हूँ कि हमारे नौजवान बड़े ही अच्छे नौजवान हैं, उनके दिल सोने के हैं, नहीं, उससे भी ज्यादा कीमती धातु के बने हैं, क्योंकि अपने देश के प्रति उनका प्रेम, उसकी प्रतिष्ठा को बढ़ाने की उनकी आकांक्षा, भविष्य में आस्था, और अच्छाई, उत्कृष्ठता और न्याय के प्रति उनकी निष्ठा उनके अस्तित्व के कण-कण में व्याप्त है। यह कहकर मैं किसी गूढ़ रहस्य का उद्घाटन नहीं कर रहा हूँ कि आप उनकी आंखों के तारे हैं। उनकी ओर से मैं आपका स्वागत करता हूँ, हालांकि मैं जानता हूँ कि अपनी चमकती हुई आंखों की रोशनी, फरिश्तों के से अपने चेहरों की रौनक, अपने रूमानी दिलों की धड़कन से वे आपका जैसा स्वागत कर रहे हैं उसके मुकाबले मेरे ये शब्द कुछ भी नहीं हैं।''

इसमें आत्मश्लाघा कहीं नहीं थी। डा. जाकिर हुसैन ने खुद जो कुछ किया था उसका कोई उल्लेख नहीं किया; वह तस्वीर में कहीं थे ही नहीं। यथार्थता की उपेक्षा भी नहीं थी, क्योंकि सर सैयद दिवस वाले उनके भाषण के बाद गुजरने वाले इस साल के अंदर कोई बड़ा परिवर्तन नहीं हुआ था। चापलूसी भी उसे नहीं कहा जा सकता थां। हम इसे एक आदर्शीकरण ही कह सकते थे, भावशून्य जड़ पदार्थ पर हृदय की, विषाद पर आस्था और आशा की विजय, एमिली डिकिंसन के विरोधाभास में प्रतिबिंबित होने वाली यह परम असंगति :

बिछोह ही स्वर्ग की हमारी जानकारी है . . .

सफाई और सुघड़ता के साथ किसी काम को न करना या न होते देखना डा. ज़ाकिर हुसैन को बिलकुल बर्दाश्त नहीं था। और बहुत कम मौके आते थे जब वह किसी काम से सचमुच संतुष्ट होते थे। जब कभी हम दोनों एक साथ किसी मुस्लिम मृतक संस्कार में शामिल होते थे तो मुझे याद है कि उसके बाद अक्सर ही वह मुझसे कहने लगते थे, ''मुजीब साहब, अगर मुझे दफ्नाते वक्त ऐसे ही भोंड़े ढंग से यह सब हुआ, तो बताए देता हूँ कि मैं उसी दम उठ खड़ा होकर चिल्ला उठूँगा।'' उनका इरादा यह था कि 'विज़िटर' को अपना इस्तीफा भेज देने पर, जिस बीच उस पर विचार होता रहेगा, वह सउदी अरब के अपने सफर के एक पहले के वादे को पूरा कर डालेंगे, फिर अलीगढ़ लौट कर चुपचाप वहां से खिसक जाएंगे। लेकिन उनके पद की अवधि का अंत उतने सुंदर ढंग से नहीं हुआ जैसा कि उन्होंने चाहा था। प्रधानमंत्री के स्वागत वाले उनके भाषण और सउदी अरब के लिये उनके विदा होने के बीच कई मौके आए जब उनका विरोध मुखर ही नहीं उत्तेजक भी हो उठा। शैक्षिक समिति की एक विशेष रूप से अप्रिय बैठक के बाद वह बोले कि ''उन्हें कुछ कहने भर की देर है, कि मैं मर मिटूँगा।'' अलीगढ़ छोड़ने के कुछ ही पहले उन्होंने एक भाषण दिया था जिसे अखबारों में उद्धृत किया गया था; उसमें उन्होंने अपनी प्रकृति से कहीं ज्यादा साफ तौर पर यह कह डाला था कि अलीगढ़ में कुछ भी सुधार होने की आशा वह खो बैठे हैं। 1957 को उन्होंने वहां जो दीक्षांत भाषण दिया था और अपनी विद्यादायिनी संस्था के प्रति जिस प्रकार वह स्नेह से गद्‌गद हो उठे थे, वह आंशिक रूप से कुलपति के रूप में वहां बिताए गए अपने अंतिम दिनों की कटुता के प्रक्षालन के ही रूप में था।

8. एक अंतराल

अलीगढ़ छोड़ते समय डा. जाकिर हुसैन को उम्मीद थी कि कम-से-कम कुछ वक्त तक तो वह अपने मन के मुताबिक जिंदगी गुजार सकेंगे। जिस ढंग से यह बात वह कहा करते थे उससे यही पता लगता था कि सिर्फ यही उम्मीद उन्हें जिंदा रखे हुए थी। लेकिन तब तक वह पूरी नहीं हो पाई थी, और आगे की भी संभावना उज्जवल तो कदापि नहीं मानी जा सकती थीं, खासतौर से इसलिए कि वह खुद भी एक निष्क्रिय जीवन बिताने में स्वभाग से ही असमर्थ थे। उनकी योग्यताओं की भी कहीं अधिक व्यापक रूप में कदर थी, और जो अवसर उन्हें मिलने चाहिये थे उनसे उन्हें वंचित रखना भी अक्षम्य था।

इसलिये विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, योजना आयोग और यूनेस्को से डा. ज़ाकिर हुसैन को अलग रखे जाने की सफाई देने की कोशिश कोई ऐसा शख्स ही करेगा जिसकी दफ्तरशाही के निर्णयो और कार्यों की परम बुद्धिमता में पूर्ण आस्था होगी। अलीगढ़ छोड़कर जब वह जाने ही वाले थे और उन्हें, एक के बाद एक, विदाई के कितने ही प्रीतिभोज दिये जा रहे थे, तब डा. खलीक अहमद निजामी ने भी शाम के खाने की उन्हें दावत दी। उन्होंने उसे नामंजूर कर दिया, पर साथ ही वादा किया कि जब वह अकेले में और आजादी के साथ उनसे बातें कर सकेंगे, जरूर आएंगे। एक या दो दिन बाद वह डा. निजामी के घर पर सबेरे की नमाज के बाद जा पहुँचे, और मौलाना अबुल कलाम आजाद के साथ हुई अपनी एक मुलाकात के बारे में बताया जिसमें कि उन्हें विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की अध्यक्षता स्वीकार करने के लिये कहा गया था। उन्होंने कहा कि किसी भी पद को प्राप्त करने की बात उन्होंने कभी भी नहीं सोची थी, लेकिन जब यह पद देने की बात उठी तो वह उसकी ओर आकृष्ट हो गए। बाद को मौलाना आजाद का विचार बदल गया, हालांकि इस मतपरिवर्तन का उन्होंने कोई आभास नहीं दिया। अचानक ही एक दिन रेडियो पर डा. जाकिर हुसैन ने सुना कि डा. देशमुख की उस पद पर नियुक्ति हुई है। उन्हें बड़ी घृणा हुई।[1] शिक्षा मंत्रालय ने जब उनके साथ फोन पर संपर्क स्थापित करना चाहा तो

---

[1]जान पड़ता है कि प्रधानमंत्री भी उत्सुक थे कि डा. जाकिर हुसैन ही विश्वविद्यालय अनुदान आयोग

उन्होंने बात करने से इंकार कर दिया। हो सकता है कि फोन पर कोई सफाई पेश की जाने वाली थी। कुछ दिनों बाद, जब कि वह दिल्ली में थे, प्रो. हुमायूं कबीर उनसे मिलने के लिये आए, और बोले कि मौलाना आजाद भी उनसे मिलना चाहते हैं। उन्होंने जवाब दिया, 'मेहरबानी करके मौलाना से कह दें कि उनके मकान से मेरे मकान का फासला उतना ही है जितना कि मेरे मकान से उनके मकान का फासला।' काफी वक्त बाद, किसी सार्वजनिक समारोह के अवसर पर वे दोनों जब मिले तो मौलना आजाद ने यह कह कर अपने कार्य का औचित्य सिद्ध किया कि विश्वविद्यालयों के मौजूदा हालात में किसी कड़े आदमी की वहाँ जरूरत थी। डा. जाकिर हुसैन कितनी ज्यादा सूझबूझ वाले अध्यक्ष सिद्ध होते, यह इसीसे जाहिर है कि भारत सरकार को, और वि.अ.आ. (यू.जी.सी.) को, जिसके कि वह भी एक सदस्य थे, उन्होंने किस तरह, इस सदी के छठे दशक के अंत में जिन विश्वविद्यालयों की शताब्दियां मनाई गईं उनके लिये, एक-एक करोड़ रुपये के अनुदान के लिये राजी किया।

वि.अ.आ. के अध्यक्ष का चुनाव करते वक्त न तो एक 'कड़े' आदमी की जरूरत ने, और न महज राजनीतिक दबाव ने, मौलाना आजाद को प्रभावित किया था। मुझे याद है कि डा. जाकिर हुसैन ने मुझे यह बात बताई थी कि योजना आयोग में मौलाना आजाद उन्हें इसलिये नहीं चाहते थे 'कि तब मैं उन्हीं के सिर पर जा बैठता!' मौलाना आजाद डा. जाकिर हुसैन को दिल्ली में प्रभाव या सत्ता के किसी पद पर क्यों नहीं चाहते थे, इसके कारणो पर विचार करने में अब कोई तुक नहीं है। लेकिन योजना आयोग के लिये वह बड़े ही लाभदायक सिद्ध होते। पर अब हमारे सामने जो कुछ रह गया है वह इस क्षेत्र में उनकी चहलकदमी भर है – योजना के तरीकों और दूसरी पंचवर्षीय योजना के ध्येयों की एक कड़ी और आलोचना मात्र। सितंबर 1956 में जब इस योजना पर बहस हो रही थी तब राज्य सभा में उन्होंने निम्नलिखित भाषण दिया था।[1]

शुरूआत उन्होंने योजना मंत्री को औपचारिक रूप में बधाई देते हुए की थी। ''...लेकिन उन्हें बधाई देने के बाद, मैं समझता हूँ कि मैं यह बात न उनसे छुपा कर रख सकता हूँ और न अपने से, कि गिरते-पड़ते ही हम सफलता की ओर बढ़ते आए हैं। क्योंकि, उनसे ज्यादा और कौन इस बात को जानता होगा कि उस (अर्थात्, प्रथम) योजना को बनाते वक्त जानकारी के मामले में हम कितने कच्चे थे? उनसे ज्यादा और कौन जानता होगा कि उस योजना को लचीला बनाए रखने के लिये उसके कार्यान्वयन पर साधारण रोकथाम करने के मामले में कितनी ज्यादा त्रुटियां हुईं? उनसे ज्यादा और कौन जानता होगा कि उस वक्त विशिष्ट परियोजनाओं और प्रायोजनाओं को स्पष्ट रूप में और

के अध्यक्ष हों। वीरेंद्र अग्रवाल, एम.पी. ने मुझे बताया है कि खबर यह थी कि उन्होंने मौलाना आजाद से कहा कि उनका मत परिवर्तन पीठ में छुरा भौंकने जैसा था।

[1] 'पार्लियामेंटरी डीबेट्स इन दि फोर्टींथ सेशन आफ दि राज्य सभा' (राज्य सभा के चौदहवें अधिवेशन में हुए संसदीय वाद विवाद?, खंड 14 (1-13 सितंबर 1956), पृ. 3532-42।

बारीकी के साथ पेश करने तक के मामले में कितनी कठिनाइयां सामने थीं ? सभी कुछ तो अस्पष्ट था । आंकड़े असंतोषजनक थे, जो जानकारी दी गई थी वह, अधिकांश मामलों में, अविश्वसनीय थी, और लोगों को यह मालूम ही नहीं था कि उन्हें करना क्या है । इसलिये इसे दरअसल डगमगाते हुए ही सफलता की ओर बढ़ना कहा जाएगा और इसके लिये हमें अल्लाह का शुक्र मानना चाहिये । चूंकि अब हम गरीबी, अज्ञान और रोग ही नहीं, अंधकार की सभी जमी हुई शक्तियों के खिलाफ छेड़े जाने वाले जंग के दूसरे दौर की ओर बढ़ रहे हैं, मैं समझता हूँ कि यह मान लेना महज बेवकूफी होगी कि एक बार अगर हम भूलों के बीच भी आगे बढ़ आए तो इस बार भी उसी तरह बढ़ जाएंगे । पहली योजना की सफलता संतोषजनक रही है, लेकिन उस सफलता के बारे में क्या हमें यह नाजुक सवाल पूछने से अपने को रोक देना चाहिये कि वह सफलता क्या और भी बड़ी नहीं हो सकती थी, या यह, कि क्या वह सफलता इससे कहीं कम बलिदान या कीमत पर उतने ही अंश में नहीं पाई जा सकती थी, जिसका मतलब यह हुआ कि हमें अपने से यह सवाल करना चाहिये कि उस योजना के कार्यान्वयन में जितने घटकों का हाथ था वे क्या अपने सर्वोत्तम रूप में थे, और क्या उनका संयोजन अधिक से अधिक मात्रा में हुआ था ।

''जब किसी ऐसी बड़ी योजना पर काम शुरू होता है जिसके अंतर्गत जनता की करीब-करीब पूरी जिंदगी ही आ जाती है—आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक जिंदगी—तब घटकों के असंख्य संयोजन संभव हो सकते हैं और वह आवश्यक है, कम-से-कम संसद का तो यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि इन संयोजनों और समाधानों की विभिन्न संभावनाओं को देखा जाए, उनका अध्ययन हो और सोच-समझ कर तथा स्पष्ट रूप से उसका पता लगाया जाए, और अनेक सुस्पष्ट कारणों में से एक का चुनाव हो । मुझे इसमें संदेह है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के बारे में ऐसा किया गया था । मुझे इसमें संदेह है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बारे में ऐसा किया जा रहा है । मुझे बेहद खुशी होगी अगर मुझे यह बताया जाए कि हमने जो प्राथमिकताएं निर्धारित की हैं, जो विभिन्न ध्येय अपने सामने रखे हैं, उनके पहले बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया था, और अगर यह भी बताया जाए कि हमारे सामने जो ध्येय हैं उन्हें प्राप्त करने के लिए जिन घटकों के संभाव्य संयोजनों को हमने स्वीकार किया है उनके पहले काफी बड़ी मात्रा में, विश्लेषण के उस साधन का उपयोग किया गया है जो 'आपरेशन एनालिसिस' (क्रियापरक विश्लेषण) के नाम से प्रसिद्ध है और जो अधिकांशतः रैखिक कार्यक्रमों पर ही निर्भर करती है । हम यह जानना पसंद करेंगे कि क्या योजना के किसी बौद्धिक प्रणालीविज्ञान का विकास किया गया है, या हमने कुछ आंकड़ों को, अस्पष्ट और संदिग्ध आंकड़ों को, ही अपना आधार बनाकर, महज सरल अंकगणित से, दूसरे आंकड़े तैयार कर लिये हैं । क्या हमारा प्रयास एक युगपत् समस्या का कोई ऐसा समाधान खोज निकालने की ओर हैं जिसमें हर चीज हर दूसरी चीज को प्रभावित करे, क्योंकि किसी योजना में इससे कम कोई बात तो होनी नहीं चाहिये ? यहां जो बहस मैंने सुनी है उससे, और बाहर भी कुछ विख्यात लोगों के साथ मेरी जो बातचीत

हुई है उससे, मुझे यह महसूस हुआ है कि इस योजना के बारे में लोगों का यही ख्याल है कि किसी भी एक आंकड़े को लेकर इसकी शुरूआत हो रही है, और बाकी सब आंकड़े उसी के परिणामस्वरूप हैं। लेकिन सच पूछा जाए तो यह एक युगपत समीकरण है जिसमें 'अज्ञातों' की संख्या अनेक है, और निर्धारक घटकों की जब तक अच्छी तरह जानकारी न हो तब तक उन अनेक 'अज्ञातों के बारे में, जिन्हें कि जानना बाकी है, किसी निष्कर्ष पर पहुँचना कठिन है। मेरा ख्याल है कि हमें अगर यह बता दिया जाए कि इस योजना को बनाते वक्त इस तरह की चीजें की गई हैं तो यह सदन अत्यंत आभारी और आश्वस्त महसूस करेगा, क्योंकि इस योजना को हमारे सामने रखे जाते समय यह स्पष्ट नहीं हो पाया है कि वह सब किया गया है या नहीं। सच पूछें तो, इस योजना के ढांचे का योजना से मिलान करने पर मेरी अपनी धारणा यही बनी है कि ऐसा नहीं किया गया है। मुझे लगता है कि इसमें कुछ परिवर्तन किये गये हैं। इस स्पष्ट विचार को, कि उत्पादन के साधनों को उत्पन्न करने वाले उद्योगों की स्थापना ही आर्थिक विकास का महत्त्वपूर्ण कारक है, तिलांजलि दे दी गई है। आधारभूत उद्योगों पर लगी हुई पूंजी घटा दी गई है और ज्यादा जोर परिवहन पर दिया गया है।... मेरी राय में इसका मतलब है आर्थिक विकास की नीति में ही परिवर्तन। जान पड़ता है कि इस योजना में उत्पादन के साधनों को उत्पन्न करने वाले उद्योगों की उन्नति को, जिसे मैं कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण मानता हूँ, आर्थिक विकास महत्त्वपूर्ण कारक नहीं मान लिया गया है। बल्कि परिवहन के विकास को ही आर्थिक विकास का महत्त्वपूर्ण कारक मान लिया गया है। मूल नीति में किये जाने वाले यह परिवर्तन मुझे गैर सरकारी और सरकारी क्षेत्रों की भूमिका के बारे में सरकार के ही विचार में हुआ परिवर्तन जान पड़ता है; मेरी राय में यह भूमिका इस योजना के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि हम समाजवादी ढांचे के समाज को गढ़ने जा रहे हैं।...सरकारी क्षेत्र को गैरसरकारी क्षेत्र का ताबेदार बना दिया गया है। आपको गैर सरकारी क्षेत्र में मांग उत्पन्न करनी है और गैरसरकारी क्षेत्र को आप परिवहन की सुविधाएं देना चाहते हैं। सरकारी क्षेत्र वाले उत्पादन के भी कार्यक्रम में आपको रेल-उपकरण, पोत-निर्माण लोहा, कोयला और कोक वगैरह का उत्पादन बढ़ाना है। और गैरसरकारी क्षेत्र के पास मशीनों, रसायनों, उर्वरकों के उत्पादन के साधन रहेंगे।. . . इस तरह गैरसरकारी क्षेत्र को सरकारी क्षेत्र के उत्पादन सस्ते दामों पर मिल सकेंगे, हालांकि सरकारी क्षेत्र स्वयं भी देश के विकास में वह भूमिका नहीं ले रहा है जो उसे लेनी चाहिये। मेरा ख्याल है कि योजना निर्मातागण अगर इस योजना की समूची भावना को ही नहीं बदल देना चाहते और अगर इस योजना को सामाजिक योजना बनना है तो इस बात को उन्हें अच्छी तरह अपने सामने रखना होगा। खासतौर से, अगर सरकारी क्षेत्र के उद्योगीकरण को ही देश की एक जबर्दस्त आर्थिक क्रांति का आधार बनना है, तब तो गैरसरकारी और सरकारी क्षेत्रों की भूमिकाओं की अदलाबदली एक बहुत ही खतरनाक कदम है। और इसमें मजेदार बात तो यह है कि इस योजना में साधारण विकास के लक्ष्यों को नहीं बदला गया है।...अगर मैं उन

पारिभाषिक शब्दों का इस्तेमाल करूं जिनके बारे में कुछ लोगों के दिमाग पूरी तरह साफ नहीं हैं, तो प्रारंभिक अवस्थाओं में पूंजीवाद बड़ी चालाकी से समाजवाद को अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल कर लेगा। इसलिए समाजवाद को सावधान हो जाना है। किसी सुविकसित पूंजीवाद जैसी, मानव जाति की, कोई भी दूसरी संतान ऐसी नहीं है जिसमें मुनाफे को सूंघ लेने की और अपने स्वार्थ को इतनी स्पष्टता के साथ समझ सकने की क्षमता हो। उसके पक्ष में यह बात तो माननी ही होगी कि उद्योग और मुनाफे के बारे में उसने अपनी बुद्धि को इतना पैना बना लिया है कि यह किसी वक्त भी आपको परेशानी में डाल सकता है। इसलिए आपको बहुत ज्यादा होशियार रहने की जरूरत है। आप आज एक महत्त्वपूर्ण प्रयोग कर रहे हैं, आप एक समाजवादी अर्थव्यवस्था को लागू करना चाहते हैं, और आप समाज का एक समाजवादी ढांचा तैयार कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में अगर प्रारंभिक अव्यवस्था में ही सरकारी क्षेत्र गैरसरकारी क्षेत्र की ताबेदारी करने लगा तो, मैं समझता हूँ, समाज के हमारे समाजवादी ढांचे के भावी विकास के लिए यह घातक होगा।''

''कुछ और भी दूसरे खतरे हैं जो मुझे दिखाई पड़ रहे हैं। 48 अरब रुपयों की लागत को प्राप्त करने के लिये जो तरीका अपनाया जाने वाला है उसमें भी एक और खतरा है। जैसा कि आप जानते ही हैं, 12 अरब रुपये बजट के स्रोतों से मिलने को हैं, 12 अरब रुपये ऋणों से, 12 करोड़ रुपये घाटे की वित्तीय व्यवस्था से, 8 अरब विदेशी सहायता से, और 4 अरब की जो कमी रह गई है उसके बारे में कुछ भी साफ नहीं बताया गया है। ऋण तथा घाटे की वित्तीय व्यवस्था को पचा सकने की क्षमता अधिक माल उत्पादन करने की क्षमता पर निर्भर करती है। उपभोक्ता सामग्री का उत्पादन बढ़ाना चाहिये; तभी घाटे की वित्तीय व्यवस्था सफल होगी। हम जानते हैं कि हमारे देश में अन्न के उत्पादन में एक सबसे महत्त्वपूर्ण घटक है वर्षा, और हर साल कितना अन्न उपजेगा, यह बात, न्यूनाधिक मात्रा में, एक जुआ जैसी है। इस बात को हम नजरंदाज नहीं कर सकते। जरूरी नहीं कि खाद्यान्नों का उत्पादन हर साल वही होता जाए जैसा कि हमने अपनी योजना में मान रखा है। 12 करोड़ रुपये के घाटे की वित्तीय व्यवस्था का मतलब होगा नोटों के चलन में 75 प्रतिशत की वृद्धि। योजना के ढांचे वाले प्रस्तावों में आपने जो परिवर्तन किये हैं उनमें मुझे तो यही लगता है कि आपकी वार्षिक आय 5 प्रतिशत की दर से नहीं बढ़ पाएगी। अगर इसमें कुछ भी वृद्धि न हो तब भी आप बहुत समझें, मगर वृद्धि हुई भी तो ज्यादा से ज्यादा 3 प्रतिशत की ही हो जाएगी। अगर राष्ट्रीय आय की वृद्धि की इससे अधिक दर की आशा लेकर चलना है, और साथ ही अगर नोटों के चलन में भी 75 प्रतिशत की और वृद्धि होती है तो निश्चय ही इसमें तो विदेशी मुद्रा का अनुत्पादक उपयोग होगा, या आप नकद आधार पर विदेशी सहायता पाना चाहेंगे; मूल्यों में वृद्धि हुई तो लागत वाला खर्च भी बढ़ जाएगा, और इसलिए लागत को ही शायद घटाना पड़ जाएगा। और अगर लागत को ही घटाना पड़ गया, तो राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर और भी कम हो जाएगी। भारतीय लोकतंत्र के अंदर इस बात का इतना बड़ा जोश पैदा कर देने के बाद, कि बहुत-से काम

होने जा रहे हैं और अगर ये काम होते हैं तो आर्थिक स्थितियों में भारी परिवर्तन होगा, आप अगर एकाएक लागत को घटा डालते हैं, तो मुद्रास्फीति होने पर, मैं नहीं कह सकता उस मोहभंग और निराशा से कितनी राजनीतिक उलझनें पैदा होंगी। गैरसरकारी क्षेत्र जिस चालाकी से आज सरकारी क्षेत्र को अपना ताबेदार बनाने की कोशिश में लगा हुआ है उसे देखते, इस संभावना के चरितार्थ होने पर, इस देश में इस बात के प्रचार को रोक सकना प्रायः असंभव हो जाएगा कि हम अबंध नीति की ओर वापस जा रहे हैं और तब सभी प्रकार की आयोजित अर्थव्यवस्था का मार्ग रोक दिया जायेगा। यह ठीक है कि लोकतंत्र में निर्णयों को बदला भी जा सकता है। लेकिन लोकतंत्र कभी-कभी बड़े बुरे काम भी कर सकता है। कभी-कभी लोकतंत्र बहुत दूर तक नहीं देख सकता, और एक विशेष प्रकार की परिस्थितियों में, अगर लोकतंत्र का पूरी तरह मोहभंग हो जाए तो लोकतंत्र, भविष्य में, गैरसरकारी क्षेत्र को मजबूत बनाने के लिये, जो भी किया जा चुका है, उसे रद्द कर दे सकता है ...

". . .मेरी राय यह है कि अगर साधनों को जुटाने के लिये कहीं ज्यादा साहस पूर्ण कदम उठाये गए होते तो हम और भी बड़े कदम उठा सकते थे; शायद तब इतने जोखिम भी न उठाने पड़ते। हम भारत की जनता की गरीबी की तो बात करते हैं, भुखमरी तक की नौबत पहुँच जाने की बात करते हैं। गरीबी तो एक जानी मानी बात है और बार-बार उसकी याद दिलाने की जरूरत नहीं। भुखमरी की बात भी किसी से छिपी नहीं है। जिसे इसकी खबर न हो वह बिलकुल अंधा ही होगा। लेकिन बड़े अफसोस की बात तो यह है कि कभी-कभी इस गरीबी और भुखमरी की दुहाई इसीलिये दी जाती है कि गरीबी हमेशा बनी रहे। इस देश में गरीबी है लेकिन वह श्रमजीवी वर्ग की है, संपत्तिशाली वर्ग की नहीं, जिसका राष्ट्रीय आय में 23 प्रतिशत का ही योगदान है।... यह प्रतिशत करीब-करीब उतना ही ऊंचा है जितना कि अमेरिका में या ब्रिटेन में। जब ऐसी बात है, तो मुझे कोई वजह नहीं दिखाई देती कि और अधिक साधन क्यों नहीं जुटाई जा सकते। राष्ट्रीय आय का कम-से-कम पंद्रह प्रतिशत तो विकास के कार्यों के लिये काम में लाया ही जा सकता है, और उसे अगर उन क्षेत्रों में लगा दिया जाए जिनसे हमें सर्जनात्मक क्षमता प्राप्त होती है, तो मेरा ख्याल है कि वृद्धि की दर 5 प्रतिशत की जगह आसानी से 10 प्रतिशत के हिसाब से आंकी जा सकती थी। हिसाब का आधार ही जब अधूरा और दोषपूर्ण है, रोकथाम के तरीके ही जब, जैसा कि हम सभी जानते हैं, त्रुटिपूर्ण हैं, अर्थव्यवस्था में असाधारण रूप में बड़ी लागत का समावेश किया जा रहा है, और धन का वितरण करने वालों के अंदर जब यह विचार बहुत ही व्यापक रूप से फैला हुआ है कि योजना के कार्यान्वयन के लिये धन राशि के आबंटन के सिवा और कुछ भी करने-धरने का नहीं है, तब अधिक संभावना इसी की है कि उत्पादित माल के मुकाबले खर्च की जाने वाली रकम ही ज्यादा होगी। मूल्यों में वृद्धि भी होती चली जाएगी और बंधी-बंधाई आमदनी वाले वर्ग, जिनमें प्राध्यापक और शिक्षक और सरकारी नौकर आते हैं, वे सभी लोग जो, जैसा

कि किसी ने कहा है, किसी सभ्य समाज को किसी जंगली समाज से अलग करते हैं—मुसीबत उठाएंगे—बहुत ज्यादा मुसीबत उठायेंगे; सट्टे बाजों की जीत होगी और वे रुपया बनाएंगे, और नुकसान यह योजना उठाएगी। यह सब मैं किसी को घबराहट में डालने के लिये नहीं कह रहा हूँ। मुद्रास्फीति के प्रश्न पर विचार किया गया था। मैं समझता हूँ कि यहां यह जिक्र प्रासंगिक है क्योंकि किसी ऐसी योजना में, जो गरीबी के खिलाफ एक लड़ाई जैसी है, हमें उन स्थितियों के लिए तैयार रहना चाहिये जो सामने आ सकती हैं। किसी स्थिति के उत्पन्न हो जाने के बाद आप योजना नहीं बना सकते, क्योंकि तब वह कारगर नहीं हो सकती। योजना-निर्माताओं के लिये यह जरूरी है कि वे संकट काल के लिये कमर कसे रहें और मेरा सुझाव है कि करों की एक योजना पहले से तैयार रखी जानी चाहिये ताकि ज्यों ही जरूरत आ पड़े, प्रगतिशील कठोर कर लगाए जा सकें; और एक योजना मजदूरों के खपत की प्रमुख चीजों के स्थिरीकरण की; और जरूरत पड़ने पर अन्न और वस्त्र का राशन और नियंत्रण करने की भी। किसी संकटकाल के आ जाने पर अगर आप, बिना ठीक योजना बनाए, उन्हें लागू करते हैं तो, पहले तो, आप उन्हें सफल नहीं बनाते और उनसे वह लाभ नहीं उठाते जो उठाना चाहिये, बल्कि कितनी ही कठिनाइयां पैदा कर देते हैं। अगर उन पर ठीक से विचार हो चुका रहता है तो वे पहले से ही उस मूल्यवृद्धि को कारगर ढंग से रोक सकते हैं जिसकी कि संभावना का पता रहता..."

"अब, जनाब, मैं शिक्षा के बारे में कुछ शब्द कहकर अपनी बात खत्म करता हूँ। महोदय, इस योजना को जैसा मैंने समझा है, राष्ट्र द्वारा अपने सामने रखे गये ध्येयों को प्राप्त करने की उसकी नीति नीति का यह एक उपकरण है। राष्ट्रीय ध्येयों को जितनी स्पष्टता और विस्तार और सुनिश्चितता के साथ और समझ-बूझकर 6 से 14 वर्ष के बीच की अवस्था वाले लड़के-लड़कियों की शिक्षा वाले क्षेत्र में सामने रखा गया है, उस तरह अन्य किसी भी क्षेत्र में, मेरे ख्याल से, नहीं रखा गया है। संविधान में एक निदेश यह है कि दस वर्षों के अंदर 6 से 14 साल की उम्रों के बीच के सभी लड़के-लड़कियों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा निश्चित रूप से मिलने लग जानी चाहिये। रेलवे लाइनें कितने मील बढ़ा दी जाएं इसके बारे में उसमें कोई निदेश नहीं दिया गया है; इस्पात के उत्पादन के बारे में कोई निदेश नहीं है और न ही, इतनी निश्चितता के साथ और इस रूप में, किसी दूसरी चीज के ही बारे में। संविधान में आपको यह निदेश दिया गया है, और इधर योजना आयोग जानबूझकर और खुल्लमखुल्ला और बेशर्मी के साथ उस निदेश को न मानने के लिये चल पड़ा है। मैं समझता हूं कि योजना आयोग की इससे ज्यादा नुकसान पहुंचाने वाली और कोई आलोचना नहीं हो सकती। एक पवित्र दस्तावेज में एक ध्येय का उल्लेख किया गया है और वह आपके सामने मौजूद है, लेकिन फिर भी आप जान बूझकर एक ऐसी नीति निर्धारित करने जा रहे हैं जिसके अंतर्गत हम 6 और 14 साल के बीच की उम्र वाले इन लड़के लड़कियों को अगले पंद्रह साल तक भी स्कूलों में नहीं भेजने वाले हैं। मुझे याद है कि जब मिस्टर सार्जेंट ने 'सार्जेंट स्कीम' के नाम से मशहूर हो जाने वाली अपनी स्कीम पेश की थी तो उन्होंने सबको शिक्षित कर डालने के लिए चालीस साल की

मियाद मांगी थी। स्वाधीनता के बाद हम इसे लेकर परेशान से भी दिखाई दिये। मुझे याद है कि माननीय शिक्षामंत्री मौलाना अबुल कलाम आजाद ने इस बात का बड़े ही मर्मस्पर्शी ढंग से उल्लेख किया था और कहा था कि हमारी गुलामी की वजह से ही यह मुमकिन हो पाया है कि शिक्षा की यह तुच्छ-सी मात्रा भी चालीस साल बाद मिलने वाली थी। और उन्होंने कहा कि यह काम दस साल में हो जाना चाहिये। उस वक्त भी अविश्वासी और निंदक लोगों ने कहा था कि शायद बीस साल बाद भी हम यही बहस करते दिखाई देंगे कि यह काम दस साल में होना चाहिये या बीस साल में। लेकिन असल बात तो यह नहीं थी। असल बात तो यही थी राष्ट्र का यह संकल्प है कि दस साल के अंदर 6 से 14 साल की उम्र के सभी बच्चों को निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा दे दी जाए, लेकिन इस योजना में इसकी कोई व्यवस्था नहीं है। न सिर्फ यह कि इसकी व्यवस्था नहीं है, बल्कि लगता तो यह है कि शिक्षा के साथ हमारा बर्ताव सौतेली मां जैसा है। राष्ट्रीय जीवन और राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के बारे में राष्ट्र के इस निर्णय के महत्त्व को मैं यहां नहीं समझाने जा रहा हूँ, क्योंकि वह तो सबके सामने साफ है ही। फिर भी मैं बताना चाहूँगा कि बुनियादी शिक्षा समिति द्वारा जब 'सात साल' (की अवधि) वाली यह बात रखी गई थी, तब सार्जेंट कमेटी ने आठ साल की अनिवार्य शिक्षा वाली अपनी स्कीम पेश कर दी। वे और भी आगे ही बढ़े। हम सात साल की अनिवार्य शिक्षा चाहते थे। उन्होंने कहा था कि इसकी अवधि आठ साल की हो। सभी इस बात पर एकमत थे कि सात से आठ साल वाली बात ज्यादा बढ़िया है। लेकिन भारतवासियों के साथ तब तक चालाकी की गई थी और आठ साल की उस अवधि को पांच और तीन साल की दो अवधियों में बांट दिया गया था, जिसका नतीजा यह हुआ कि हर कोई यही समझता है कि आठ साल की जगह पांच साल की ही निःशुल्क अनिवार्य शिक्षा दी जायेगी और हर कोई पांच साल की ही बात सोचता जान पड़ता है। लेकिन उस निदेश का अभिप्राय यह नहीं था और न बुनियादी शिक्षा समित ही यह चाहती थी। कम-से-कम वह सात साल की होनी चाहिये, और अब जब कि राष्ट्र की इच्छा आठ साल की है तो वह आठ साल की ही हो, लेकिन आंकड़ों से हमें पता चलता है कि हर कोई यही माने बैठा जान पड़ता है कि 11 साल की उम्र तक वह खत्म हो जानी चाहिये। दूसरी पंचवर्षीय योजना के आंकड़ो को 501 पृष्ठ पर देखने से आपको पता चलेगा कि 6 और 11 साल के बीच की उम्र वाले बच्चों की जितनी संख्या पिछली योजना के दौरान स्कूलों में दी गई थी उसके मुकाबले इस योजना के दौरान स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या 25 प्रतिशत ज्यादा होगी। 25 प्रतिशत की वृद्धि बहुत संतोषजनक नहीं है, लेकिन यह वृद्धि सिर्फ 6 से 11 साल के बीच की उम्र वाले बच्चों तक ही सीमित है। क्योंकि, जरा देखिये तो सही, दूसरी पंचवर्षीय योजना वाली अवधि के दौरान 11 से 14 साल के बीच की उम्र वाले बच्चों की संख्या पिछली पंचवर्षीय योजना के दौरान बढ़ने वाली संख्या से भी कम हो जाएगी। इसे ज्यादा भयंकर भूल क्या होगी. . .।"

अपने भाषण में डा. ज़ाकिर हुसैन ने ऐसे मूलभूत प्रश्न उठाये थे कि उसने बहुत ज्यादा

सार्वजनिक दिलचस्पी पैदा कर दी। अखबारों में टिप्पणियां लिखी गईं और चिट्ठियां भी प्रकाशित हुईं जिनमें इस बात पर खेद प्रकट किया गया कि योजना की उन्होंने जो आलोचना की उसका सरकार की ओर से उचित उत्तर क्यों नहीं दिया गया, और इसकी वजह भी पूछी गई। लेकिन जहां तक उनका अपना सवाल था, उन्होंने अपनी राय पहली और आखिरी बार जाहिर की थी। अपने दामाद खुर्शीद आलम खां से उन्होंने कहा था कि उनके इस भाषण के कुछ काल पहले प्रधानमंत्री ने उनसे पूछा था कि वह लगातार चुप क्यों रहे आते हैं। "मैं भला किस बात पर बोल सकता हूँ? मैं या तो तारीफ कर सकता हूँ या खरी आलोचना। आपकी पार्टी में प्रशंसकों की तो कोई कमी नहीं है। और अगर मैं खरी आलोचना करूँगा तो लोगों को बुरा लगेगा।" लेकिन संसदीय बहस-मुबाहसे में उनके हिस्सा लेने की यह वजह प्रधानमंत्री को काफी नहीं मालूम हुई। इसलिये आखिर उन्होंने वह भाषण दे डाला, जिससे प्रकट हुआ कि शिष्टाचार और बुजुर्गों की इज्जत के ख्याल से अगर उन्होंने अपने ऊपर नियंत्रण न लगाया होता तो वह राजनीतिक विवादों को कितना समृद्ध बना सकते थे।

यूनेस्को में डा. जाकिर हुसैन ने जिस ढंग से हिस्सा लिया वह भी इस बात का एक और उदाहरण पेश करता है कि दफ्तरशाही दिमाग किस तरह वास्तविक राष्ट्रीय हितों का ख्याल किये बिना काम करता है। यूनेस्को में साधारण सम्मेलन के लिये भारतीय प्रतिनिधि मंडल के चुनाव में हिमायत बरती जाती रही है, हालांकि सिद्धांततः उसमें निष्पक्षता के साथ चुनाव किया जाना चाहिये। हर बार एक पृथक प्रतिनिधि मंडल के भेजे जाने से, और इस जरूरत की ओर करीब-करीब बिलकुल ही ध्यान न देने से—कि वह एक ऐसी टोली के रूप में काम करे जिसके सामने सुस्पष्ट ध्येय हों, राष्ट्रीय हित साधन कहां तक हो पाया है, यह सवाल इस प्रसंग में अपना अलग महत्त्व रखता है। डा. ज़ाकिर हुसैन प्रथम प्रतिनिधि मंडल के एक सदस्य थे, जिसका नेतृत्व डा. राधाकृष्णन् ने किया था, और एक दूसरे सदस्य थे प्रो. सैयदैन। इन तीनों ने ही एक गहरी छाप छोड़ी थी। फिर, ग्यारह साल तक डा. जाकिर हुसैन की किसी को याद नहीं आई। 1956 में भी शायद वह विस्मृत लोगों की ही सूची में रहे आते अगर, उन कारणों से जिनका जिक्र पहले ही किया जा चुका है, पिछली गलती को सुधारने की राजनीतिक विवशता न पैदा हो गई होती।

इस वर्ष यूनेस्को सम्मेलन का पूर्ण सम्मेलन नई दिल्ली में हुआ और उसमें डा. ज़ाकिर हुसैन भारतीय प्रतिनिधि मंडल के गैरसरकारी प्रवक्ता थे। उनके अभिभाषण का अंतिम अंश पूरा का पूरा उद्धृत करने लायक है :

"...भारतीय प्रतिनिधि मंडल अगले दो वर्षों के लिये प्रस्तावित तीनों प्रमुख प्रायोजनाओं के प्रति अपना समर्थन प्रकट करता है। इसकी इन सभी में दिलचस्पी है, लेकिन पूर्वी और पश्चिमी सांस्कृतिक मूल्यों के पारस्परिक सम्मान में खासतौर से इस बात का डर है कि प्रवीणों और विशेषज्ञों के हाथों में जाकर यह प्रायोजना कहीं धुंधली न हो जाए। यह माना गया है कि पूरब और पश्चिम तो कोई भौगोलिक सत्ताएं भी नहीं हैं।

इससे कहीं ज्यादा अंतर तो उत्तर और दक्खिन के बीच, ऊंची जमीन और नीची जमीन के बीच, ज्यादा ठंडे और ज्यादा गरम इलाकों के बीच है। पूरब और पश्चिम के बीच कोई विभाजन रेखा नहीं है, कोई स्थिर सीमांत नहीं है। यह बात कितने ही क्षेत्रों पर लागू हो सकती है। लेकिन किसी भौगोलिक अंतर की बात दरअसल सोची भी नहीं जा रही है। जो अभिप्राय निहित है वह तो संस्कृति और चरित्र के बीच, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच, व्यक्ति और समाज संबंधी धारणाओं के बीच पाए जाने वाले अंतर का है, सभ्यतापूर्वक अपना अस्तित्व स्थापित करने के मार्गों में से किस पर जोर दिया जाए इस संबध के अंतर का है : अंतर्मुखी मार्ग या सामाजिक सदाचार का मार्ग, और आगे की ओर ले जाने वाला मार्ग या तर्क-मूलक शिल्पविधियों वाला मार्ग।"

"पूरब की महानता उसके आचारशास्त्र के संबंध में मानी जाती है, पश्चिम की उसकी शिल्पविधियों के बारे में ये कथन सर्वथा सुनिश्चित कदापि नहीं है, और हमारे जगत के आधुनिक जीवन की स्थिति का जबर्दस्त तकाजा यही है कि इनमें जो भी सुनिश्चितता हो उसे भी खत्म कर दिया जाए। हमारे सामने जिस जगत का आर्विभाव हो रहा है उसकी चुनौती यह मांग पेश करती है कि संत और शूरवीर, बुद्ध और साइगफ्रीड, तर्कमूलक शिल्पविधि और आचार-संबंधी संयम एक जगह आ मिलें। मानव समाज आचारशास्त्र द्वारा नियंत्रित है और तर्कसंगत कर्मकुशल जीवन की ओर बढ़ता जा रहा है। इसलिये यह जरूरी है कि आधुनिक जीवन के विकास के ये दोनों ही महत्त्वपूर्ण तत्व एक दूसरे को समझना और एक दूसरे का सम्मान करना यत्नपूर्वक सीखें और एक दूसरे से शिक्षा लें।"

"इसलिये भारतीय प्रतिनिधि मंडल का विचार यह है कि यूनेस्को द्वारा इस काम का हाथ में लिया जाना उचित और सही है। लेकिन, इस बड़ी प्रायोजना के लिये हमारे साधन जितने क्षुद्र हैं उन्हे देखते हुए एक ऐसा कार्यक्रम तैयार करना जरूरी है जो विभिन्न स्थानों मे पहले से हो रहे कामों में पूरा लाभ उठाए, और जहां-जहां वह सबसे अधिक व्यापक रूप मे कारगर हो सके वहीं-वहीं इन क्षुद्र साधनों का उपयोग करे। कोई व्यावहारिक बुद्धि संपन्न समिति इन प्रायोजना के अंतर्गत किसी व्यावहारिक और उपयोगी कार्यक्रम को तैयार करने में विशेषज्ञों की सलाह का सदुपयोग कर सकती है।"

"मै समझता हूँ कि मैने आपका काफी वक्त ले लिया है, और उन परिस्थितियों का उल्लेख करके मुझे अब अपनी बात खत्म करनी चाहिये जिनके बीच हम यहां इकट्ठे हुए हैं। यूनेस्को का संविधान 1945 के जिस लंदन सम्मेलन में तैयार किया गया था उसमें मैं मौजूद था। दुनियां उसी समय एक बहुत बड़ी विध्वंस-लीला के बीच से गुजर कर निकली थी। उस विध्वंस का उसे पूरा अनुभव था और इस बात पर वह तुली जान पड़ती थी कि फिर से उसकी आवृत्ति न होने पाए; और इस संगठन का निर्माण इसलिए हुआ था कि लोगों के दिमागों के अंदर शांति की रक्षा के लिए मोर्चेबंदी की जाए। इन वर्षों के दौरान जो कुछ हो पाया है उसके लिये हमें कृतज्ञ होना चाहिये, लेकिन पिछले हफ्तों के दौरान आक्रमण की जिन नग्न कार्रवाईयों ने उस नवीन मानव के इतिहास को विकृत कर डाला

है जिसका आविर्भाव होता हमें दिखाई देने लग गया था, और इस सम्मेलन में हमारे भाग्य लेते-लेते भी मिस्र और हंगरी में जो कुछ होता आया है, उन सब से यह पूरी तरह साफ हो गया है कि शांति की रक्षा के लिए हमने लोगों के दिमागों में जो मोर्चेबंदी करनी शुरू की थी वह बहुत कमजोर थी।''

''लेकिन हमारा संगठन तो एक शिक्षा संगठन है, और दुनिया में दो ही लोग ऐसे होते हैं जो कभी उम्मीद नहीं छोड़ते, एक तो अपने बच्चे के बारे में मां, और दूसरा, अपने छात्रों के बारे में कोई सच्चा शिक्षक। हम उम्मीद करना नहीं छोड़ेंगे, लेकिन हाथ पर हाथ रखे बैठे भी नहीं रहेंगे। हम जानते हैं कि हमारा यह संगठन एक अंतर सरकारी संगठन है, और कोई भी सरकार आखिर तो सरकार ही होती है। लेकिन हमें यह भी याद रखना चाहिये कि हमारे संविधान के आमुख का आरंभ इन शब्दों से होता है : 'इस संविधान की रचना में भाग लेने वाली राज्य सरकारें, अपने-अपने राज्यों की जनता की ओर से, घोषित करती हैं...' जनता के प्रति हमारा दायित्व है कि हम यह भी देखते रहें कि हमारी सरकारें सीमा का उल्लंघन तो नहीं कर रही हैं; इस संगठन में सम्मिलित हम लोगों को यदि विश्व के अंतःकरण का प्रतिनिधित्व करना है तो साथ ही हमें अपने अंतःकरण के प्रति निष्ठावान रहना है।''

''बौद्धिक क्षेत्र के नेताओं, का शिक्षा देने वाले का, वैज्ञानिक और कलाकार का सचमुच ही बहुत बड़ा दायित्व है कि यही देखते रहने में उनकी शक्ति का अंतिम मात्रा तक उपयोग हो कि मानव समाज बर्बरता का अनुसरण न करने पाए। मेरी यह आशा और प्रार्थना है कि यहां एकत्र हुए हम लोगों में से कोई भी इस बोझ को संभालने से नहीं चूकेगा।''

अगर हम उन सुझावों पर विचार करें जो यहां दिये गये थे, और उन सुझावों पर भी जिन्हें डा. जाकिर हुसैन ने यूनेस्को के कार्यकारी मंडल की बैठकों में, जिसके कि वह 1956 से 1958 तक एक सदस्य थे, दिया था, तो नीति संबंधी अविच्छिन्नता की, जिसका मतलब है कि ऐसे व्यक्तियों का उसमें बराबर कायम रहा आना जो उस नीति का पूरे दिल से और योग्यतापूर्वक समर्थन कर सकें, आवश्यकता स्पष्ट हो जाएगी। लेकिन जो बात स्पष्ट होती है अक्सर उसी की उपेक्षा की जाती है, जब किसी नीति पर चलने की जगह ऐसे व्यक्तियों को खुश करने या खुश रखने की इच्छा बड़ा स्थान ले लेती है जो अवसर तो चाहते हैं पर यह नहीं जानते कि उन्हें पाकर वे उनका इस्तेमाल किस तरह करें। यूनेस्को की बैठकों में डा. ज़ाकिर हुसैन का शामिल होना किसी स्थायी योगदान से कहीं ज्यादा एक तफरीह या सैर जैसा था, अपनी योग्यता का एक प्रदर्शन भर।



चित्र 5 : अपने नाती-पोतो के साथ डा. ज़ाकिर हुसैन



चित्र 6 : श्रीमती इंदिरा गांधी को 'अब्दुल गफ़्फ़ार खां — फेथ इज़ ए बैट्ल' (अब्दुल गफ़्फ़ार खां — निष्ठा एक युद्ध है) की एक प्रति भेंट करते हुए डा. ज़ाकिर हुसैन

9. मातृभूमि की रूप-रचना

1. बिहार के राज्यपाल

डा. ज़ाकिर हुसैन यूरोप में थे जब, 1957 में, प्रधानमंत्री और केन्द्रीय मंत्रिमंडल ने[1] उन्हें बिहार का राज्यपाल नियुक्त करने का फैसला किया। उनकी आंख का आपरेशन हुआ था और बैड किसिंजन में वे विश्राम द्वारा उपचार करा रहे थे। उनका पता जानने की जबर्दस्त खोज के बाद उन्हें एक समुद्री तार भेजा गया; उन्होंने इस समाचार को बड़े ही प्रशांत भाव से ग्रहण किया और जवाब दिया कि भारत लौटने के बाद ही वह अपना निश्चित उत्तर देंगे। इस दौरान निश्चय ही उन्होंने इस मामले में विचार किया होगा, और भारत लौटने पर वह राजी हो गए। 16 जुलाई 1957 को उन्होंने राज्यपाल के रूप में अपना पद ग्रहण कर लिया।

राजनीतिज्ञता की एक कसौटी यह भी है कि विशेष प्रकार के कार्यों के लिए सही किस्म के व्यक्तियों का चुनाव किया जाए, और यह एक विवादास्पद प्रश्न है कि उनकी भारी प्रतिभा के बावजूद क्या डा. ज़ाकिर हुसैन को किसी ऐसे पद पर नियुक्त किया जाना चाहिए था जो केवल नाममात्र का था, और जिसके साथ वास्तविक सत्ता संलग्न नहीं थी। जान पड़ता है, प्रधान मंत्री के दिमाग में सिर्फ राजनीतिक पहलू ही था। बिहार के शासक दल के अंदर झगड़े थे जिन्हें हल करने के लिए डा. ज़ाकिर हुसैन जैसे संस्कृतिनिष्ठ और निष्पक्ष व्यक्ति की जरूरत थी। कहा जाता है कि किसी के यह कहने पर कि डा. ज़ाकिर हुसैन की योग्यताओं से पूरा लाभ नहीं उठाया गया है, उन्होंने जवाब दिया था कि राज्यपाल के रूप में वह एक बहुत महत्वपूर्ण काम कर पाएंगे। हो सकता है कि असली वजह यही हो कि डा. ज़ाकिर हुसैन के इतने प्रशंसक होते हुए भी प्रधान मंत्री उनके लिए और कुछ भी करने की स्थिति में न रहे हों। फरवरी 1958 में जब मौलाना आजाद की मृत्यु हो गई तब अफवाह थी कि उनके उत्तराधिकारी डा. ज़ाकिर हुसैन ही बनाए जाएंगे। यह अफवाह भी

---

[1] मुझे एक विश्वस्त सूत्र से मालूम हुआ है कि मौलाना आजाद इस प्रस्ताव से बहुत ज्यादा खुश नहीं थे।

थी कि शिक्षा मंत्री का पद स्वीकार करने से डा. ज़ाकिर हुसैन ने इंकार कर दिया था। खुद डा. ज़ाकिर हुसैन से मुझे यही पता चला कि प्रधान मंत्री की उन दिनों उनसे मुलाकात जरूर हुई थी, लेकिन उन्होंने शिक्षा मंत्री का पद उन्हें देने की उनसे कोई बात नहीं की थी।

भारत सरकार ने डा. ज़ाकिर हुसैन को जिस पद पर नियुक्त किया उसके औचित्य पर, अगर इसका औचित्य सिद्ध करना वह आवश्यक समझते, और उस पद को स्वीकार करने की बात पर, अगर कोई प्रकाश डाल सकता था तो खुद वही। और, अलग-अलग लोगों के सामने वह, अपने उस वक्त के मिजाज और जिससे बात हो रही होती उसके मुताबिक, अलग-अलग ही जवाब देते; उनके दिमाग में क्या चल रहा है यह वह किसी के भी सामने बहुत ज्यादा खुलने नहीं देना चाहते थे, और न यही चाहते थे कि उनकी जानकारी में जो कुछ है उसे कोई भी दूसरा आदमी बखूबी जान पाए। इसलिए, हम सभी प्रकार की संभावनाओं को एक साथ सामने रखकर अटकलबाजी ही कर सकते हैं।

डा. ज़ाकिर हुसैन यह जरूर महसूस करते रहे होगें कि राजनीतिक जीवन मे वह सक्रिय रूप में हिस्सा नहीं ले सकते। तब उन्हें अपनी पार्टी के हित में अपनी निष्पक्षता को, और क्या काम किस तरह किये जाने चाहिए इस संबंध में अपने विचारों को भी, तिलांजलि ही दे देनी पड़ती, और उस तरह की खरी आलोचनाओं से भी अपने को रोकना पड़ता जैसी कि उन्होंने द्वितीय पंचवर्षीय योजना वाले अपने भाषण में की थीं। इसका मतलब होता जानबूझ कर आत्मदमन करना, जो सत्ता और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की बहुत ही बड़ी कीमत होती। उन्होंने राजनीति से पूरी तरह अलग रहने का विकल्प ही चुना। दलील दी जा सकती है कि उन्होंने एक कठिन स्थिति स्वीकार की। यह विकल्प भी तो था कि अपने अचूक कौशल द्वारा वह विवादों से अलग रह सकते थे और एक विशिष्ट राजनीतिज्ञ के नाते उन्हें जो भी मौका दिया जाता उसका इस्तेमाल करके ईमानदारी का, और दक्षता तथा सूझबूझ के साथ सत्ता का उपयोग करने का, एक आदर्श सामने रखते। हर लोकतंत्र को हमेशा ही इस तरह के व्यक्तियों की जरूरत रहती है जो इस तरह का आदर्श सामने रखें। लेकिन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सिर्फ एक ही व्यक्ति की क्षमता और समर्पण काफी नहीं है। किसी लोकतंत्र में सार्थक कार्य तभी हो सकता है जब उसे करने वालों के अंदर टोली के रूप में काम करने की भावना हो और मुझे विश्वास है, शिक्षा के क्षेत्र में तीस साल तक की अपनी कोशिश के बाद डा. ज़ाकिर हुसैन इस नतीजे पर पहुंच गये थे कि वह अपने साथ कोई टोली नहीं जुटा सकते। फिर भी वह कोशिश तो कर ही सकते थे। लेकिन कमजोर दिल, मधुमेह, और ग्लाकोमा की उनकी बीमारियो ने उन्हें इसके काबिल नहीं रहने दिया था। नए कदम उठाने की प्रवृत्ति, साहस या सूझबूझ के किसी काल्पनिक ह्रास ने नहीं बल्कि उनके प्रकट रोगों ने ही, जान पड़ता है, उन्हें एक ऐसा पद स्वीकार करने के लिए प्रेरित किया होगा जहां उनका एकमात्र कार्य होता उस राज्य के गौरव के प्रतीक बन जाना।

इससे विपरीत, हमें यह भी याद रखना होगा कि प्रकृति ने उन्हें किसी ऐसे ही पद के लिए बनाया था। हमेशा से वह वही करते आए थे जो कि स्थिति की मांग थी, और कुछ

उनके अलावा भी । और, 'कुछ उसके अलावा' वाली बात ही थी जिसने उन्हें विशिष्टता प्रदान की थी । उनके प्रशंसकों में से जो लोग यह समझते थे कि सक्रिय जीवन से वह समय से काफी पहले ही, या बिना पर्याप्त कारण के ही अलग हो गए, उन्होंने यह नहीं देखा कि किसी राज्य के राज्यपाल बनने से वह अपनी प्रकृति के और भी नजदीक आ गए थे, अपने सही काम पर, और एक ऐसी स्थिति में ला रखे गए जहां 'कुछ उनके अलावा' वाली उनकी वह विशिष्टता उनके व्यक्तित्व को आलोकित करने वाली महिमा बन गई ।

"बिहार के मेरे भाइयों और बहनों", 7 जुलाई 1957 को राज्यपाल पद ग्रहण करने पर राज्य की जनता के नाम अपना संदेश देते हुए उन्होंने कहा था, "आज दोपहर से कुछ ही पहले, मैंने बिहार राज्य के राज्यपाल का पद ग्रहण किया है, और ईश्वर को साक्षी बनाकर यह शपथ ली है कि मै इसके संविधान का प्रहरी बन कर रहूंगा और अपनी सारी शक्ति इस राज्य की जनता की सेवा में अर्पित कर दूंगा । अब मै यही घोषणा आप लोगों के सामने भी करता हूं और चाहता हूं कि अपनी प्रार्थनाओं द्वारा आप मेरी मदद करें ताकि मै अपनी इस शपथ को निभा सकूं . . ।

"यह कठिन दायित्व मैने एक ऐसे दिन ग्रहण किया है कि जो बिहार के हम सभी लोगों के लिए, और सभी भारतवासियों के लिए, एक शोक का दिन है । एक बुजुर्ग नेता से, एक पुराने साथी से, आज हमेशा के लिए हमारा बिछोह हो गया है । अनुग्रह बाबू[1] के जीवन के पीछे सेवा की एक दीर्घकालीन गाथा है । गांधी जी के चंपारन आने के वक्त से लेकर अपनी मृत्यु तक वह हर प्रकार से और हर रूप मे बिहार की सेवा करते रहे थे । बिहार राज्य के लिए ही नहीं, समूचे देश के लिए, उनके स्थान की पूर्ति कठिन होगी । लेकिन कोई यह न मान बैठे की सेवा की यह लंबी दास्तान, अनुग्रह बाबू के जीवन की कथा, खत्म हो गई । जो जाति स्वय जीवित है वह अपने भले और बड़े आदमियों को मरने नही देती । सेवामय जीवन का एक सूत्र जैसे ही टूटता है, कई निष्ठावान साथी उसे फिर पकड़ लेते है, काम जारी रखा जाता है, कहानी बढ़ती रहती है, क्योकि हमारे सामने जो कठिन काम है वह पूरी तरह तो कभी खत्म हो ही नहीं सकता । आजादी को हासिल करना ऐसा पहला काम था, इस आजादी को कायम रखना, इसे अपने जीवन के पुनर्निर्माण के एक अवसर में परिणत कर डालना, एक ऐसा काम है जिसमे हजारों काम समाए हुए है । इस बिहार को भारत की आंख की पुतली बना देंगे । सद्भाव, अच्छाई, मिलनसारी, निःस्वार्थ सेवा को हम अपने अंदर इस ढंग से विकसित करेगे कि हमारा देश इस राज्य पर गर्व करे, और हम सब मिलकर इस देश को भले, सच्चे और सच्चरित्र लोगों का देश बनाएंगे, एक ऐसा देश, जो जिंदगी की दौड़ में तेजी से आगे बढ़ता जाएगा, दूसरों को पीछे धकेलकर नहीं बल्कि उन सबको भी साथ लेते हुए, एक ऐसा देश, जिसकी ताकत उतने ही ताकतवर दूसरे देशों

[1]बिहार के एक मंत्री श्री अनुग्रह नारायण सिंह, मुख्यमंत्री के साथ जिनके मतभेद तनाव की स्थिति के कारण बने हुए थे ।

का सम्मान तो प्राप्त करे पर उनकी ईर्ष्या को बढ़ाए बगैर, एक ऐसा देश जिससे कमजोर राज्य डरेंगे नहीं, मगर जिसकी मदद वे चाहेंगे। हममें से हर कोई अगर यह संकल्प कर ले, तो अनुग्रह बाबू की सत्तर वर्ष की तीर्थयात्रा विफल नहीं सिद्ध होगी।

''मैं आपके पड़ोसी राज्य, उत्तर प्रदेश, का रहने वाला हूं। बिहार के लिए मैं अपरिचित हो सकता हूं, पर मेरे लिए बिहार अपरिचित नहीं है। आपके मुख्यमंत्री को मैं बरसों से जानता हूं और एक बुजुर्ग के रूप में उनकी कद्र करता हूं। अनुग्रह बाबू अब नहीं हैं, लेकिन कल ही जब कि मैं उनकी मृत्यु से तीन घंटे पहले उनके यहां जाकर उनसे मिला था तब मुझे देख उन्होंने जो खुशी जाहिर की थी वह कभी भुलाए नहीं भूल सकती। और भी कुछ विख्यात व्यक्ति हैं जिन्हें पहले से जानने का सम्मान मुझे प्राप्त है। ऐसे नौजवान भी हैं जिन्हें मैं जानता हूं। मुझे याद है कि जब मैंने जामिया मिल्लिया का काम संभाला था, और ब्रिटिश सरकार के विरोध के कारण हमारी मदद करने वाले लोग बहुत कम थे, तो हकीम अजमल खां के साथ मैं बिहार आया था, और सबसे पहली मदद हमें हमारे बिहार से मिली थी। आज जामिया एक फलती-फूलती संस्था है, लेकिन मुझे तंगी और सख्ती वाले शुरू के दिन याद हैं जब कि बिहार के दोस्त उसकी मदद के लिए आगे बढ़े थे। और, यदि ये मेरे व्यक्तिगत संबंध न भी रहे होते तब भी मैं कहता कि एक प्रकार से बिहार भारत का हृदय है। अगर आप इसके प्राचीन इतिहास पर नजर डालेंगे तो देखेंगे कि लगभग 900 वर्षों तक का भारत का इतिहास मगध का ही इतिहास है। इस प्रारंभिक काल के बौद्धिक और राजनीतिक इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्थान उसकी उपलब्धियों की याद दिलाने के लिए आज भी मौजूद हैं। और प्राचीन काल में ही नहीं, बल्कि आज भी यह राज्य देश के अधिक विशाल राज्यों में से है। लोग कहते है, वे लोग जो जानकार हैं, कि आंतरिक प्रशासन की दृष्टि से यह राज्य सबसे अधिक कर्मकुशल राज्यों में से है; इसकी जमीन के अंदर कितने ही खजाने छिपे पड़े हैं जो उद्यमी लोगो के लिए चुनौती के तौर पर हैं। यहां दामोदार, कोसी और गंगा प्रायोजनाओं जैसी नदी-घाटी योजनाएं हैं जो, पूरी हो चुकने पर सारे देश की शक्ल बदल दे सकती हैं। यहां सिंदरी है, और जमशेदपुर। थोड़े में ही कहा जाय, तो यहां बहुत काम हो रहा है और इससे भी ज्यादा की गुंजाइश है। जरूरत है साहस और उच्चाकांक्षा की, लेकिन, उससे भी ज्यादा, ईमानदारी की और सहायता और सहयोग की आदत डालने की—यह गुण अपने अंदर उत्पन्न करने की, कि जब तक समूचे देश के गरीब लोगों को भरपेट खाना न मिले और कपड़े और मकान की व्यवस्था न हो तब तक हम चैन नहीं लेंगे।

''मैं उम्मीद करता हूं कि नए युग का जो अरुणोदय हो रहा है उसमें बिहार देश के गौरव को बढ़ाएगा, उसके वर्तमान को उपने अतीत के सामने लज्जित होने का कोई कारण नहीं रहेगा। आप सबके सामने मैं यह घोषित करता हूं कि बिहार अपना यह गौरव प्राप्त कर सके इसके लिए मैं काम भी करूंगा और प्रार्थना भी। प्रार्थना से हमारे प्रयत्नों को सफलता मिलती है, और काम प्रार्थना को प्रभावशाली बनाता है।''

डा. ज़ाकिर हुसैन के कागजात में जिस मसविदे की पांडुलिपि मुझे मिली उसी का यह

अनुवाद* है। संभव है कि भाषण देने से पहले इसमें कुछ संशोधन भी किए गए हों और भाषा भी कुछ बदली गई हो, लेकिन जिस भावना की इसमें अभिव्यक्ति हुई है उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ होगा। मौका ऐसा था कि किसी प्रकार की आलोचना की गुंजाइश नहीं थी; उसका वक्त बाद को आता, और यदि आता, तो उसके लिए जमीन तैयार कर दी गई थी। तब वह आलोचना न लगकर, एक ऐसे व्यक्ति द्वारा आत्म-आलोचना ही प्रतीत होती जिसने कि अपनी जनता और अपने राज्य के साथ पूरी एकात्मता स्थापित कर दी हो। समसामयिक भारत के प्रति बिहार के योगदान की बात बढ़ी चढ़ी दिखाई देती है। यह डा. ज़ाकिर हुसैन की साधारण शैली के अनुरूप ही है, और इस तरह की बात पहलेपहल कभी नहीं कही गई, और शायद विचारपूर्वक भी नहीं। प्रायः सदा ही वह सुदूर या निकटतम अतीत की उपलब्धियों की बात, या जिंदगी के किसी ऐसे पहलू की बात जो प्रशंसनीय थी, इसलिए कुछ बढ़ा चढ़ा कर ही सामने रखते थे ताकि कर्त्तव्यों और दायित्वों के बोध को तीव्रता दी जा सके। जमशेदपुर और सरकारी क्षेत्रों वाली परियोजनाएं आखिर हैं तो बिहार में ही, किसी दूसरी जगह नहीं, और बिहार की सरकार और जनता उन्हें अपना तो कह ही सकती है।

डा. ज़ाकिर हुसैन जब राज्यपाल हुए थे तब तक ऐसी सूरत नहीं आई थी जिसकी वजह से राज्यपाल को स्पष्टतया दिये गए, या उनकी संवैधानिक स्थिति में निहित, अधिकारों और कार्यों की परीक्षा करने और फिर से उनकी परिभाषा करने की जरूरत दिखाई देती। लेकिन किसी राज्यपाल का व्यक्तित्व, उसके विचार, यहां तक कि उसकी रुचियां भी एक अंतर पैदा कर सकती थीं। उत्तर प्रदेश में जब श्रीमती नायडू राज्यपाल थीं तब वहां एक प्रकार का वातावरण था, जब डा. के. एम. मुंशी थे, तब दूसरे प्रकार का। डा. ज़ाकिर हुसैन बिहार के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन पर गहरी छाप डाल सकते थे और प्रकृति से ही एक धीर और व्यवहारकुशल संधिकर्त्ता होने के नाते वह, केवल अपने व्यक्तित्व के ही बल पर और राजनीति से दूर रहते हुए भी, राजनीति और राजनीतिज्ञों को प्रभावित कर सकते थे।

वह किस हद तक कार्य में व्यस्त रहते थे इसका पता उनकी मुलाकातों की और अन्य कामों की सूचियों से नहीं लग सकता, हालांकि ये सूचियां भी काफी बड़ी हैं। उनसे मुलाकात करने के लिये आने वालों में कितनी ही तरह के लोग थे : राजनीतिज्ञ, सरकारी अफसर, कुलपति, प्राध्यापक, शिक्षक, लेखक, धार्मिक, सांस्कृतिक, व्यावसायिक और लोक-कल्याण संगठनों के प्रतिनिधि, विदेशी उच्चाधिकारी और विद्वान, दोस्त और रिश्तेदार। प्रायः सभी राज्यपालों के मुलाकाती इन्हीं श्रणी के लोग रहते हैं, और साथ ही औपचारिक तथा अनौपचारिक गोष्ठियों और सभा-सम्मेलनों की अध्यक्षता करने और

*मूल अंग्रेजी पुस्तक में अंग्रेजी अनुवाद दिया गया है। यहां उसी का हिंदी रूपांतर दिया जा रहा है :-अनुवादक।

अभिभाषण देने का काम भी सभी करते हैं। लेकिन अंतर उनकी मनोवृत्ति में रहता है। जहां तक डा. ज़ाकिर हुसैन का सवाल है उनके लिये ऐसा काम शिष्टाचार, ज्ञान और सहानुभूति में सबसे आगे बढ़ जाने के लिए चुनौती के रूप में था। औपचारिकता और नयाचार (प्रोटोकोल) की आड़ में भी वह मैत्री और अनौपचारिकता बरतते थे, चेहरे पर एक ऐसी मुसकान लिये, जो मुलाकाती को इत्मीनान दिला देती थी कि सामान्य और अंतर्बाधाहीन मनुष्यों के रूप में परस्पर मिलने के मार्ग में जो बाधाएं थीं उनके दूर हो जाने की उन्हें खुशी हुई है। जो मुलाकाती सिर्फ इसलिए उनसे मिलने आते थे कि वह राज्यपाल हैं, उनके लिए इतनी कृपा ही बहुत थी। बाकी लोग, इसके अलावा यह भी पाते थे कि उनके विशिष्ट कर्मक्षेत्र के बारे में वह अगर उनसे ज्यादा नहीं तो उनके बराबर तो जानते ही हैं, या यह कि अपने काम को आगे बढ़ाने के लिए उन्हें प्रोत्साहन के रूप मे जिस बौद्धिक और यथार्थ जिज्ञासा की जरूरत थी ठीक वही उनके अंदर है, या, बातचीत अगर किसी संगठनात्मक या व्यक्तिगत समस्या पर है, तो यह कि उसके अदर स्थिति की वह पकड़ है जिसकी बदौलत चीजों को ज्यादा साफ देखा जा सकता है, और उनके पास ऐसे सुझाव हैं जिन पर अमल करना फायदेमंद होगा। लेकिन सिवा उन थोड़े से लोगों के, जिनके साथ उनकी अंतरंगता थी और जो उनकी जरूरतों और इच्छाओ के प्रति संवेदनशील थे, दूसरे किसी को यह पता नही चल सकता था कि लगातार कितना अधिक परिश्रम वह कर रहे थे। मुलाकातियों की उनकी सूची में ऐसे लोगों के नाम बार-बार मिलते हैं, लेकिन इतनी ज्यादा बार भी नहीं कि इस बात का कुछ भी आभास मिलने पाए कि औरों के मुकाबले उन्हें मिलने के ज्यादा मौके मिलते होंगे। इन थोड़े से लोगो की मुलाकातों को बहुतों की मुलाकात से जो बात अलग करती है वह इतनी अधिक संख्या नहीं बल्कि उन मुलाकातो की अपनी विशिष्टता।

जिन लोगों ने राज्यपालों और मंत्रियों तथा अन्य विख्यात लोगों को ऐसे सभा-सम्मेलनों में बोलते सुना है जिनके उद्देश्यों से वे अपरिचित है या उन्हें वस्तुतः कोई महत्त्व नहीं देते, उन्हे यह बताने की जरूरत नहीं है कि इस प्रकार के लोगों को चूंकि उनके पदों के कारण ही निमंत्रित किया जाता है, इसलिये उनकी उपस्थिति साधारणतः अप्रासंगिक ही होती है और केवल शोभा के लिए। लेकिन निरुद्देश्य रूप में बोलना डा. ज़ाकिर हुसैन की निगाह में ईमानदारी और सच्चाई का हनन करने जैसा अपराध था। वह अपना भाषण लिख लेते थे और, जैसा कि देखा ही जा चुका है, लिखना उनके लिए बेहद अरुचिकर था। लेकिन जब कोई निमंत्रण स्वीकार कर लेते थे तब वह नैतिक रूप से अपने को इस बात के लिए बाध्य समझते थे कि जिस उद्देश्य के लिए उन्हें निमंत्रित किया गया है उनका कुछ न कुछ बौद्धिक योगदान अवश्य रहे।

27 अप्रैल, 1958 को उन्होंने श्री स्वामी मधुसूदन आचार्य द्वारा स्थापित योग विद्या संवर्द्धक मंडल का उद्‌घाटन किया। जहां तक मुझे मालूम है, योग में उनकी कोई दिलचस्पी नहीं थी, हालांकि इस तरह का संकेत देने वाली कोई भी बात उन्होंने कभी नहीं

कही थी। लेकिन उनकी कार्यसूची को देखने पर लगता है कि इस मंडल के प्रतिनिधि लोग उनसे मुलाकात करने एक से अधिक बार आए थे, जैसा बहुत करके इसलिए जरूरी हो गया होगा कि उनके काम की प्रशंसा करने के साथ उन्होंने जरूर उनसे यह अनुरोध किया होगा कि इस उद्घाटन का सम्मान वे किसी अधिक योग्य व्यक्ति को दें। जब इसमें उन्हें सफलता नहीं मिली होगी तब उन्होंने निश्चय ही योग के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया होगा, और अपने भाषण के लिए उन्हीं पहलुओं को चुना होगा जो उन्हें सचमुच ही सार्वभौम महत्त्व के लगे होंगे, ऐसे पहलुओं को, जिन्हें मंडल के उन आयोजकों ने जो योगशास्त्र के रहस्यों से पूरी तरह अवगत रहे होंगे, आनुषंगिक ही माना होगा। ऐसा ही 1961 में महावीर जयंती के अवसर पर हुआ। जैन धर्म के सिद्धांतों पर होने वाले विचारविमर्श में भाग लेने से भला किसी मुसलमान से ज्यादा और कौन घबड़ा सकता था, मगर यह बात उन सब पर भी उतनी ही लागू होती है जिनकी तत्वमीमांसा में या तो रुचि नहीं है, या उसे समझ सकने की क्षमता नहीं है। लेकिन जैन धर्म को समझने की सच्ची लगन रहने पर जहां कोई भी यह समझ लेगा कि उनकी तत्वमीमांसा से कुछ ही प्रतिभाशाली लोग प्रभावित हो पाएंगे, वहां जैन आचार शास्त्र का स्वरूप सार्वभौम है, और हिंसा के कुछ पागल समर्थक ही इस बात से इंकार करेंगे कि अगर हम आत्मविश्वास और साहस के साथ चल सकें तो अहिंसा का मार्ग हमेशा ही अच्छा मार्ग है। उस अवसर पर जिन्होंने डा. ज़ाकिर हुसैन को बोलते सुना होगा उन्होंने महसूस किया होगा कि जैन धर्म सिर्फ किसी एक धार्मिक संप्रदाय की मान्यताओं और आचारों वाला धर्म नहीं है बल्कि एक ऐसी नैतिक शक्ति है जो भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन के मानदंड को ऊंचा उठा सकती है और शिल्पविधि तथा आचारशास्त्र के मूल्यों के बीच इस प्रकार एकत्व स्थापित कर सकती है कि वह एक आदर्श समाज की आधारशिला बन जाए।

चीजों के प्रति इस प्रकार का दृष्टिकोण सद्भाव-संपन्न लोगों को शक्ति प्रदान करता है, और भिन्नताओं को समझ सकने और उनके परे धार्मिक मान्यताओं और आचार व्यवहार—और इसलिए राजनीतिक मान्यताओं और आचार व्यवहार के भी—सामान्य और सार्वभौम तत्वों को देख सकने की क्षमता पर आधारित सद्भाव का विकास किसी बहुसंस्कृति-संपन्न समाज के एकीकरण का सर्वोत्तम उपाय है। सद्भाव का विकास डा. ज़ाकिर हुसैन के लिए एक वैसा ही सुनिश्चित नैतिक समादेश था जैसा कि अहिंसा गांधी जी के लिए था। लेकिन अच्छे जीवन की प्राप्ति के लिए सभी का सभी के प्रति सद्भाव बढ़ाना जरूरी था। इस सद्भाव की मुसलमानों के लिए कसौटी थी—सरकार से मिलने वाली नौकरियो में हिस्सा पाना, अपनी संस्थाओं और सांस्कृतिक संगठनों को चलाने और उनका विकास करने के लिए सरकार से मिलने वाली सहायता, और उर्दू को दिया जाने वाला वह स्थान और उसके विकास मे संघ और राज्य सरकारों द्वारा ली जाने वाली दिलचस्पी। डा. ज़ाकिर हुसैन यह कसौटी अल्पसंख्यक संप्रदायों के सभी नागरिकों के लिए सही मानते थे, और इसलिए मुलसमानो के लिए भी।

मुसलमानों के रोजगार या नौकरी की समस्या रोजगार की आम समस्या का ही हिस्सा है, और वह इतनी बड़ी और जटिल है कि यहां उस पर विचार नहीं किया जा सकता। फिर, इसके बारे में हमारी जानकारी भी अपर्याप्त है। इस समस्या से प्रत्यक्ष और विशिष्ट रूप में संबद्ध कोई भी सरकारी विभाग न तो केंद्र में है और न राज्यों में ही। बेरोजगार मुसलमानों के कोई भी विश्वसनीय आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। जिन्हें नौकरी की तलाश रहती है वे जहां से और जो भी मदद मिल सकती है पाने की कोशिश करते है। यह अंदाज लगाने का कोई तरीका नहीं है कि डा. ज़ाकिर हुसैन ने, जबकि वह राज्यपाल थे या उसके बाद भी, कितने लोगों की, गैरमुसलमान और मुसलमान दोनों की मदद की। जहां तक मुसलमानों की शिक्षा संस्थाओं और सांस्कृतिक संगठनों की मदद करने की बात है, शायद ही कोई ऐसा हो जो उनसे मदद मांग कर निराश हुआ हो। लेकिन इस बात की आम जानकारी नहीं थी। मुस्लिम जनता के पास डा. ज़ाकिर हुसैन के बारे में अपनी पूरी राय कायम करने की एक ही कसौटी थी-औपचारिक और सार्वजनिक अवसर पर उनके द्वारा इस्तेमाल की जाने वाली भाषा।

सार्वजनिक भाषणों में उनके द्वारा प्रयुक्त हिंदी शब्दों पर एतराज करने वाले मुसलमान दरअसल देश की पूरी हालत पर ही नाखुश थे। किसी दूसरे संदर्भ में वे लोग यही दावा करते कि उर्दू एक संग्राहक भाषा है, किसी दूसरी भाषा के लिए उसमें कोई दुर्भावना नहीं है और समूचे इतिहास के दौरान उसने सभी भाषाओं के शब्द स्वच्छंदतापूर्वक ग्रहण किये हैं। दूसरी ओर हिंदी, उनके अनुसार, उर्दू का खुल्लमखुल्ला विरोध करती है और अपने शब्द कोश से वह सभी उर्दू शब्दों को निकाल बाहर करने के लिए तुली हुई है, भले ही वे शब्द सबसे अधिक प्रचलित क्यों न हों। हिंदी भाषाभाषी राज्यों की भाषानीति उन्हें शिक्षा एवं राजनीति क्षेत्र वाले ही द्वेषभाव की द्योतक प्रतीत होती थी। इसके बावजूद डा. ज़ाकिर हुसैन द्वारा अनावश्यक रूप से हिंदी शब्दों का इस्तेमाल उन्हें एक ध्येय के प्रति विश्वासघात लगता था। उधर डा. ज़ाकिर हुसैन, प्रचलित उर्दू शब्दों की जगह हिंदी शब्दों का इस्तेमाल करते हुए भी, उर्दू के बारे में भी अपने विचार को व्यक्त करने से नहीं चूकते थे। 27 नवबंर 1959 को पटना के इदारा तहकीकाते-उर्दू के पुस्तकालय का और उर्दू किताबों की नुमाइश का उद्‌घाटन करते हुए उन्होंने कहा था :

''मुझे कहीं ज्यादा खुशी और गर्व है कि यहां जो कुछ हुआ है उसका संबंध उर्दू से है—उस भाषा से जिस पहलेपहल मैंने अपनी माँ से सीखा था, उस भाषा से जिसके माध्यम से ही मेरा दिमाग पुष्ट हुआ, जिसके माध्यम से ही मैं अब भी विचार करता हूं, और जिसके बौद्धिक और साहित्यिक खजानों से मैं अब भी, अपनी योग्यता के अनुसार, फायदा उठाता हूं। लेकिन सिर्फ इसलिए नहीं कि उसके साथ मेरा व्यक्तिगत प्रेम है बल्कि एक निष्ठावान भारतीय नागरिक के नाते भी मैं महसूस करता हूं कि यह भाषा उस नये जीवन के भावी विकास को, जिसकी हम भारतवासी अपने देश के स्वाधीनता के इस युग में कामना करतें हैं, सूचित करने वाली है। कौन सी है वह भावना जो इस जीवन को प्रेरणा प्रदान करेगी ? वह भावना, सदा की ही भांति, भिन्नता में एकता की खोज वाली भावना

है, विशिष्ट और विभिन्न तत्वों को लेकर एक सामान्य संस्कृति के निर्माण की आकांक्षा, जिस प्रकार कि गंगा और यमुना दोनों मिलकर एक प्रचंड धारा का रूप ले लेती हैं, एक ऐसी संस्कृति के निर्माण की आकांक्षा जिसमें बगीचे का सौंदर्य फूलों के तरह-तरह के रंगों के रूप में दिखाई देता है, जिसमें अलग-अलग रंगों के ये फूल ऐसी माला के रूप में पिरोए जा सकते हैं जिसे अगर मानव समाज अपने गले में डाल ले तो उसकी खूबसूरती और भी दमक उठेगी, जिसमें यह घोषित करने का साहस है कि पोस्ता और गुलाब और केसर के फूलों के अपने-अपने रंग जरूर अलग हैं, फिर भी उनमें से हर एक अपने ही ढंग से बसंत के आगमन का साक्षी है, एक ऐसी संस्कृति जिसमें संपूर्ण अपने किसी अंश को अपना प्रतिद्वंदी मान उससे ईर्ष्या नहीं करता बल्कि उस अंश की शक्ति और ओजस्विता को अपना ही हिस्सा समझता है। मुझे तो लगता है कि भारत के आत्माभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों के बीच यह भावना, अपने परम शुद्ध और स्पष्ट रूप में, हमें उर्दू में ही देखने को मिलती है। यही कारण है कि उर्दू के इतिहास का अनुसंधान कार्य मुझे बहुत महत्त्वपूर्ण दिखाई देता है। मेरा विश्वास है कि अनुसंधान करने पर यह असंदिग्ध रूप में सिद्ध हो जाएगा कि उर्दू किसी एक संप्रदाय या मजहब की भाषा नहीं है, कि इसे किसी भी सरकार द्वारा थोपा नहीं गया था, और न ही किसी खास उद्देश्य को सामने रखकर कृत्रिम रूप में तैयार ही किया गया था। यह जनता की भाषा है, आम लोगों की भाषा।. . .यह फकीरों और संतों की भाषा है जो अपने दिल से उमड़कर वह निकलने वाले प्रेम को उन आम लोगों तक पहुंचाने के लिए बेताब थे जो उनकी जबान से निकलने वाले एक-एक शब्द को पीने के लिए व्याकुल रहते थे। इसलिए, उर्दू तो प्रेम और स्नेह की भाषा है, सहिष्णुता की भाषा, सद्भाव से लबालब भरी आपसी बातचीत की भाषा। इसके पास जो संपत्ति है उसने इसे विशाल हृदय और उदार बनाया है। नए को देख यह चौंकती नहीं, नवीनता के सामने यह सकुचाती नहीं, किसी भी शब्द को यह कलुषित नहीं मानती, किसी भी विचार को अछूत नहीं. . .।

''चूंकि उर्दू किसी खास इलाके की भाषा नहीं है और उसे बोलने और समझने वाले सारे देश में ही मिलते हैं, इसलिए राष्ट्रीय एकता को गढ़ने के काम में इसे सबसे आगे होना चाहिए। लेकिन हाल के इतिहास ने कितनी ही जटिलताएं पैदा कर दी हैं। कुछ लोग कहते है कि यह मुसलमानों की जबान है, कुछ इसे विदेशी भाषा बताते है। हकीकत यह है कि न तो यह सिर्फ मुसलमानों की भाषा है और न विदेशी ही। और अगर उर्दू सिर्फ मुसलमानों की ही भाषा हो तब भी हमारे स्वाधीन, राष्ट्रीय जीवन के लिए यह कोई कलंक नहीं है। इस देश में रहने वाला और इसे अपना देश मानने वाला हर कोई, जो इसके संविधान को स्वीकार करता है और उसके अनुसार चलता है, हमारा भाई और साथी है। उसकी समृद्धि में हमारी समृद्धि है, उसके कल्याण में हमारा कल्याण है।. . .किसी ऐसी भाषा को, जिसमें आर्य समाज का पूरा साहित्य हमें मिलता है, जिसका ईसाइयों ने अपने धार्मिक उद्देश्यों की सिद्धि के लिए पूरा इस्तेमाल किया है, मुसलमानों की ही भाषा कहना और इस तरह संकीर्णता की वृद्धि करना न तो ईमानदारी की बात है और न अक्लमंदी की ही. . .।

किसी राज्यपाल से अपने राज्य के राजनीतिक जीवन में भाग लेने की आशा नहीं की जाती। किसी संकट काल में यह आशा की जाती है कि वह अपने विवेक का और अपने अधिकारों का प्रयोग करेगा। किसी राज्य के राजनीतिक नेताओं के बीच अगर संघर्ष मौजूद हैं और फिर भी उसकी राजनीति संकटों से बची रहती है, तो संभव है कि परदे के पीछे कोई ऐसा प्रभाव काम कर रहा है जिसकी वजह से शांति कायम रह आती है। पटना में नियुक्त प्रशासन के एक अधिकारी ने मुझे बताया था कि डा. ज़ाकिर हुसैन जैसा व्यक्ति बिहार के लिए बेमेल-सा लगता है। उसने मुझे बताया था कि गंगा के एक ऐसे घाट पर जब वह पहुंचे जिसका काफी ऐतिहासिक और धार्मिक महत्त्व है तो वहां के अधिकारियों ने उन्हें बताया कि जो भी राजनीतिज्ञ वहां आए उन सबसे वे लोग उसकी मरम्मत कराने का अनुरोध करके हार गए हैं। वादे तो सभी कर गए, पर किया किसी ने भी कुछ नहीं। लौटते वक्त ज़ाकिर हुसैन बोले कि उनके सामने भी यही कठिनाई है। उन सब ने भी फौरन ही मान लिया कि वह न तो कुछ कह ही सकते हैं और न करा ही सकते हैं। शायद एक ही ऐसा मामला था जिसमें वह कुछ करा सकने में सफल हो पाए थे, और वह था बिहार विश्वविद्यालय (संशोधन) विधेयक, जो मूलरूप में जिस तरह तैयार हुआ था उससे सभी विश्वविद्यालय छोटे-मोटे सरकारी विभाग ही बन कर रह जाते। उन्होंने इस संबंध में जो किया उसके दो अलग-अलग विवरण मैंने सुने हैं। एक विवरण के अनुसार, उन्होंने मुख्य मंत्री से अनुरोध किया कि राज्यपाल पद की उनकी अवधि जब तक पूरी नहीं हो जाती तब तक के लिए वह इस विधेयक को पेश न करें; दूसरे विवरण के अनुसार, उन्होंने मुख्यमंत्री से कहा कि अपने इस रूप मे अगर यह विधेयक पास हो गया तो उन्हें इस्तीफा दे देना पड़ेगा, क्योंकि उनका अंतःकरण यह गवारा नहीं करेगा कि कुलाधिपति के नाते वह उन अधिकारों का प्रयोग करें जो कि उन्हें इस विधेयक द्वारा दिये जा रहे हैं। उसके बारे में अपनी राय जाहिर करने के लिए उन्होंने तरीका जो भी अपनाया हो, यह स्पष्ट है कि बिहार सरकार डर गई और उसे विश्वविद्यालयों में प्रशासनिक हस्तक्षेप के अवसरों को घटाने के लिए उस विधेयक में परिवर्तन करने पड़ गए।

भारत के उपराष्ट्रपति होकर डा. ज़ाकिर हुसैन जब दिल्ली आ चुके थे उसके दो या तीन साल बाद मुझे रांची का एक पार्क देखने का मौका मिला था। खरपतवार से वह भर गया था और बिलकुल सूखा और उजाड़ दिखाई दे रहा था। साहित्यिक कार्य के लिए उनके द्वारा दी गई ऐसी रकमों का भी मुझे पता है जिनका इस्तेमाल नहीं किया गया। पार्टियों और राजनीतिज्ञों पर उन्होंने जो प्रभाव डाला था उनका नामोनिशान भी उनके चले जाने के बाद कहीं नहीं रह गया था और रांची तथा जमशेदपुर में भी भयानक दंगे हुए। लेकिन दूसरी ओर ऐसे भी सार्वजनिक और निजी बाग मौजूद थे ही जहां 'ज़ाकिर हुसैन गुलाब' अन्य गुलाबों के साथ-साथ खिलते रहते हैं, और सैकड़ों लोगों के दिल में उनकी मोहब्बत और सौजन्य की जो छाप पड़ी हुई है वह कितनी ही मौसम बीत जाने पर भी ताजी है। अपने समाज की प्रकृति को बदलना या उसकी जीवन धारा को दूसरा मोड़ देना किसी एक आदमी के बस का नहीं है लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन के बारे में यह कहा जा सकता है कि ठेठ

भारतीय व्यक्तित्व के एक स्थायी रूप की रचना करने में उन्होंने कुछ भी उठा नहीं रखा, एक ऐसे व्यक्तित्व की, जिसने अपने सद्भाव से, उदारता की भावना से, और हर तरह की हैसियत वालों का समान रूप से खयाल रखने की अपनी आदत से हर किसी को प्रभावित किया।

2. भारत के उपराष्ट्रपति

1962 मे उपराष्ट्रपति पद के लिये चुनाव करने की बात उठी तो जान पड़ता है कि प्रधान मंत्री को आखिर अपनी इच्छा पूरी करने का मौका मिल गया। दूसरे उम्मीदवार और कौन-कौन थे इसकी अटकलबाजी अब अप्रासंगिक होगी; प्रधानमंत्री ने अपना फैसला कर लिया था, और डा. ज़ाकिर हुसैन भारत के उपराष्ट्रपति चुने गए, और 13 मई को उन्होंने अपने पद की शपथ ली। बिहार में उन्होंने जो नींव डाली थी उस पर वह अब अपना निर्माण कार्य कर सकते थे, और भारतवासी की जो तस्वीर उन्होंने रची थी उसे व्यापक रूप देकर भारत की ही तस्वीर में बदल दे सकते थे। बिहार के राज्यपाल के नाते वह भारत की राजधानी से काफी दूर थे ; उपराष्ट्रपति के रूप में वह लोगों के ही बीच और जिंदगी की भंवर के बीचोबीच थे।

अपने सरकारी निवास स्थान, 6, मौलाना आजाद रोड, में ठीक से बस जाने में उन्हें कुछ वक्त लगा। श्रीमती रत्ना फाब्री ने आभ्यंतरिक सजावट की जिम्मेदारी ली; यह मुख्यतः सौम्य धूसर वर्ण की थी, आंखो के लिये सुखद और विशिष्टतापूर्ण। अपने बगीचे के लिये निश्चय ही उन्होंने विशेषज्ञो की सलाह ली होगी, लेकिन उसे संवारने और ठीक रखने का काम लोक निर्माण विभाग के हाथों मे था। सभी कामों में पूर्णता के हिमायती तो वह थे ही, और यहां भी वह खर-पतवार का एक तिनका तक नहीं उगने देना चाहते थे, खासतौर से मोठ नामक घास का, जो बड़ी तेजी से बढ़ती और रोकथाम न की जाने पर पूरे मैदान पर छा जाती है। डा. ज़ाकिर हुसैन ने अहाते के पूरे मैदान को ही दो फुट गहरा खोद देने और फिर उस मिट्टी को बारीक छलनी में छानने का हुक्म दिया, और उसके बाद उस मिट्टी में सर्वोत्तम दूब लगाने का। जमीन खोद डाली गई, मोठ की जड़ें पुराने तरीके से जल्दी-जल्दी उखाड़ दी गईं, और जमीन को समतल कर दिया गया। इससे ज्यादा कुछ करने की बात लोक निर्माण विभाग ने न तो जरूरी ही समझी और न संभव ही। डा. ज़ाकिर हुसैन संतुष्ट नहीं हुए और वह क्या क्या चाहते थे इसे फिर दुहराया। लोक निर्माण ने उनका हुक्म मान कर जमीन को तो फिर एक बार खोद डाला, लेकिन अपने इस आश्वासन पर यकीन कर लेने का अनुरोध किया कि सभी प्रकार के पेड़ पौधों के बीज भी निकाल दिये गए हैं और उनकी जड़ें भी उखाड़ फेंकी गई हैं। इस पर डा. ज़ाकिर हुसैन की जो प्रतिक्रिया हुई वह यह कि उन्होंने अपने कर्मचारियों को हुक्म दिया कि लोक निर्माण

विभाग के जिस अधिकारी के सुपुर्द यह काम है वह उनके सामने फिर कभी न आने पाए। जब वह यह हुक्म दे रहे थे तब मैं वहीं मौजूद था। कुछ मिनट बाद ही बहुत ही धीमी आवाज में उन्हें बताया गया कि लोक निर्माण विभाग का वह अधिकारी बाहर बैठा है और उनसे मिलने की इजाजत चाहता है। आखिर उस अधिकारी की जीत हुई, और डा. ज़ाकिर हुसैन के सामने उसके दिये इस आश्वासन को स्वीकार करने के सिवा कोई रास्ता नहीं रह गया कि उनके हुक्म की तामील पूरी सावधानी के साथ की गई है और उनके मैदान में खर-पतवार का एक भी तिनका कभी नहीं दिखाई देगा। कुछ काल बाद माली ने आकर उनसे कहा कि दो ट्रक खाद भेजी गई है और चालीस ट्रक की रसीद लिख देने के लिये उससे कहा गया है। रसीद नहीं दी गई और नतीजा यह हुआ कि जिनका इस तरह नुकसान हुआ उन्होंने माली का नाम काली सूची में लिख लिया।

संविधान के अनुसार, उपराष्ट्रपति राज्य सभा का अध्यक्ष भी होता है और जरूरत के वक्त राष्ट्रपति का भी काम करता है। पदानुक्रम में उसका स्थान राष्ट्रपति के ही बाद आता है और इस नाते उसे सरकारी या राजनयिक नयाचार के अनुरूप अपने कर्त्तव्य निभाने होते हैं। संविधान में उपराष्ट्रपति के सामाजिक कर्त्तव्यों का उल्लेख नहीं हैं; कितने ही संगठनों का उसे किसी पदनाम के अंतर्गत संरक्षक अथवा औपाधिक होना होता है, कितने ही दीक्षांत समारोहों में भाषण देने होते हैं, कितने ही प्राक्कथन और प्रस्तावनाएं लिखनी होती हैं, कितने ही संदेश देने होते हैं, कितनी ही सभाओं की अध्यक्षता करनी होती हैं और वहां बोलना पड़ता है, कितने ही विवाहों के स्वागत-समारोहों में भाग लेना होता है, और यदि, थोड़े में कहा जाये तो, तरह-तरह से उसकी दुर्गति की जाती है—सिर्फ इस अंधविश्वास के कारण, कि कोई काम तब तक ठीक ढंग से नहीं हो सकता, कम से कम दिल्ली में, जब तक कि राष्ट्रपति या प्रधान मंत्री उसमें शामिल होकर उसे इतनी विशिष्टता न प्रदान करें कि अखबारों में उसका जिक्र हो। हठपूर्वक किये गये इस तरह के निमंत्रणों को उपराष्ट्रपति कहां तक अस्वीकार करता चल सकता है यह अवश्य स्वयं उपराष्ट्रपति पर ही निर्भर करता है, लेकिन उम्मीद यही की जाती है कि वह हर निमंत्रण को स्वीकार करने का अनुग्रह करेगा। डा. ज़ाकिर हुसैन का व्यक्तिगत सौजन्य था भी ऐसा, कि वह इनके शिकार बनने के परम उपयुक्त थे।

राज्य सभा के अध्यक्ष के अपने कर्त्तव्यों को निभाने में उन्हें उपाध्यक्षा श्रीमती वॉयलेट अल्वा की जो सहायता मिलती थी उसे करीब-करीब उनके प्रति उनकी व्यक्तिगत श्रद्धाभक्ति ही कहा जा सकता है। लेकिन उन्हें प्रश्नकाल में अध्यक्षता करना होता था, और वह कोई कम बड़ी चुनौती नहीं थी। जिन सदस्यों को सही संसदीय आचरण की अवहेलना करने में ही मजा आता था उन्हें आत्मसंयम से काम लेने के लिए वह बाध्य नहीं कर सकते थे। कभी उन्हें मेज को पीटना पड़ता, कभी उन सदस्यों से भी कहीं ज्यादा ऊंची आवाज में चिल्लाना पड़ता, कभी हुक्म देकर रोकना पड़ता—वे सारे काम, जिन्हें करने की सामर्थ्य का न कभी वह खुद गुमान तक कर सकते थे और न वे लोग ही जो उन्हें

जानते थे। लेकिन पूरी गरमा गरमी के बीच भी, और जब कि पल भर में कोई फैसला कर लेना पड़ता था, उनकी निष्पक्षता में किसी को शक नहीं हो सकता था और न इस मामले में उंगली उठाई जा सकती थी। उनके राजनीतिक संबंध तो ज्ञात ही थे। फिर भी, अल्पसंख्यकों को वह अपने दिल की बात कह डालने का अधिकार देना चाहते थे, बल्कि इस हद तक, कि जिनकी संख्या ज्यादा थी उन्हें उस अनुपात में कम मौका मिल पाता था, जिसकी क्षतिपूर्ति तभी हो सकती थी जब कि उसके पीछे अधिक बड़ा बुद्धिबल हो और अपनी बात को समझा सकने की अधिक क्षमता। मुझे याद है कि उन्होंने मुझे काफी अफसोस के साथ बताया था कि शासक दल के सरकारी और गैर सरकारी प्रतिनिधि सवालों का जवाब देने के लिये काफी तैयार होकर नहीं आते थे। विरोधी पक्ष के उन दो सदस्यों के नाम भी उन्होंने मुझे बताये थे जो अपनी तैयारी पूरी तरह और ईमानदारी के साथ करके आते थे, और अक्सर ही वे अपने प्रतिपक्षियों से बढ़े चढ़े रहते थे।

अपने देश की सेवा करने और उसके एक ऐसे रूप की रचना करने का, जिसे की दूसरे देश संजोकर रखें—अवश्य पाकिस्तान को, और निश्चय ही चीन को भी, छोड़कर—डा. ज़ाकिर हुसैन का सबसे बड़ा माध्यम था कूटनीतिज्ञता की उनकी प्राकृतिक प्रतिभा। भारत-चीन युद्ध के कारणों की छानबीन करना यहां अप्रासंगिक होगा। हकीकत यह है कि उसे रोका नहीं जा सका, हालांकि प्रधानमंत्री नेहरू और चाऊ एन-लाई के बीच निकट मैत्री दिखाई पड़ती थी और उन दोनों ने निश्चय किया था कि वे पंचशील का अनुसरण न केवल स्वयं करेंगे बल्कि दूसरे राष्ट्रों से भी कराना चाहेंगे। जैसा कि घटनाओं से प्रगट है, पाकिस्तान का शत्रुभाव किसी रोगग्रस्त का सा है। उसने महज मुखालफत करने के लिये ही भारत को अपना दुश्मन मान लिया है, मगर लगता है कि वह और भी बड़ा दुश्मन भारतीय मुसलमानों को मानता है, जिन्हें कि इस देश में हैसियत भी मिली हुई है और प्रतिष्ठा भी, और जो, सिर्फ अपने अस्तित्व की असलियत से ही, इस सारे प्रचार को गलत साबित कर देने में समर्थ हैं कि यहां की हिंदू सरकार भारतीय मुसलमानों को सता रही है। भुट्टो और उनके जैसे दूसरे लोगों की राय में ऐसे मुसलमानों की उपेक्षा की जानी चाहिये, उन्हें झिड़कना या अपमानित तक किया जाना चाहिये-जब जैसा करने का मौका हो। 'इंडिया इंटरनेशनल सेंटर' (भारतीय अंतर्राष्ट्रीय केंद्र) में भुट्टो के नेतृत्व में आए एक प्रतिनिधि मंडल को दिए भोज में डा. ज़ाकिर हुसैन बीच में थे, और उनके दाहिनी ओर भुट्टो बैठे थे और बाईं ओर एक आई. सी. एस. अफसर। भुट्टो बराबर ही उस अफसर के साथ, जो उनका परिचित था, बातें करने में लगे रहे, और डा. ज़ाकिर हुसैन से एक शब्द तक नहीं बोले। मैं दाहिनी ओर दो और कुर्सियों के बाद बैठा था, और देख रहा था कि पूरे ही भोज में डा. ज़ाकिर हुसैन इतमीनान के साथ बैठे रहे और शायद ही उन्होंने उस बीच इधर या उधर गर्दन घुमाई होगी; उनका चेहरा पूरी तरह से भावशून्य बना रहा। मैं यही सोचता रह गया कि इस कष्टकर अग्नि परीक्षा में होकर उन्हें क्यों गुजरना पड़ा। उनके मेजबानों को तो यह बात सोचनी चाहिये थी। कुछ ही वक्त बाद जो भारत-पाकिस्तान

युद्ध छिड़ा उसमें भारतीय मुसलमानों ने प्रतिष्ठा हासिल की, और इससे पाकिस्तान और भी जल भुन गया। भारत-पाकिस्तान संबंधों का क्षेत्र एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें भारतीय मुसलमानों की देशभक्ति मौजूदा तनावों को कम नहीं कर सकती।

लेकिन बाकी तस्वीर के दमकते हुए रंगों के विपरीत यह रंग सबसे ज्यादा काला है। डा. ज़ाकिर हुसैन की कूटनीतिकता में एक जादू जैसा था, क्योंकि वह न सिर्फ उनके सद्भाव की अभिव्यक्ति की बल्कि गहन ज्ञान और समझदारी की भी, जिसमें फूलों, पेड़ पौधों, जीवाश्मों, चट्टानों, स्फटिकों, चित्रकला, खुशनवीसी, साहित्य, विज्ञान, शिक्षा, आदि में उनकी दिलचस्पी ने, और सभी प्रकार के रूपों और आकृतियों में पूर्णता की उनकी खोज ने, और भी जान डाल दी थी। किसी विदेशी राजनयिक को, जिसे गपशप, लफ्फाजी के साथ की जाने वाली तारीफों और कौशलपूर्वक कही गई ऐसी बातें सुनने की ही आदत होती है जिनके पीछे छिपे इरादों का कुछ भी पता नहीं चल सकता, यह देखकर खुशी होती थी कि डा. ज़ाकिर हुसैन की उसके देश में सच्ची दिलचस्पी है। उसे यह देखकर भी चकित रह जाना पड़ता था कि डा. ज़ाकिर हुसैन को उसके देश के बारे में दो एक ऐसी बातें भी मालूम हैं जो वह खुद नहीं जानता था इतना कम जानता है कि उनके बारे में बात नहीं कर सकता। उदाहरण के रूप में, फूलों के बारे में, या दरख्तो, या पत्थरों, अथवा इतिहास या संस्कृति संबंधी किसी बात के बारे में। बर्मा के एक प्रधानमंत्री जब इस देश की यात्रा पर आए थे तब उन्हें उनके देश में पैदा होने वाले विरल कोटि के कुछ फूलों के लिये बधाई दी गई। "एम्हर्स्टिया पौधा जब फूलों से भर उठता होगा, तब कितना मनमोहक लगता होगा न ?" प्रधान मंत्री ने जवाब में 'हां' कह दिया, लेकिन उस मुलाकात के बाद बर्मी दूतावास के अधिकारियों को फूलों वाले उस वृक्ष के बारे में उन्हें जानकारी देनी पड़ी, और उसके कुछ पौधे डा. ज़ाकिर हुसैन के पास भिजवाने के लिये आदेश जारी कर दिये गए। उत्तर अफ्रीका के एक देश से वह बौने अनारों की कई किस्में लाए थे। 'मुझे एक जुलूस में ले जाया जा रहा था", उन्होंने मुझे बताया, "मुझे कतार लगे कुछ पौधे दिखाई दिये जिनके फूल अनारों जैसे थे। इसलिए मैं वहीं रुक गया और अपने साथ के लोगों से पूछा कि इन पौधों का नाम क्या है। उन्होंने बताया कि यह बौने कद वाले अनार हैं। मैंने पूछा कि भारत में भी क्या इन्हें लगाया जा सकता है, और मुझे बताया गया कि लगाया जा सकता है। उन पौधों की ओर मैंने ऐसी ललचाई नजर से देखा कि उसी दम उन लोगों को उनके कुछ बीज और कुछ पौधे मेरे साथ भेजने का वायदा कर देना पड़ा।" रूसी वैज्ञानिकों के एक प्रतिनिधि मंडल ने जीवाश्मों और शैलों का उनका संग्रह देखा और अपने देश वापस पहुंचने पर यूराल में पाए जाने वाले विभिन्न स्फटिकों का एक 'दरख्त' उनके लिये भेजा। जुलाई 1956 में जब वह अफगानिस्तान गए तब उन्होंनों वहां के सबसे अच्छे खुशनवीसों के बारे में दर्याफ्त किया जो अभी मौजूद हों, और बाद को उन लोगों से कुछ चुने हुए शेर लिखवाए। जिस तरीके से भी हो, किसी देश के प्रतिनिधियों को वह यह महसूस करा देते थे कि उनके यहां कुछ ऐसा है जिसकी कीमत

सारी दुनिया के सुसंस्कृत लोगों की निगाहों में ऊंची है।

यही वजह है कि डा. ज़ाकिर हुसैन को मैत्री और सद्भाव की हमारी राजनयिक अभिव्यक्तियों में पाई जाने वाली इस आम प्रवृत्ति पर और भी ज्यादा अफसोस होता था कि इतिहास और संस्कृति में, शांति, सहयोग और आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने में और सभी प्रकार के संबंधों और व्यवहार में हम अपने ही योगदान पर ज्यादा जोर देते हैं। दूसरे देशों में योगदान के बारे में यह मानते हुए भी कि उन्होंने पर्याप्त रूप से किसी उच्च उद्देश्य का साधन किया है, हम यह नहीं मानते कि वह उद्देश्य हमारे उद्देश्य के समान ऊंचा है। 1963 में इथियोपिया, संयुक्त अरब गणराज्य और सूडान की अपनी यात्रा पर जाते वक्त उन्होंने मुझसे कहा था कि विदेश मंत्रालय द्वारा तैयार किए गए उनके भाषणों के मसविदों में भारत और उन देशों के बीच के संबंधों की एकतरफा तस्वीर पेश की गई है, और उन्हें ऐतिहासिक तथ्यों के अधिक निकट लाने, और शिष्टाचार तथा सत्य की ही नहीं कूटनीति की आवश्यकताओं की खातिर भी, उन्होने उन्हें फिर से लिखा था। काहिरा विश्वविद्यालय में, जहां कि उन्हें पी. एच. डी. की उपाधि दी गई थी उनका जो भाषण हुआ था वह अरब जगत और भारत के संबंधों की संतुलित और व्यापक समीक्षा का एक सुंदर उदाहरण है।

काहिरा विश्वविद्यालय के रेक्टर (अध्यक्ष) ने अपने प्रशंसात्मक उल्लेख में डा. ज़ाकिर हुसैन के शिक्षक होने का जिक्र किया था, और डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपनी बात इसी को लेकर शुरू की। "जिस आजादी के लिए बहुत बड़ी कुर्बानियां की गई हैं उनकी नींव पर खड़ी की जाने वाली राष्ट्रीय महानता की इमारत के निर्माणकार्य में जो समाज लगा हुआ है उसमें किसी शिक्षक के पेशे के बारे मे मुख्तसर तौर पर मैं अपने खयालात पेश करने की इजाजत. . . चाहता हूं। उसे अपने समाज की नैतिक उन्नति की फिक्र रहती है। उसके देशवासियो ने जिन मूल्यों को सबसे ऊंचा मानकर अपने जीवन मे स्थान दिया है और जिनकी वे कद्र करते हैं उनका वह रखवाला है। इन उच्चतर मूल्यों को अपने क्षेत्रों तक पहुंचाने में वह अपने निजी व्यक्तित्व के जरिये मदद करता है, और उस सांस्कृतिक सामग्री के भी जरिये जो कि उसके पेशे के उपकरण हैं। सामाजिक किस्म का व्यक्ति होना उसके लिए जरूरी है। उसके काम का सार इसमें है कि दूसरे नौजवानों की जरूरतों और उनकी खूबियो के प्रति सहानुभूति और समझदारी रखते हुए वह उनके अंदर उन मूल्यों के लिए आकर्षण पैदा कर सके। उसका सारा काम नौजवानों के अपरिपक्व विकासशील जीवन के साथ रहता है जिनका व्यक्तित्व अविकसित कलियों के रूप में है। उसे उन कलियों के पूरी तरह खिलने मे मदद करनी होती है, न कि अपनी कल्पना के कागजी फूल तैयार करने की। उसके प्रयत्नों का उद्देश्य और लक्ष्य है नैतिक दृष्टि से स्वायत्त व्यक्तित्व का विकास करना। शासन करने का शिक्षक को अधिकार ही नहीं है; उसे तो निष्ठापूर्वक, प्यार और श्रद्धा के साथ, मदद और सेवा करनी है, समझना और बनाना है। अपने असीम प्रेम और अक्षय धैर्य के साथ वह समूह और व्यक्ति के बीच सही संतुलन स्थापित कर सकता है। वह इस बात में मदद कर सकता है कि मनुष्य एक साथ विकास करे और आनंदपूर्वक

साथ-साथ चले और कभी ढीले न पड़ने वाले जोश के साथ एक साथ काम करे—ऐसा काम जिसका लक्ष्य स्वार्थसाधन से ऊपर है। सभी कामों में, जिनमें हाथ का काम भी आता है, वह बुद्धि के, वस्तुपरक नैतिकता के और सामाजिक उत्तरदायित्व के प्राण फूंक दे सकता है, और ठोस, उद्देश्यमूलक क्रिया की पक्की नींव पर बौद्धिक कार्य की इमारत खड़ी कर सकता है। विभिन्न देशों के लोगों को वह अतीत के उनके मानसिक संबंधों के संदर्भ में, वर्तमान की उनकी एक-जैसी समस्याओं के संदर्भ में, और भावी नियति के प्रसंग में उनकी एक-समान महत्त्वाकांक्षाओं के बारे में. . .परस्पर संयोजित कर सकता है।

"जी हां, शिक्षक के बारे में मेरी धारणा यही है, भारतीय शिक्षक के बारे में, अरब शिक्षक के बारे में, और मेरा खयाल है कि भारतीय शिक्षक और अरब शिक्षक अपने इस तेहरे कर्त्तव्य के प्रति सचेत है, अपने तीनों ही अवसरों के बारे में।

"भारत और मिश्र और पूरे अरब जगत के अतीत का ऐसा बहुत-कुछ वह अपने विद्यार्थियों की चेतना में डाल दे सकता है जो साफ तौर पर यह दिखा दे कि गुजरे हुए जमाने में किस तरह वे एक साथ जुड़े रहे हैं। क्योंकि भारत और मिश्र के बीच तो इतिहास के करीब-करीब बिलकुल ही शुरू से संबंध कायम रहे हैं, और विश्व की सभ्यता के इन दोनों ही उद्‌गम स्थानों में विलक्षण सादृश्य वाली कितनी ही संस्थाओं और प्रथाओं का विकास हुआ है। ईसा के करीब चार हजार साल पहले, नील नदी के तटों पर और शिमला की पहाड़ियों के नीचे से लेकर अरब सागर तक फैले हुए सिंधु घाटी वाले नगरों में, जो सभ्यताएं फूल-फल रही थीं उनके बीच कितनी ही बातों में समानता पाई जाती थी। महंजोदड़ो और हड़प्पा में पाए गए गले के कंठहारों के खंडीकृत मनकों और अर्द्धगोलाकार छोरों, वृषभपाद चौकियों, मक्षिकाकार मनकों, शंबुकाकार चम्मचों से प्रकट है कि इन इलाकों के लोगों के बीच निकट के सांस्कृतिक और व्यापारिक संबंध थे। अगर सिकंदर जैसे शख्स तक ने पहले यही समझ लिया था कि नील नदी भारत के ही किसी स्थान से निकली है, अगर मैगास्थेनीज को भारतीय और मिश्री सिंचाई-प्रणालियों के बीच समानता दिखाई दे गई, और अगर मुहल्लबी ने 'कन्नौज' को 'भारत का काहिरा' कह डाला, तो इन उक्तियों के लिए, जो समसामयिक चिंतन के संदर्भ को दिखाने वाली हैं, ऐतिहासिक कारण रहे ही होंगे। भारत के अरब सागर वाले तट पर भड़ौंच, सोपारा, रोरुका, कौल, श्रीपुत्र जैसे कितने ही पुराने बंदरगाह थे जिनके मिश्र के साथ निकट के संबंध बने रहते थे। एक यूनानी मिश्री नाविक द्वारा ईसवी पहली सदी में लिखी गई किताब 'एक नाविक की मार्ग दर्शिका' से हम दोनों के देशों के बीच के व्यापार संपर्क पर रोशनी पड़ती हैं। प्रारंभिक तमिल कविताओं में भारत-मिश्र व्यापार संपर्कों के संदर्भ भरे पड़े हैं। भारत के समुद्रीतटवर्ती इलाकों में मिश्री सिक्कों के जो खजाने मिले हैं वे भी इस बात के गवाह हैं कि मिश्र के साथ न सिर्फ भारत का जोरदार व्यापार होता था बल्कि भारत में मिश्र व्यापारियों के उपनिवेश तक बन गए थे। काहिरा और सिकंद्रिया में भी समृद्ध भारतीय व्यापारियों के काफी बड़े-बड़े उपनिवेश थे। प्राचीन काल में भारत से यहां काफी मात्रा में

मसालों, इत्रों, जड़ी-बूटियों, रंगों, मोतियों, कीमती पत्थरों, मलमल, नील, हाथी दांत, चीनी मिटटी के बरतनों और कर्पूरका निर्यात होता था। कहा जाता है कि मिश्र में जिस कपड़े में पुराने शवों (ममी) को लपेटा जाता था वह भारत से आता था, और छह सो साल पहले दिल्ली के सुलतान जो कपड़ा इस्तेमाल करते थे वह मिश्र से आता था।

'मिश्र और भारत के बीच राजदूतों की अदला-बदली की परंपरा बहुत पुरानी है। मिश्र के दूत मौर्य राजसभा में भेजे गए थे और मौर्य दूत मिश्र आए थे, और यह अदला-बदली कई सदियों तक चली थी। चौदहवीं सदी के शुरू में मिश्र के मलिक अलनादिर के साथ भारतीय सुलतान मुहम्मद बिन तुगलक के ताल्लुकात बहुत ही अच्छे थे। ये प्राचीन संबंध सिर्फ राजनीतिक और व्यापारिक क्षेत्रों तक ही महदूद नहीं थे। भारत से मिश्र को और मिश्र से भारत को विचारों का भी आना-जाना होता था। ईसा से दो सदी पहले सम्राट अशोक ने धर्म के प्रचार के लिए मिश्र में एक मुनि को भेजा था, और तेरहवीं सदी ईसवी में अलाउद्दीन खिलजी के राज्यकाल में–मौलाना शमसुद्दीन नाम का एक मिश्री बिद्वान इस्लाम के पैगंबर की परंपराओं का एक अध्ययन केंद्र स्थापित करने के लिए भारत आया था।

''और संपर्कों के ये सफल आदानप्रदान सिर्फ मिश्र तक ही सीमित नहीं रहे थे। सारा अरब जगत ही इसकी परिधि मे आ गया था। दूरव्यापी सांस्कृतिक महत्त्व के इन संपर्कों के विस्तार पर कुछ ज्यादा कहने का मौका तो यह नहीं है, लेकिन फिर भी इस तरह के एक संपर्क का जिक्र करने का लोभ मैं नहीं रोक पा रहा हूं। यह था भारत में इस्लाम का अविर्भाव, अरब के पैगंबर का संदेश। इसने भारतीय जीवन को एक नया आयाम दिया और उस पर जबर्दस्त असर डाला। धर्म, राजनीति, भाषा और साहित्य सभी बहुत ज्यादा प्रभावित हुए। इसमें कुछ ताज्जुब भी नहीं, क्योंकि शांति और सद्भाव के महान संदेश की घोषणा करने वाला व्यक्ति वह था जिसके अंदर मानव इतिहास में पहली बार समूची मानव जाति को संबोधित करने की सूक्ष्मदृष्टि और साहस था। उसका आम संबोधन था, 'या ऐयुहन्नस'। इस संदेश की विश्वजनीनता ने और आत्मसात् करने के महान भारतीय गुणों ने मिल कर जो स्थिति पैदा की वह सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यहां तक कि आज, भारतीय उपमहाद्वीप के दुर्भाग्यपूर्ण विभाजन के बाद भी, भारत में साढ़े चार करोड़ से कम मुसलमान नागरिक नहीं हैं, और संसार के सभी देशों में यह मुस्लिम आबादी वाला तीसरा सबसे बड़ा देश है। वे एक ऐसी रोचक सर्जनात्मक सांस्कृतिक स्थिति में आ पड़े हैं जिसमें महत्वपूर्ण विकास की गुंजाइश बनी हुई है। इतिहास में मुसलमानों ने या तो किसी देश में अकेले ही राज किया है और या गैरमुसलमानों द्वारा शासित होकर रहे हैं। यहां भारत के साढ़े चार करोड़ मुसलमान नागरिक एक धर्म निरपेक्ष लोकतंत्र के अंतर्गत अन्य धर्मों वाले अपने देशवासियों के साथ-साथ शासन में हिस्सा बंटा रहे हैं। मैं समझता हूं कि यह नई स्थिति उन्हें एक बहुत ही मूल्यवान सांस्कृतिक संश्लेषण में महत्वपूर्ण योगदान करने योग्य बनाएगी, और मुझे भरोसा है कि उसे महान पैगंबर ने, जो न सिर्फ अरबों का

था बल्कि 'सभी दुनियाओं के लिए वरदान' के रूप में था और समूची मानव जाति को चेतावनी और शुभ समाचार देने आया था, जो संदेश दिया था उसमें नए-नए पहलुओं की खोज निकालने और उस पर नए ढंग से जोर देने की कोशिश बेकार नहीं जायगी।

"एक शिक्षक के नाते, जिसे कि आनेवाली पीढ़ियों और उनके अतीत के बीच संपर्क कायम करना होता है, ये ही बातें हैं जो मेरे दिमाग में आ रही हैं। लेकिन भारत अरब संबंध सिर्फ गुजरे हुए जमाने पर ही नहीं टिके हुए हैं। यह जरूर अच्छी बात है कि स्मरणातीत काल से हमारे दोनों देश जिन शांतिपूर्ण तरीकों से एक साथ जुड़े हुए हैं उनकी हम अपने को याद दिलाते रहें। यह याद रखना जरूर अच्छा है कि कालीकट के व्यापारियों के दफ्तर काहिरा और सिकंद्रिया में थे। हमें यह जानकर सचमुच खुशी होती है कि अरब जगत, जिसका कि मिश्र आज अगुआ है, सदियों तक भारत और पश्चिम के बीच कड़ी का काम करता रहा था, और यह कि भारत और अरब जगत के बीच जो सक्रिय बौद्धिक संपर्क बना हुआ था उसने विश्व के ज्ञान और संस्कृति के कोष को काफी हद तक समृद्ध किया है। यह विचार दिल को बड़ी तसल्ली देता है कि एक-दूसरे को समृद्ध करने वाली ये सारी प्रक्रियाएं सदियों तक इस तरह चलती रही थीं कि उसमें राजनीतिक प्रभुत्व, आर्थिक शोषण और साम्राज्यवादी हिंसा की हलकी से हलकी भी गंध नहीं थी। सचमुच, हमारे अतीत अद्भुत हैं, लेकिन वह जमाना बहुत पीछे छूट चुका है और बीच का वक्त दुर्भाग्य से एक ऐसा अंधकार-युग रहा जब कि हम बेकार ही बिछुड़े रहे। इस बीच की यादें भी कुछ अच्छी नहीं हैं। लेकिन साम्राज्यवादी आधिपत्य के बुरे वक्तों के बाद हम दोनों के ही देशों में जो महान् राष्ट्रीय संघर्ष हुए उन्होंने आज के बड़े कामों में हमें कंधे से कंधा भिड़ाकर एक साथ चलने के लिए इकट्ठा कर दिया है। जालिम उपनिवेशवाद की एड़ियों के नीचे से निकलकर हम उठ खड़े हुए हैं। हम दोनों को इस बात का तजुरबा है कि उसके बोझ से दब कर हम किस तरह बेबस हो गए थे, उस बोझ को उतार फेंकने का उल्लास हमारी नस-नस में दौड़ रहा है, अपने राष्ट्रीय जीवन को अपने ही तरीके से गढ़ने, सुखी, मनोहर, शोषणहीन जीवन के नए नमूने तैयार करने, एशिया और अफ्रीका ही नहीं, आखिर में तो सारी दुनियां के ही लोगों के बीच शांति, समझदारी और दोस्ती बढ़ाने के उत्तरदायित्व की ऊंची भावना रखने में हम दोनों ही एक साथ हैं।"

यह तो साफ है कि डा. ज़ाकिर हुसैन का आदर्श था मेलमिलाप को बढ़ाना, अंतर्राष्ट्रीय शब्दावली में इस शब्द का जो अर्थ—या अर्थहीनता—है उस हिसाब से नहीं बल्कि जर्मन दर्शन में इसका जिस रूप में प्रतिपादन किया गया है उस अर्थ में और जिनके साथ हम मेलमिलाप रखना चाहते हैं उनके साथ इस प्रकार का मानसिक तादात्म्य स्थापित करना, कि दूसरों को समझकर ही हम अपने को भी समझ सकें। इस प्रकार की समझदारी और मेलमिलाप की भावना अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का ध्येय कभी नहीं रही है और इसकी बात आ भी उसी के दिमाग में सकती है जो उस चीज से ऊपर उठ सकता है जिसे प्रबुद्ध स्वार्थभावना

कहा जाता है। डा. ज़ाकिर हुसैन भारत की जो तस्वीर तैयार करना चाहते थे उसमें आत्मनिर्भर और आत्मकेंद्रित उद्यम की उपलब्धि का महत्त्व नहीं था। उस तस्वीर को जो भारत और उन देशों को मिलकर तैयार करना था जिनके साथ भारत आपसी मेलमिलाप के प्रयास में लगा रहा है। इस प्रकार, एक-दूसरे को समझने की आकांक्षा का प्रसार भी होता जाएगा, और सामान्य हित के आकस्मिक आविष्कारों पर नहीं, बल्कि पारस्परिक सम्मान की भावना के एक बढ़ते हुए संदर्भ में हुई आत्मोपलब्धि पर ही, सद्भाव की इमारत खड़ी होगी।

डा. ज़ाकिर हुसैन को राज्यपाल और उपराष्ट्रपति के नाते कितने ही दीक्षांत भाषण देने होते थे।[1] वे बड़ी कार्यव्यस्तता के बीच लिखे जाते थे और इसलिये उनमें उनके उन विचारों को अभिव्यक्ति मिली है जो उनके दिमाग में सबसे ऊपर होते थे। करीब-करीब ऐसे हर भाषण में ही उन्होंने अपना ध्यान व्यक्ति पर केंद्रीभूत कर दिया है, उसके उस विकास पर जो विरासत मे मिलने वाली संस्कृति को—भौतिक रूप में, और सौंदर्यात्मक तथा नैतिक आदर्शों और आकांक्षाओं के रूप में भी, मस्तिष्क की ही रचनाओं को—आत्मसात करने का फल है। आमतौर पर वह मानसिक और नैतिक विकास की समस्या पर एक शिक्षक के नाते ही विचार करते थे, और उच्चतम मूल्यों के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण के जरिये आत्मोपलब्धि का मार्ग दिखाते थे। 29 अप्रैल 1967 को उन्होंने एन आर्बरस्थित मिशिगन विश्वविद्यालय में जो प्रारंभिक दीक्षांत भाषण दिया था उसमें भी हम उन्हें एक सामाजिक वैज्ञानिक और राजनेता के नाते उसी समस्या पर विचार करते, और व्यक्ति के ही मूल्य पर जोर देते, पाते हैं।

". . .जहां हम भारत में एक राष्ट्रपरक राज्य के निर्माणकार्य में लगे हुए हैं, वहां आप लोग उसे बना भी चुके है, और सारी दुनियां की निगाहों के सामने वह सबसे ऊंचा खड़ा है। इसलिये यह उचित ही है और सही भी, कि राष्ट्रपरक राज्य के स्वरूप और उसके ज्यादा गहरे उद्देश्यो के बारे में, और वह किधर जा रहा है इस पर, हम लोगों के बीच लगातार बातचीत चलती रहे। आप लोगों के विचार और कार्य जो दिशा लेते हैं उनका संसार के लिये बहुत ही ज्यादा महत्त्व है, और इसलिये यह जरूरी है कि आप लोग भी उन राष्ट्रपरक राज्यों के स्वरूप का और उनकी कार्यपद्धति का सहानुभूति और आपसी समझदारी के साथ अध्ययन करें जिनकी उत्पत्ति राष्ट्रत्व की एक सामान्य भावना के फलस्वरूप और राज्य तथा व्यक्ति के आधारभूत हितों के बीच एक सहज तादात्म्य रहने के कारण हुई है, एक ऐसा तादात्म्य, जो इस बात की एक प्रबल और सुस्पष्ट आकांक्षा के बावजूद कायम रहा आता है कि कानूनों का पालन करते हुए भी व्यक्ति यथासंभव अधिक से अधिक स्वतंत्र रहा आए। ऐसे भी राष्ट्रपरक राज्य हैं जिनकी उत्पत्ति अपने अधिकार का दावा जताने के लिये ही और उस सामान्य हित के दावों की स्थापना के लिये हुई है जिसकी उपलब्धि अन्य

---

[1]इनमें से अधिकांश का एक संग्रह 1965 में 'दि डायनेमिक यूनिवर्सिटी' (गतिशील विश्वविद्यालय) के नाम से बंबई के 'एशिया पब्लिशिंग हाउस' द्वारा प्रकाशित किया गया था।

प्रकारों से नहीं कि जा सकती थी। ऐसे भी राष्ट्रपरक राज्य हैं जो मूलतः दो या अधिक ऐसे जातीय अथवा सांस्कृतिक तत्वों के एक समूह के रूप में हैं जिनका उद्देश्य है उनके अंदर सामंजस्य स्थापित करना और सामान्य हित को आगे बढ़ाना। फिर, ऐसे भी राष्ट्रपरक राज्य हैं जिनका गठन जनता के संकल्प से हुआ है, ताकि वे अपने सामान्य राष्ट्रत्व की उपलब्धि को एक प्रतीक का रूप दे सकें और ऐसी नीतियों के अंदर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा कर सकें जिनसे उनकी शक्ति और समृद्धि बढ़े। इसलिये, स्पष्ट ही, सभी राष्ट्रपरक राज्य अपनी उत्पत्ति या उद्देशय में एक-जैसे नहीं हैं और हर एक को ही अपनी नियति की अपने ही ढंग से उपलब्धि करनी है।

''अक्सर ही हम यह मान कर चलते हैं कि राष्ट्रपरक राज्य की स्थापना से हमारी सभी समस्याओं का समाधान हो जायगा, और इसमें शक नहीं कि उनमें से 'कुछ' समस्याओं का समाधान इसने किया भी है। लेकिन इस बात को लेकर बहुत ही गंभीर, और काल के संदर्भ में, औचित्यपूर्ण संदेह रहे हैं, कि सचमुच ही क्या यह उतना ही प्रभावशाली हो पाया है जितना कि दावा किया जाता है, या सत्ता और नैतिक ध्येयों के बीच जो संबंध हैं उसके संगीन मामले को यह हल कर पाया है ? दरअसल, ऐसे राज्य मौजूद हैं ही जिनमें इस बात की साफ तौर पर कोई कद्र है ही नहीं कि सत्ता की और भौतिक समृद्धि के लिये होने वाली जिस दौड़ में वे लगे हुए हैं उसमें नैतिक ध्येयों का कोई विशिष्ट स्थान है. . .

''. . .क्या इसका मतलब यह हुआ कि राष्ट्रपरक राज्य में नैतिक मूल्यांकन किया ही नहीं जाएगा—या किया ही नहीं जाना चाहिये—कि यह नैतिक विधान की परिधि के बाहर है कि ऐसी कोई भी सत्ता नहीं है जिसे उसका विचार करने का अधिकार हो ? मैं उम्मीद करता हूं कि हम सभी इस बात पर एकमत होंगे कि ऐसी बात नहीं है। नैतिक विधान की अवज्ञा करने से जो भी फायदे ऊपरी तौर पर दिखाई पड़ते हैं उन सबके बावजूद, शोषण या अन्याय जल्द या देर से उस राज्य से बदला लेकर रहेंगे ही, और आखिर में जाकर तो इससे उसे कोई भी शक्ति नहीं बचा सकती।. . .राज्यों द्वारा की जाने वाली राजनीतिक ज्यादतियों और अन्यायों को अगर रोकना है, तो ऐसा करने का अधिकार और शक्ति किसके पास है ? इस सवाल का एक ही जवाब है : अतिसंवेदनशील और निर्भीक अंतःकरण वाले उस नागरिक के पास, जो जरूरत पड़ने पर राज्य के हित में राज्य की अवज्ञा कर सकता है और नैतिक मूल्यों को दावे के साथ आगे रख सकता है। लेकिन यह नागरिक भी एक व्यक्ति ही है और नागरिकों की ही बिरादरी का एक सदस्य। इसलिये उसके अंतःकरण और उसकी शिक्षा की समस्या पर विचार करने से पहले हमें यह परीक्षा कर देखनी होगी कि वह खुद किस जगह पर खड़ा है।

''राष्ट्रपरक राज्य के, जैसा कि होता है, निर्माता ऐतिहासिक दृष्टि से सभी प्रकार के व्यक्ति रहे हैं—राजनेता, शहीद, अन्वेषक, समुद्री लुटेरे, साम्राज्यवादी, दुस्साहसी लोग, व्यवसाय बुद्धि वाले उद्यमी लोग, विचारक, वैज्ञानिक, इतिहासकार, कवि। कभी उन्होंने एक साथ मिलकर काम किया, कभी उनके बीच संघर्ष रहा, लेकिन जो पूरी तस्वीर बनकर

तैयार हुई उसमें उन सभी का अपना-अपना अनोखा योगदान रहा । उनमें से अब्राहम लिंकन जैसे कुछ ने राज्य को नैतिक ध्येयों की पूर्ति करने के लिये मजबूर कर दिया ; कुछ ने नैतिक ध्येयों को तोड़मरोड़ कर राज्य के हितों के चौखटे में बिठाने की कोशिश की; कुछ ने राज्यहित साधन की दृष्टि से नैतिक ध्येयों को असंगत माना । राष्ट्रपरक राज्य के मिलेजुले स्वरूप पर वे सभी अपनी छाप छोड़ गए हैं । हमारी तरह आपका अपना इतिहास भी ऐसे लोगों से भरा पड़ा है, और आप और हम दोनों ही उनमें से कितनों के ही प्रशंसक रहे हैं और आज भी हैं, खासतौर पर उनके जिन्होंने नए रास्ते तैयार किये या राष्ट्रीय जीवन को नए आयाम दिये । लेकिन अजीब बात है कि हर उन्नत और समृद्ध राष्ट्रपरक राज्य में ही कुछ ऐसी बात हुई, कि विचारों और संगठनों, और आचरण के तोर तरीकों, की एक संपूर्ण पद्धति ही ऐसी तैयार हो गई जिसे करीब-करीब सभी नागरिक आंख मूंद कर मानने लग गए, भले ही उसकी कितनी भी कीमत क्यों न चुकानी पड़े । मैं इस बात से इंकार नहीं करता कि, कम-से-कम लोकतंत्र में, मतभेद रखने का अधिकार सिद्धांत रूप में स्वीकार किया जाता है, और कभी-कभी व्यवहार में भी । लेकिन अधिकांश व्यक्तियों के लिये उसका उपयोग करना कठिन होता है क्योंकि इनामों और सजाओं की सारी जटिल व्यवस्था, बड़े-बड़े संगठनों की शक्ति, सामूहिक प्रचार के जबर्दस्त साधन उलटी दिशा में ही काम करने मे जुटे रहते हैं । और मुखालफत में जो ताकतें काम करती हैं उनके विरुद्ध सफलता के साथ अपने को टिकाए रखने का बौद्धिक और नैतिक साहस किसी साधारण व्यक्ति के अंदर हम अक्सर नहीं पाते ।

''फिर भी हमें याद रखना होगा कि यह व्यक्ति ब्रह्मांड के अंदर एक अणुमात्र नहीं है । वह मानव जाति का ही प्रतीक है-उसकी भावी आशाओं और सपनों और आकांक्षाओं का प्रतीक । उसकी खातिर हमें, आज नहीं बल्कि हमेशा, उस मूल्य का प्रखर पुनर्मूल्यांकन करने के लिए तैयार रहना होगा जिसे उस व्यवस्था में, जिसके अंदर कि वह रहता है, मूर्त रूप मिला हुआ है । किसी भी बनी-बनाई स्थिति को सिर्फ इसलिये स्वीकार करते जाना, कि वही स्थिति चली आ रही है और विचारहीन या भोलेभाले बहुमत द्वारा स्वीकार की जा रही है, मनुष्य की बौद्धिक और नैतिक ईमानदारी की दृष्टि से मूर्खतापूर्ण भी है और अशोभनीय भी. . .

''राष्ट्रपरक राज्य की जब रचना हो रही थी और नयी आर्थिक व्यवस्था कायम की जा रही थी, तब जो कुछ भी उसके सीमित उद्देश्यों की परिधि के अंदर अपनी अदम्य जीवनी शक्ति का सबूत देता नजर आ रहा था उसकी जगह पर, उस जमाने के विचारकों ने, कोई अपनी चीज नहीं ला रखी थी ; शायद वैसा कर सकना उनके लिये मुमकिन भी नहीं था । उनमें से कुछ तो उस राष्ट्रपरक राज्य और उस आर्थिक व्यवस्था के अंतर्भूत मूल्य में आस्था रखते हुए उन्हें आदर्श के रूप में ही मान बैठे थे, और थोड़े से ही लोग थे जिन्होंने, उसमें जो भद्दा और बुरा नजर आया उसके खिलाफ, नैतिक या सौंदर्यबोध की दृष्टि से अपना विरोध प्रकट किया । इतिहासकारों ने पीछे की ओर गर्वपूर्वक नजर डालने पर अपने

राष्ट्रपरक राज्यों का गरीबी, अज्ञान और बीमारी के बीच से आविर्भाव होते देखा, रूढ़िवाद और अस्तव्यस्तता की तत्कालीन स्थिति के बीच से रास्ता बना कर शक्ति और प्रतिष्ठा की ओर बढ़ते। उन्होंने अंधदेशभक्ति और राष्ट्रवादी श्रेष्ठता के कितने ही ऐसे सीधे सादे, और कभी-कभी तो अनिष्टकर भी, रागद्वेषों और ऐसी मनोवृत्तियों को बढ़ावा दिया जिनकी कि राष्ट्रपरक राज्य को अपनी नींव मजबूत करने के लिये जरूरत थी, और उसके आकांक्षित ध्येयों की परिधि के अंदर, चाहे वे चरितार्थ हुए हों या न हुए हों, लोगों के स्वप्नों का तालमेल बिठाया। यह बात उन्हें सूझी तक नहीं कि न केवल अपनी आभ्यंतरिक अर्थनीति के, बल्कि उससे भी ज्यादा, स्वस्थ अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के विकास के मामलों में वे अपने लिये कितनी ही नई और उलझन में डालने वाली समस्याएं पैदा कर रहे हैं।

''इस अपेक्षाकृत नए राजनीतिक और आर्थिक ढांचे के अंदर व्यक्ति आज अपने को किस जगह खड़ा पाता है ? इस नई सभ्यता का जब हम मूल्यांकन करने बैठते हैं तो देखते कि कुछ बातों में जहां उसे फायदा हुआ है, वहां दूसरी कितनी ही बातों में उसे भारी नुकसान पहुंचा है, और शायद सबसे बड़ा नुकसान हुआ है उसके नैतिक रूप का लुप्त हो जाना। हम यह विश्वास करने लग गए हैं कि यह व्यवस्था जिस रूप में कायम है उसके द्वारा निर्धारित वैज्ञानिक और शिल्पशास्त्रीय प्रगति के ढांचे को छोड़ सकना या बदलना हमारे लिये संभव ही नहीं है, भले ही उसके फलस्वरूप शांति और अंतर्राष्ट्रीय मेलजोल असंभव हो जाए या मानव जाति का ध्वंस करने वाले ज्यादा से ज्यादा शैतानी किस्म के उपकरण तैयार हों। शारीरिक विध्वंस का खतरा अगर बचता भी दिखाई दे या बिलकुल ही न रहे—हालांकि मैं ऐसा नहीं मानता—फिर भी, मानव व्यक्तित्व के और मनुष्य के सांस्कृतिक विरासत के बढ़िया फलों के विनाश के दूसरे भी तरीके हैं ही, जो अपने हथियार पैने करने में लगे हुए हैं। हमारी जिंदगी को हमारी अर्थ-व्यवस्था, हमारी शिल्पविधि, हमारा संगठन चला रहे हैं; अगर और कहीं नहीं, तो उन्नत देशों में तो हम अपने शिल्पशास्त्र के ऐसे प्रचंड दानव की जकड़ में आ गए हैं जो अपने सर्जक को ही खा जाएं। व्यक्तित्व को कांटछांट कर एक स्तर पर लाने की एक अविच्छिन्न प्रक्रिया चालू है, जिंदगी के कितनी ही महत्त्वपूर्ण हिस्सों में बाकी लोगों जैसे ही बन जाने के लिये हर व्यक्ति पर पड़ने वाला एक ऐसा दबाव है जिससे बच सकना करीब-करीब नामुमकिन ही है। हमें हर किसी की तरह करना होगा, वैसा ही सोचना होगा, वैसा ही महसूस करना होगा; जिस चीज की तारीफ करने के लिये कहा जायगा उसकी तारीफ करनी ही होगी। विज्ञापनबाजी के एक सबसे ज्यादा कुशल और शक्तिशाली तरीके के मोहजाल में हम बुरी तरह फंसते जा रहे हैं। सुख और आनंद की व्याख्या करने में हममें से प्रत्येक को, आंख मूंद कर झुंड के ही पीछे चलना होगा और उनका सौदा करने वाले पेशेवर लोग भद्दी और अपरिष्कृत रुचियों को संतुष्ट करने के लिये होशियारी के साथ मन बहलाव की उपयुक्त सामग्री तैयार करने में लगे हैं। औसत व्यक्ति का न स्व रह गया है, न कोई भीतरी पहचान, ऐसा कुछ नहीं जिसे अनूठा कहा जा सके। मनुष्य अब रहस्य नहीं रह गया; अब उसे न सिर्फ जाना जा सकता है बल्कि

मापा भी, और चतुर लोग उन्हें चला भी सकते हैं, या चतुर यंत्र भी, जो भी आखिर तो उसी की ईजाद हैं। हो सकता है कि मेरी इस बात में कुछ अतिरंजना हो, लेकिन इसमें मुझे शक नहीं कि हमारे अधिकांश भाई-बहनों के बारे यह बात सही है। मगर ईमानदारी की बात यह है कि इसके लिये हम उन्हें दोष नहीं दे सकते और न जिम्मेदार ही ठहरा सकते हैं, क्योंकि उनके लिये जो परिवेश गढ़ा गया है उनके नतीजे इनके सिवा और क्या हो सकते हैं।

"परंपरागत रूप में हमारी जो सबसे ऊंचे किस्म की रचनाएं हैं उनमें से कुछ पर जरा नजर तो डालिये। उनकी समसामयिक अभिव्यक्तियों का कितने ही मामलों में हम किस प्रकार का उपयोग होते देख रहे हैं? कला और साहित्य ने भी अधिकाधिक उग्रतापूर्वक मनुष्य का 'यथार्थवादी' मूल्यांकन करके व्यक्ति को विघटित करने की इस प्रक्रिया में हिस्सा लिया है। किसी जमाने में यह माना जाता था कि ईश्वर ने अपने ही अनुरूप मनुष्य की आकृति गढ़ी थी। अब उसी मानव आकृति को कला के नाम पर विकृत, विरूपित, विभाजित करने के बाद उसके अलग-अलग हिस्सों को फिर से जोड़ कर एक वीभत्स निरर्थकता की शक्ल में पेश किया जा सकता है। साहित्य अपने माध्यम का इस्तेमाल व्यक्ति पर यह छाप डालने के लिये कर रहा है कि अंदर से वह खोखला है, और यह कि उसके युग-युग से संचित सभी स्वप्न और आकांक्षाएं व्यर्थ हैं, बल्कि उनकी कोई अंतर्भूत प्रामाणिकता है ही नहीं। और चूंकि सबसे ज्यादा और नया 'फैशन' यही है और जो सबसे ज्यादा नया है वही सबसे अच्छा माना जाता है, इसलिये इसे फौरन मंजूर कर लिया जाता है। उसे चेतावनी दी जाती है कि अपनी जड़ों को वह अपनी शारीरिक सत्ता से और सतही तौर पर दुनिया जैसी दिखाई देती है उससे, गहरी न ले जाए। हमें बताया जाता है कि प्रगति की बदौलत कला और साहित्य जनता के ज्यादा करीब पहुंचे हैं, और किताबों के उत्पादन की तो कोई सीमा ही नहीं है। लेकिन परिमाण की बाढ़ में गुण डूब जा सकता है और अधिकांश चीजें 'इंस्टैंट (तात्कालिक) कॉफी' की तरह जल्द से तैयार हो जाना चाहती हैं। व्यक्ति ने सचमुच ही इस नए जगत और नई सभ्यता को रचने के लिये बहुत बड़ी कीमत चुकाई है।

"व्यक्ति का यह विघटन अगर जारी रहा, तो हम किस भविष्य की आशा कर सकते हैं? इस रास्ते के अंतिम छोर से हम पर जो भारी विपत्ति आने वाली है उसका इशारा हमें एकदलवाद की शक्तियों के उदय में मिल ही चुका है। व्यक्ति ने अगर अपने को किसी समूह की एक गुमनाम इकाई से कुछ ज्यादा समझने की क्षमता ही खो दी और अगर उसे किसी अधिक मानवतापूर्ण और अधिक सभ्य सामाजिक व्यवस्था की ओर से इस बात के लिए प्रशिक्षित और तैयार नहीं किया गया कि अपनी ही पैदा की हुई शक्तियों के खिलाफ, और मेरी राय में तो ऐतिहासिक शक्तियों के भी खिलाफ, जंग छेड़ने की जिम्मेदारी वह अपने कंधों पर ले सके, तो क्या लोकतंत्र सुरक्षित रह पाएगा?

"शिक्षाविदों को ही इस सवाल का जवाब देना है, उन्हें ही यह तय करना है कि वे

नेतृत्व ग्रहण करेंगे या बाहरी शक्तियों के दबाव में पड़कर जो कुछ भी होता चला जायगा उसी के पुंछल्ले बने रहेंगे। हम जानते हैं कि मौजूदा हालात में ही हमें शिक्षा देनी है, लेकिन यह भी शिक्षा देने वाले के ही काम का हिस्सा है कि जरूरत पड़ने पर इन हालात को बदले और भविष्य को पहले से देख सके। मौजूदा हालात को पैदा करने और कायम रखने वाली शक्तियों को ही अगर उचित मानकर उसके पीछे चलना है, तो इसका कारण सिर्फ यह नहीं होना चाहिए कि आज उन्हीं का बोलबाला है। अपने नाम को सार्थक करने वाली किसी भी शिक्षा की अवधारणा हम किसी चीज के तौर पर नहीं कर सकते जो कहीं बाहर है, जिसका मनुष्य की अंतरतम सत्ता और उसके विकास क साथ कोई संबंध ही न हो। इसमें संदेह नहीं कि हमें उसे दुनिया के अनेकों कामों को कर सकने योग्य बनाना चाहिए, लेकिन हमारी इस क्रिया की जड़ें उन नैतिक और आचारशास्त्रीय मूल्यों की साधना में होनी चाहिए जो उन्हें सार्थक बनाती हैं। दूसरे शब्दों में, शिक्षा का काम होना चाहिए मूल्यों की खोज के लिए प्रोत्साहन देना, अधिक-से-अधिक विपरीत स्थितियों में भी साहसपूर्वक उनका दावा पेश कर सकना और सभी तरह के कामों में जहां तक संभव हो उन्हें अभिव्यक्ति देना। और ये मूल्य ऐसे होने चाहिए जिनकी अपनी अंतर्भूत प्रामाणिकता हो, और जो सभी के लिए प्रामाणिक हों। शिक्षा जब अपने इस कार्य को पूरा करती है तभी मनुष्य अपने जीवन को, अपनी संस्थाओं को, और समूचे राज्य को कोई नैतिक ध्येय दे सकता है।

"इस संदर्भ में, अमेरिकी विश्वविद्यालयों की जिम्मेदारी सचमुच ही बहुत बड़ी है। उन्हीं का मस्तक आज, अपने राष्ट्रपरक राज्य की ही तरह, सारी दुनिया में सबसे ऊंचा है और दूसरे देशों में शिक्षक अक्सर उन्हीं से नेतृत्व की अपेक्षा रखते हैं। जहां उनकी अच्छाइयों का अनुकरण किये जाने की भारी संभावना है, वहां उनकी गलतियों के भी कई गुना बढ़ जाने की। अगर इस भ्रम में कि अनुक्रिया जागरूकता का एक लक्षण है, वे मौजूदा सामाजिक व्यवस्था की हर मांग को, बिना उसके बौद्धिक, सामाजिक या नैतिक मूल्य पर स्वतंत्र और वस्तुपरक रूप से विचार किये, पूरा करने की कोशिश करते हैं, तो वे शिक्षा को चालू व्यवस्था की चेरी बना देंगे। मैं तो कहना चाहूंगा कि यह बात ऐसी है जो हमें शांति प्रदान करती है। लेकिन, दूसरी ओर, शिक्षा संबंधी उनकी धारणा अगर ऐसी है कि उन आदर्शों की सृष्टि के लिए जिनका स्वरूप नैतिक व्यवस्था के अनुरूप है, वह मजबूती से जमी हुई एक आत्मपरक संस्कृति को वस्तुपरक संस्कृति के संपर्क में ला सके, तो व्यक्ति के अंदर वे नए प्राण फूंक देंगे और तब लोकतंत्र सच्चे आत्मास्वातंत्र्य का प्रतिनिधित्व करेगा।

". . .मुझे पता है कि मैंने किसी हद तक एक निराशापूर्ण दृष्टिकोण सामने रखा है। लेकिन मैं आपको यकीन दिलाता हूं कि रचनात्मक राजनीतिक प्रयास और विज्ञान के, तथा विज्ञान के उपयोग द्वारा जो कुछ हासिल किया गया है उसके, महत्त्व को घटाने या उसकी उपेक्षा करने की बात मेरे दिमाग से कोसों दूर है। जो कुछ हासिल किया गया है वह इतना शानदार और सुस्पष्ट है कि उससे इंकार किया ही नहीं जा सकता। बात सिर्फ

यह है, कि दांव पर इतना ज्यादा-कुछ चढ़ा हुआ है कि हम इतने पर ही संतोष करके नहीं बैठ सकते, तस्वीर के सिर्फ खूबसूरत पहलू को ही देखकर चैन की सांस नहीं ले सकते। एक-विश्व के विचार ने व्यक्ति और राज्य दोनों के ही लिए राजनीतिक और मनोविज्ञान क्रियाकलाप के क्षेत्र का बेहद विस्तार कर दिया है, और इस विचार को विकसित करने की दिशा में जो भी अगले कदम उठाए जाएं वे बड़ी जिम्मेदारी के साथ उठाए जाएं। हम सभी को अपने सामने समाज के भावी ढांचे की तस्वीर रखनी चाहिए, राज्य के संपूर्ण आभ्यंतरिक संगठन की, और राज्यों के पारस्परिक संबंध की, उनकी अपनी खातिर नहीं बल्कि इसलिए कि वे मानव, सांस्कृतिक और नैतिक मूल्यों को मूर्त रूप देते हैं। ये मूल्य स्वयं भी उसी सीमा तक महत्त्व रखेंगे जिस सीमा तक वे व्यक्ति के अंतःकरण और उसके आध्यात्मिक अनुभव का प्रकाश करेंगे और फिर भी जिनकी सार्वभौम प्रामाणिकता होगी। यह एक चुनौती है, न सिर्फ व्यक्ति को बल्कि पूरे मानव समाज को, न केवल शिक्षा को बल्कि उन सभी सर्जनात्मक प्रभावों को, जो उससे लाभ उठाते हैं और उसके उद्देश्यों को रूप देते हैं।

''राष्ट्रपरक राज्य के, और प्रसंगानुसार उसके अंतर्गत चालू आर्थिक प्रणाली के भी, कुछ पहलुओं पर आपका ध्यान खींचना मैंने अपना कर्त्तव्य समझा। व्यक्ति की स्थिति के बारे में भी मैंने इसलिए चर्चा की कि मैं एक ऐसे प्रश्न को लेकर चिंतित हूं जो न सिर्फ हमारे ही दोनों देशों के लिए एक समान है बल्कि सभी राष्ट्रों के लिए। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारतीय स्वाधीनता के पक्ष में प्रत्यक्ष दबाव डाला था और भारत को स्वाधीनता मिल जाने के बाद भी उसने कई शक्लों में उसे मदद देकर भारतीय लोकतंत्र की ताकत बढ़ाई है। भारत के कल्याण के लिए उसे कितनी ज्यादा फिक्र है यह इसी का सबूत है। उधर भारतीय भी अपने को अमेरिकियों के साथ विचारों के सादृश्य में एक साथ पाते हैं, क्योंकि लोकतंत्रात्मक सिद्धांतों और स्वाधीनता के मूल्यों के ही नहीं, शांति और न्याय की सहयोगात्मक खोज के प्रति भी, उनकी निष्ठा एक समान है। लेकिन यह भी जानते रहना अच्छा है कि कभी-कभी गलतफहमियां या मतभेद भी पैदा होते रहते हैं। अमेरिकियों को कभी-कभी इस बात पर नाराजगी होती है कि उनके उद्देश्यों को, चाहे वे कितने ही उदार क्यों न हों, संदेह की दृष्टि से देखा जाता है, हालांकि मुझे यह कबूल करना ही होगा कि दुनिया के सभी मुल्कों में उद्देश्यों के बीच मिलावट आ ही जाती है। दूसरी ओर भारतीयों के अंदर भी आधिपत्य का डर समाया हुआ है, जो किसी ऐसी जाति के लिए स्वाभाविक ही है जिसने उपनिवेशवादी शासन को अपने कंधों पर से उतार फेंका है, और जब कभी किसी बड़प्पन का इजहार उन्हें दिखाई देता है, चाहे वह सही हो या सिर्फ काल्पनिक ही, तब भी वे बुरा मान जाते हैं। हम दोनों के बीच लोकतंत्र की कड़ी जरूर है, लेकिन अमेरिकी उद्योग और रुपये की ताकत इतनी जबर्दस्त है कि यह समझ सकना कुछ मुश्किल नहीं होना चाहिए कि उदारता का भी हाथ बढ़ाए जाने पर भारत डर जाता है। गलतफहमी की वजहों को अगर हम दूर करना चाहते हैं तो हमें बातचीत को

राजनीतिक, आर्थिक, यहां तक कि शैक्षिक स्तर से भी ऊपर उठाना होगा। बड़ी-बड़ी उपलब्धियों को अगर हमेशा विकास की आशाओं के ही मुकाबले रखा जाता रहेगा तो बराबरी की भावना पैदा नहीं हो सकती। जो बात हमें एक-दूसरे के नजदीक ला सकती है, और फिर एक साथ रख सकती है, वह जीवन के मानदंड के उतने ही ऊंचे हो जाने की नहीं, बल्कि अपने प्रति सचाई बरतने, अपने से भिन्न जीवन पद्धतियों के प्रति सहिष्णुता रखने, और पुरुषों और स्त्रियों के रूप में, बराबरी की सहज भावना पैदा करने के मामलों में उतना ही ऊंचा मानदंड रखने की है। तब हम अपनी विनम्रता में, और अपने जीवन और कार्यों को पूर्णता की ओर ले जाने के एक आभ्यंतरिक प्रयास में, एक साथ मिलकर ईश्वर के और अपने अंतःकरण के सामने खड़े हो सकते हैं. . ."

सारी दुनिया में, और साथ ही भारत में भी, समसामयिक आंदोलनों और स्थितियों के कारण ऐसे व्यक्ति सामने आए हैं जिन्होंने सुस्पष्ट रूप से अपने-अपने राष्ट्रपरक राज्यों को एक नैतिक विशष्टता दिलाने के प्रयास किये। हमारे यहां ऐसे व्यक्तियों के सबसे उत्कृष्ट उदाहरण है महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरू, लेकिन उनकी सूक्ष्मदृष्टि और गुणों का बार-बार जिक्र करते रहने से यह छाप पड़ सकती है कि उसके उदाहरण सिर्फ वे ही थे। और उदाहरण के रूप में उन्हें विश्वसनीयता प्रदान करने के लिए हमें ऐसे व्यक्तियों की ओर भी नजर डालनी है जो औरों से ज्यादा ऊंचे तो नहीं थे लेकिन जिन्होंने अपने प्रभाव का विस्तार ऐसे स्तरों पर किया जिन्हें और भी बड़े प्रयासों के लिए आगे ले जाने वाली सीढ़ियों के रूप में देखा जा सकता है। डा. ज़ाकिर हुसैन ने यूसुफ़ मेहरअली की जो तस्वीर खींची थी उससे हमारे अंदर यह भावना पैदा होती है कि जिस व्यक्तित्व की बात वह सिद्धांत के तौर पर माने हुए थे वह उन्हें दिखाई दे गया था।

"यूसुफ़ मेहरअली का वर्णन एक भारतीय, सच्चे भारतीय, के रूप में करने भर से मुझे खुशी और तृप्ति हो जाती, लेकिन मुझे डर है कि तब बहुत कम लोग ही यह समझ पाते कि मतलब दरअसल है क्या। यह तो मैं कह ही नहीं सकता कि वह हिंदू थे, क्योंकि वह एक मुस्लिम घराने में पैदा हुए थे। मैं उन्हें मुसलमान भी नहीं कह सकता, क्योंकि वह खुद मजहबी भेदभावों को मानने से इंकार करते थे, और इसलिए उन्हें उन पर थोपना ठीक नहीं। लेकिन परंपरा और संस्कृति ने अच्छे मुसलमान की एक तस्वीर खींच रखी है, और जैसे ही हम किसी अच्छे मुसलमान को देखते हैं, उस तस्वीर में जान पड़ जाती है। मेरी कलम में वह ताकत नहीं कि उस तस्वीर को उनके सारे चटख रंगों के साथ, जिनमें से कोई भी बेमेल नहीं है, फिर से खींच सकूं। मैं तो सिर्फ उनका एक मोटा खाका भर दे सकता हूं।

"पुरानी परिभाषा के अनुसार, अच्छा मुसलमान वह है जो नदी जैसा उदार हो, सूरज जैसा परोपकारी हो, और धरती जैसा मेहमान नवाज। वह दुखियों की पुकार सुनता है, असहाय लोगों की जरूरतें पूरी करता है, आम लोगों के दुखदर्द ही उसके दुखदर्द हैं और आम लोगों के कामकाज ही उसके कामकाज हैं; वह उन्हीं के बीच रहता है, उनके

संगसाथ की वजह से जो सख्तियां झेलने पड़ती हैं उन सबकों झेलता है, और जो उसे नुकसान पहुंचाते हैं उनके साथ वह उलटे उदारता और आत्मत्याग का रास्ता अख्तयार करता है। अच्छा मुसलमान दोस्तियां करता है, क्योंकि दोस्ती के अंदर ही मनुष्यों और ईश्वर के बीच का सही संबंध प्रकट होता है, और अच्छा दोस्त बनने के लिए वह अपने अंदर उन सामाजिक गुणों का विकास करता है जो साथ वालों को सबसे ज्यादा पसंद हैं–मनोहर आचरण, बातचीत, तर्कवितर्क और कायल कर सकने की योग्यता, साहित्य और कला के रसास्वादन में नहीं, उन बातों में भी हिस्सा लेना जिनसे मानव जाति में गहरी दिलचस्पी प्रकट हो और धार्मिक लोगों के प्रति श्रद्धाभक्ति । बराबरी का व्यवहार उसके लिए कोई धर्मादेश की तरह नहीं होता जिसका मानना जरूरी हो, बल्कि एक सहज क्रिया जैसा होता है जो उसका निजी स्वभाव बन जाता है और जिसे वह दबा नहीं सकता । अच्छा मुसलमान सिर्फ खुदा को ही प्यार करता है, लेकिन इस तरह, कि जिन लोगों के बीच वह रहता है उन्हे यह महसूस करा दिया जाता है कि वह सिर्फ उन्ही को प्यार करता है ।

''क्या यह गुण ऐसा चौखटा पेश करते है जिसके बीच यूसुफ मेहरअली की तस्वीर को जड़ दिया जा सके ? अगर हां, तो वह एक अच्छे मुसलमान थे, लेकिन अगर हम उन्हें एक ऐसे इंसान के तौर पर याद करें जो हमें प्यार करता था और जिसे हम प्यार करते थे, तो भी हम उनके साथ कोई अन्याय नहीं करेंगे ।''[1]

इसका बहुत-सा हिस्सा तो खुद डा. ज़ाकिर हुसैन पर ही लागू होता है । दोस्ती का न सिर्फ उनका आदर्श ऊंचा था बल्कि दोस्तों के साथ उनका ऐसा ही रिश्ता था जिसे निभाने में वह अपनी बुद्धि का ही नहीं, अपनी सहज शिष्टता और उदारता का भी प्रकाश करते थे । ऐसे भी दोस्त थे जिन्हे यह शिकायत थी कि उन तक उनकी पहुंच ही नहीं हो पाती, और जब उन्हें मिलने का कोई मौका मिल जाता था तो वे देखते थे कि वह बहुत शर्मिंदा हैं । लेकिन 'प्रोटोकोल' (नयाचार) की जरूरतों के अलावा भी, वह यह जरूर महसूस करते होंगे कि जिस ओहदे पर वह थे वहां रहते हुए अपने मुलाकातियों को चुनने की पूरी छूट वह नहीं ले सकते । जो भी उनसे मिलना चाहें उन सबकी पहुंच उन तक होनी चाहिए, और जहां तक मुमकिन हो, वह अपनी पसंद या नापसंद का खयाल न करें । मुलाकाती आमतौर पर कोई दरखास्त लेकर आते थे, या कोई शिकायत, जिसे वे उन तक पहुंचा देना चाहते थे । इनमें प्रमुख होते थे राजनीतिज्ञ या जिम्मेदारी संभालने वाले ऐसे बड़े लोग जो अपनी महत्त्वाकांक्षाओं के कुंठित होने पर उनसे बात करके कुछ सांत्वना पाना चाहते थे । कोई दूसरा व्यक्ति, जो शिष्टाचार, उदारता और धीरज की अपनी शक्ति की अंतिम सीमा तक परीक्षा होने देने के लिए तैयार न होता, अपनी रक्षा के रास्ते निकाल ले सकता था; लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन के लिए यह चुनौती के तौर पर थी, और वह हार

[1]ए. जी. नूरानी लिखित प्रेजिडेंट ज़ाकिर हुसैन–ए क्वेस्ट फ़ॉर एक्सीलैंस (राष्ट्रपति ज़ाकिर हुसैन–उत्कृष्टता की खोज); पापुलर प्रकाशन, बंबई 1967, पृ. 88-89 ।

मानने को तैयार नहीं थे । कभी-कभी जब मेरी उनसे मुलाकात होती, वह कहते, कि उनकी मुस्कुराहट उनके चेहरे की स्थायी मुद्रा बन गई है, उसी का एक हिस्सा. या यह कि उन्हें इस हद तक बराबर ही खीसें निकाले रहना पड़ता है कि उनके जबड़े दुख जाते हैं। कभी-कभी वह इतने मायूस हो जाते थे कि कहने लगते उनका कोई दोस्त रहा ही नहीं।

मगर शिष्टाचार संबंधी जो जिम्मदारियां उन्होने खुद अपने ऊपर थोप ली थीं उनके साथ ही साथ वह ऐसे व्यक्तियों की भी तलाश में रहते थे, और उन्हें खोज भी निकालते थे, जिनके शौक उन्हीं के जैसे होते थे, या जिनके अंदर भी देश के जीवन और उसकी संस्कृति को समृद्ध करने की प्रतिभा और ऊंची आकांक्षा होती थी । कितने ही लेखक, विद्वान, कवि चित्रकार, संगीतज्ञ और बागबानी के शौकीन न सिर्फ उनकी मेहरबानी की बातें याद करेंगे, बल्कि उस प्रोत्साहन को भी जो उन्हें इसलिए मिला कि उनके काम और उनकी योजनाओं में उन्होंने गहरी व्यक्तिगत दिलचस्पी ली । सृजनात्मक क्षमता वाले लोगों को महज तारीफ से ज्यादा इस चीज की जरूरत होती है; इससे उन्हें सौहार्द का एक सुख मिलता है जिसकी जरूरत उन्हें सबसे ज्यादा रहती है और जिससे उनका आत्मविश्वास बढ़ता है । जो लोग इस तरह के सम्मान पाने के योग्य थे उनके अलावा वे भी लोग थे जो इसके लायक अभी नहीं बन पाए थे । दिल्ली कालेज के एक अध्यापक के बारे मे मुझे मालूम है जिनका संपर्क डा. ज़ाकिर हुसैन से इसलिए हो पाया था कि वनस्पति विज्ञान के अनुसंधान में उनकी गहरी दिलचस्पी थी; और उनके साथ कुछ ही मिनटों की बातचीत से किसी पर यह छाप पड़े बिना नहीं रह सकती थी कि वनस्पति विज्ञान संबंधी अनुसंधान में डा. ज़ाकिर हुसैन की दिलचस्पी खासतौर से है । और, अंत में आते थे वे लोग—और उनका महत्त्व कुछ कम नहीं था—जिनसे डा. ज़ाकिर हुसैन की पिछले जमाने की जान पहचान थी मगर जिनकी हैसियत इतनी मामूली थी कि वे खुद-ब-खुद भारत के उपराष्ट्रपति से मुलाकात करने के लिए नहीं आ सकते थे । हर सभा, सम्मेलन या समारोहों में ऐसे लोग होते थे, जो एक किनारे पर कहीं खड़े दूसरे लोगों को उनसे मिलते और बातें करते देखते रहते थे । न जाने कैसे, डा. ज़ाकिर हुसैन को उनकी मौजूदगी का पता चल जाता था, और जो लोग उनसे मिलने के लिए आगे बढ़ आते थे उनके साथ अपनी फर्ज-अदायगी करने के बाद वह पीछे की ओर अपनी नजर डालकर देखते, और ज्यों ही किसी ऐसे शख्स पर नजर पड़ जाती जिसे उपराष्ट्रपति बनने से पहले वह जानते थे, तो वह उसकी ओर बढ़ जाते और दोस्ताना तरीके से उसका हाथ अपने हाथों में दबा लेते, या उसे गले भी लगा लेते ।

जब वह राष्ट्रपति थे, उस समय की एक प्रकाशित घटना मिसाल के तौर पर है । "मुझे याद है कि 9 मार्च 1969 को जब वह मेरे बगीचे में पधारे थे तो मेरे माली पर उनकी नजर नहीं पड़ पाई थी । वह पहले से उसे जानते थे; वह यों तो उस दिन छुट्टी पर था लेकिन राष्ट्रपति जब जाने लगे तभी वह आ पहुंचा था । उन्होंने मुझसे दर्याफ्त किया कि मेरा 'आदमी' कहां है । मैंने उसी दम माली को आवाज दी, जो उस जगह जमा हो जाने

वाली छोटी-सी भीड़ के बीच खड़ा था, और भारत के राष्ट्रपति उससे मिलने और हाथ मिलाने के लिए खुद ही आगे बढ़ गए।''[1]

लेकिन अपने सारे सामाजिक गुणों के बावजूद, डा. ज़ाकिर हुसैन बड़े खरे आलोचक भी थे। मैं नहीं जानता कि इस मामले में मुझे जो 'खास सम्मान' मिला हुआ था वह और कितनों को नसीब था, लेकिन मेरी उनसे जितनी भी अंतरंग मुलाकातें हुई उनमें से अधिकांश में वह अपनी सारी जमी हुई कटुता मेरे सामने उगल डालते थे। उन्हें खासतौर से यह बात तकलीफ देती थी कि जो तमाम लोग अपनी पूछ होते देखना, या तरक्की या काम करने के बेहतर मौके चाहते है, उनमें शायद ही कोई यह महसूस करने वाला हो कि किसी-न-किसी तरह की आत्म परीक्षा भी जरूरी है, और यह भी, कि उन्हें जिन बातों से वंचित किया गया है या जो सहूलियतें उन्हें नहीं मिली है उनके बारे में अपनी शिकायतों के फिहरिस्त अगर वे बनाते हैं, तो उन्हें साथ ही इस बात पर भी गौर करना चाहिए कि अपने लिए जो कुछ चाहते हैं उसकी योग्यता या दक्षता के नाते भी उनके क्या अधिकार होते हैं।[2] बहुतेरे जरूर ऐसे भी थे जिनके द्वारा किये गए कामों के, और अगले काम की जिनकी योजनाओं के, वह प्रशंसक थे, बहुतों पर उनका बड़ा स्नेह था, लेकिन ऐसे लोगों की तो बाढ़-सी आई हुई थी जो उनके पद से फायदा उठाना चाहते थे या इस संभावना से भी कि वह उनकी मदद कर सकते हैं। अपने संपर्क में आने वालों को वह तीन वर्गों में बांटने के लिए मजबूर हो गए थे: जो अपने लिए उनसे कुछ कराना चाहते थे, जो कुछ भी नहीं चाहते थे, और जो-हालांकि इनकी संख्या बहुत कम थी—उन्हीं बातों में दिलचस्पी रखते थे जिनमे की उनकी दिलचस्पी थी और उनके दिमाग उनके लिए ही कुछ कर सकने की बात सोचते रहते थे। इस अंतिम वर्ग के प्रति वह बहुत ही कृतज्ञ थे, सिर्फ इसलिए नहीं कि उन्होंने उनके लिए क्या किया, बल्कि मानव प्रकृति में आस्था बनाये रखने में उनकी मदद करने के लिए भी।

---

[1]डा. ज़ाकिर हुसैन स्मारक समिति, अखिल भारतीय ब्वाय स्काउट्स एसोसियेशन, नयी दिल्ली, द्वारा प्रकाशित 'ज़ाकिर हुसैन, दि मैन–ए गाइडबुक फ़ॉर यूथ (मानव ज़ाकिर हुसैन–नवयुवकों के लिए एक मार्गदर्शन पुस्तिका) में वी. पी. अग्निहोत्री लिखित एक लेख।

[2]इस सिलसिले मे मुझे प्रवेशिका परीक्षा पास एक ऐसे नौजवान के बारे में बताई गई डा. ज़ाकिर हुसैन की बात याद आती है जिसकी आत्मोन्नति की आकांक्षा ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था। वह नौजवान रोजगार की तलाश में आया था और प्रधान माली के साथ उसे काम पर लगा लिया गया था। सबेरे जब डा. ज़ाकिर हुसैन बगीचे में घूमने निकले तो वह भी मालियो के साथ रहने लगा। एक बार डा. ज़ाकिर हुसैन ने प्रधान माली को यह हिदायत दी कि तोड़ कर लाए जाने वाले गुलाबों के साथ वह उनके नामों का पुर्जा नत्थी कर दिया करे। उस नौजवान ने यह सुन लिया। उसने गुलाबो के नाम याद कर डाले, फिर उन्हें ठीक-ठीक लिखने का अभ्यास किया, और एक रोज सुबह डा. ज़ाकिर हुसैन यह देख चकित रह गए कि हर गुलाब के साथ उसके नाम का पुर्जा नत्थी था। उन्होंने उन पुर्जों को पढ़ा, और पाया कि सभी नामों के हिज्जे सही थे।

कितने ही मौकों पर मैंने डा. ज़ाकिर हुसैन और प्रधानमंत्री नेहरू को एक साथ देखा। प्रधानमंत्री बहुत ही सहज स्वाभाविक मुद्रा मे दिखाई देते। वह जिस पद पर थे उस पद पर उनका बनाबनाया हक था और जनता बार-बार उस हक की पुष्टि करती आई थी। उन्हें प्रतिष्ठा मिली हुई थी, भले ही जरूरत पड़ने पर उसका इस्तेमाल करना वह कम ही पसंद करते थे। अपने काल के लोगों में उनकी गिनती उनमें थी जो सबसे ज्यादा पढ़ते हैं और सबसे ज्यादा जानकारी रखते हैं; उनकी दिलचस्पी तमाम तरह की बातों में थी, और उनसे भी ज्यादा चीजों के साथ उनकी हमदर्दी रहती थी। उनके चेहरे और उनकी मुस्कान ने लाखों करोड़ों को मोह लिया था। मानो यह तो सोचा ही नहीं जा सकता था कि वह प्रधान मंत्री नहीं बनेंगे और जब तक चाहेंगे तब तक उस पद पर नहीं बने रहेंगे। यों डा. ज़ाकिर हुसैन की भी प्रकृति में कुछ कम रईसी नहीं थी लेकिन वह एक ऐसी संस्था के प्रधान रहे थे जिसे किसी सीमा तक भी मान्यता प्राप्त करने में कितने ही दशक लग गए थे; उपराष्ट्रपति की हैसियत जैसे उनके लिए सर्वथा उपयुक्त थी, मानो वह उसी के लिए पैदा हों। इन दोनों को ही कुछ दूरी से देखने पर मुझे लगता था कि डा. ज़ाकिर हुसैन को प्रधानमंत्री से ज्यादा ऊंचे कद का होना, और नयाचार के हिसाब से उनसे ज्यादा ऊंची हैसियत रखना, जैसे कुछ खलता हो।[1] सार्वजनिक अवसरों पर हर तरह की नई स्थिति के लिए तैयार होना उन्होंने सीख लिया था, और कब उनसे किस तरह की उम्मीद की जाएगी इसके लिए वह हमेशा चौकन्ने बने रहते थे, और उन उम्मीदों से भी बढ़कर दिखाने के लिए व्यग्र रहते थे, अगर वैसा सहज रूप में किया गया ही दिखाई दे। और इसलिए, जब कभी वे दोनों एक ही जगह होते थे, तब डा. ज़ाकिर हुसैन अपने को छोटा ही बनाकर रखने की कोशिश करते थे—और कुछ साल छोटे वह थे भी, उनसे कम तजुर्बेकार—लेकिन अक्लमंदी का, और स्वीकार योग्य, कोई सुझाव देने के लिए हमेशा तैयार, और जब वे दोनों किसी सभा समिति का संचालन कर रहे होते, तो थके प्रधान मंत्री की वह बीच-बीच मे इस तरह मदद करते जाते कि सही फैसले पर बिना ज्यादा वक्त बर्बाद किये पहुंचा जा सके। यह मान लेना तो सही नहीं होगा कि डा. ज़ाकिर हुसैन ने अगर राजनीतिक जीवन में प्रवेश किया होता तो प्रधानमंत्री के साथ हर बात पर उनका पूरा मतैक्य ही होता। लेकिन अपने-अपने पद पर रहते हुए उन दोनों का वह साथ अनूठी ही किस्म का सुस्पष्ट था, और चित्ताकर्षक विषमताओं का एक सुंदर सामंजस्य !

काल ने इस सुंदर सामंजस्य को उसके विभिन्न रूपों में प्रकाश में नहीं आने दिया, क्योंकि 27 मई 1964 को प्रधानमंत्री नेहरू की मृत्यु हो गई। डा. ज़ाकिर हुसैन को

---

[1]एक बार उन्होंने शिकायती लहजे मे मुझे बताया था कि प्रधानमंत्री से मिलना कठिन हो गया है। जब भी वह मुलाकात का वक्त मांगने के लिए फोन करते, यही जवाब मिलता कि प्रधानमंत्री ही उनसे मिलने के लिए तशरीफ लाएंगे। इससे उन्हें बड़ा संकोच होता था, क्योंकि इसका यही मतलब दिखाई पड़ता था मानो वह खुद ही प्रधानमंत्री को अपने यहां आने को कह रहे हों।

कितना गहरा शोक हुआ था उनके उस भाषण से प्रकट हुआ जो संगम में भारत के प्यारे प्रधानमंत्री की भस्म के बहाए जाने पर दिया गया था।

तीन मूर्ति भवन में जवाहरलाल नेहरू की पहली बरसी मनाने के लिए जो सभा हुई थी उसकी अध्यक्षता डा. ज़ाकिर हुसैन ने ही की थी। उससे पहले ही मैं अपने एक सहयोगी मोहम्मद खालिक की एक कविता उनके पास भेज चुका था जिसे जवाहरलाल नेहरू की मौत के सदमे में उन्होंने लिखा था। मैंने यह कविता इसलिए उनके पास भेजी थी कि मुझे अच्छी लगी थी, सच पूछा जाय तो, उस वक्त लिखी ऐसी कविताओं में करीब-करीब सबसे अच्छी। मुझे यह देखकर ताज्जुब ही नहीं एक तरह का गर्व भी हुआ कि अपने भाषण का अंत डा. ज़ाकिर हुसैन ने उसी कविता से किया। इससे मुझे कोई तीस साल पहले का एक मुशायरा याद आ गया, जब कि वह अचानक उठ खड़े हुए थे। शायर खुद वहां मौजूद थे, लेकिन मालूम होता है कि डा. ज़ाकिर हुसैन ने, जिन्होंने उनकी गजल पढ़ सुनाई थी, यह महसूस किया होगा कि अपनी कमजोर और बेसुरी-सी आवाज में वह उसके साथ न्याय नहीं कर पाएंगे। उन्होंने उसे एक ऐसे तीव्र भावावेग के साथ पढ़ा कि उसमें उनकी अपनी आवाज की सारी खूबसूरती और जान आ गई। जिस सुर में और जिस अदा के साथ उन्होने वह पंक्ति पढ़-सुनाई थी वह आज भी मेरे दिमाग में पूरी तरह नक्श है:

'ज़े शौक़े बंदगी परवरदिगार करद:अम पैदा

यानी–

-पूजा करने की अपनी आकांक्षा को पूर्ण करने के लिए ही मैंने ईश्वर की रचना की।

तीस साल बाद भी, जबकि उम्र और बीमारियों की वजह से उनकी आवाज में वह बात नहीं रह गई थी, उनके जोश-खरोश में कोई कमी नहीं दिखाई दी, और कुछ वैसी ही तन्मयता भी जो असगर की गजल पढ़ते वक्त थी।

आखिरी बार मैंने उन्हे सार्वजनिक रूप में कविता पढ़ते तब सुना जब उन्होने एवाने-गालिब की नींव का पत्थर रखा। उन्होंने गालिब की दो लोकप्रिय गजलें पढ़ सुनाई, और उनके पढ़ने के ढंग से यही भाव मन में आया कि सच्चा काव्यप्रेम घिसी-पिटी कविताओं को भी किस तरह नई जिंदगी दे सकता है।

जवाहरलाल नेहरू की मृत्यु के बाद प्रधानमंत्री के रूप मे उनके उत्तराधिकारी का चुनाव, और 1966 में लालबहादुर शास्त्री के उत्तराधिकारी का चुनाव, ऐसी राजनीतिक घटनाएं थीं जिनसे डा. ज़ाकिर हुसैन का प्रत्यक्ष संबंध नहीं था। वह भले ही न जाने सके हों, लेकिन श्रीमती गांधी का प्रधानमंत्री चुना जाना उनके अपने भविष्य के लिए भी निर्णायक सिद्ध हुआ। 1964 में वह अलजीरिया और मोरक्को की, मई-जून 1965 में कुवैत, सऊदी अरब, जौर्डन, तुर्की और यूनान की, और जुलाई 1966 में अफगानिस्तान की सद्भावना-यात्रा पर गए। अपनी अवधि के अंत तक वह चुपचाप 'भारतीय' और 'भारत' की रूप-रचना में लगे रहे-उसके खाके को बराबर ही पहले से ज्यादा उभारते रहे

और उसकी उन्होंने वह तस्वीर खींची जो कहीं अधिक स्पष्ट और निश्चयात्मक थी।

3. भारत के राष्ट्रपति

कोई वजह नहीं कि राष्ट्रपति के चुनाव में संघर्ष न हो, लेकिन जब कोई पार्टी केंद्र में, और राज्यों की भी एक बड़ी संख्या में, बहुमत में हो तो यह संघर्ष सिर्फ नाम के लिए होना चाहिए। 1967 में राष्ट्रपति के चुनाव के लिए जो संघर्ष हुआ उसमें कांग्रेस पार्टी के अंदर ही ऐसे तनाव और मतभेद थे कि कांग्रेस उम्मीदवार के फैसला होने में देर होती गई, और विरोधी दलों ने, जो शायद यों डा. ज़ाकिर हुसैन को ही सबसे ज्यादा सही और अच्छा उम्मीदवार मानते थे, अपना अलग ही उम्मीदवार खड़ा करने का फैसला किया।

कांग्रेस पार्टी ने अपना फैसला करने में जो देर की उसके सही कारण तक न पहुंच कर अगर उसके बारे में उदारतापूर्ण दृष्टि रखी जाय, तो वह यही है कि केंद्र में उसे बहुमत प्राप्त कर लेने का भरोसा नहीं था और साथ ही केंद्र और कुछ राज्यों के बीच पार्टी के अंदर मतभेद भी थे। 26 जनवरी की पूर्वसंध्या को डा. राधाकृष्णन ने जो भाषण दिया था वह इतने तीखे तौर पर और खुल्लमखुल्ला, आलोचनात्मक था कि यह मान लिया गया कि उन्होंने निवृत्त होने का निर्णय कर लिया है, और उन्होंने अपने इस इरादे को छिपाया भी नहीं। लेकिन कांग्रेस के अंदर के एक गुट ने, जो प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी का विरोधी था—किस हद तक और किन तरीकों से, यह तो वही सबसे ज्यादा जानती होंगी—उन्हें फिर से अपने निर्णय पर विचार करने के लिए राजी करने की कोशिश की, और इस गुट की ख्वाहिश यह थी कि अब कोई ऐसा राष्ट्रपति हो जो अपने पद की प्रतिष्ठा का इस्तेमाल अपनी स्थिति को मजबूत करने के लिए करे। यह बात कितनी सच है यह तो पता नहीं, लेकिन बात यह फैलाई गई कि डा. राधाकृष्णन फिर से राष्ट्रपति चुने जाने के लिए राजी हैं, और यह, कि कम-से-कम किसी मुसलमान का चुना जाना तो दक्षिण राज्यों में पसंद नहीं है। डा. ज़ाकिर हुसैन की अपनी स्थिति उस सूचना के द्वारा साफ कर दी गई थी जो अखबारों में छपी थी : दोबारा उपाध्यक्ष पद स्वीकार करने के लिए वह किसी हालत में तैयार नहीं होंगे; राष्ट्रपति पद अगर उन्हें दिया गया तो उसे यह हार्दिक कृतज्ञता के साथ स्वीकार कर लेंगे। तब तक उनके नामांकन का प्रश्न कई हफ्तों से विचाराधीन था, और राजनीतिक दलों के बीच इस सवाल पर जो विचार छिड़ गया था उसने उन लोगों को, जो डा. ज़ाकिर हुसैन के पक्ष में नहीं थे, बेबुनियाद बातों को फैलाने का मौका दे दिया था। आखिर श्रीमती इंदिरा गांधी को सफलता मिल गई और 10 अप्रैल को कांग्रेस संसदीय बोर्ड ने डा. ज़ाकिर हुसैन को अपना उम्मीदवार नामजद कर दिया। 26 अप्रैल को, जबकि चुनाव अभियान पूरे जोरों पर था, डा. ज़ाकिर हुसैन संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए रवाना हो गए और मतदान शुरू होने के तीन दिन पहले लौटे। यों, कहने को, मतदान

राजनीतिक पार्टियों के आधार पर ही हुआ, लेकिन इस बात को मानने के कारण मौजूद हैं कि दरअसल वैसा हुआ नहीं। ऐसा लगता है कि डा. ज़ाकिर हुसैन की जीत किसी पार्टी के उम्मीदवार के नाते नहीं, अपने व्यक्तित्व के बल पर हुई। इस चुनाव का यह पहलू ही शायद उनकी मर्यादा की रक्षा कर सका। एक लाख से ज्यादा वोटों के बहुमत से डा. ज़ाकिर हुसैन निर्वाचित घोषित किये गए और 13 मई 1967 को उन्होंने संसद के केंन्द्रीय कक्ष में अपने पद की शपथ ली। श्री वी. वी. गिरि उपराष्ट्रपति चुने गए।[1]

बाद को दिये गए एक वक्तव्य में डा. ज़ाकिर हुसैन ने कहा, "संपूर्ण राष्ट्र का मैं कृतज्ञ हूं—जनता के प्रतिनिधियों का और आम जनता का भी—कि भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति के ऊंचे पद के लिए मुझ पर भरोसा रखा गया।"

"सचमुच यह एक बहुत बड़ा सम्मान है, कि राष्ट्र ने महज एक अध्यापक को इसके काबिल समझा, एक ऐसे अध्यापक को, जो लगभग सैंतालीस साल पहले यह संकल्प कर चुका था कि अपनी जिंदगी के सबसे अच्छे साल वह राष्ट्रीय शिक्षा को अर्पित कर देगा। मुझे तो यही लगता है कि इस तरह के मेरे देशवासियों ने बिलकुल साफ तौर पर यह स्वीकार किया है कि शिक्षा किसी राष्ट्र के जीवन में पूरी तरह घुली-मिली रहती है बल्कि वस्तुतः वही राष्ट्रीय ध्येय का एक प्रधान उपकरण है।

"मै अपने देशवासियों को यह यकीन दिला सकता हूं कि मुझ पर जो भरोसा किया गया है उसके काबिल बनने का मैं निरंतर प्रयास करता रहूंगा। अपना सार्वजनिक जीवन मैंने महात्मा जी के चरणों में बैठकर शुरू किया था और वही मेरे मार्ग दर्शक और प्रेरक थे।

"अपनी जिंदगी में मैं महात्मा जी की शिक्षाओं में से कुछ पर अमल करने की कोशिश करता आया हूं और, अपने देशवासियों कि सेवा करने का जो यह नया मौका मुझे मिला है उसमें, भरपूर कोशिश करूंगा कि अपने देशवासियों को उसी ओर ले जाऊं जिधर पहुंचने के लिए गांधी जी बराबर जूझते रहे—एक पवित्र जिंदगी, व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में इस बात पर पूरा जोर कि साधन भी लक्ष्य की भांति पवित्र हों, कमजोरों और पददलितों के लिए एक सक्रिय और सतत सहानुभूति और सत्य तथा अहिंसा के आधार पर विश्व में शांति और मानव भ्रातृत्व की स्थापना में मदद देने की पहली शर्त के तौर पर भारतीय जनता के विविध अंशों के बीच एकता गढ़ने की जबर्दस्त ख्वाहिश। इसी को उन्होंने रामराज्य कहा था।

"सब तरफ ही तो झगड़ा है। मेरा उद्देश्य यह रहेगा कि अपने देशवासियों के बीच मेलजोल का भाव बढ़ाऊं ताकि वे सभी कंधे से कंधा मिला कर उन जबर्दस्त कामों में जुट जाएं जो करने को पड़े हैं। देश के कुछ हिस्सों में लोग जो मुसीबतें झेल रहे हैं उनका

[1]श्री गिरि के साथ डा. ज़ाकिर हुसैन के परम सोहार्दपूर्ण संबंध थे। श्री गिरि जब उत्तर प्रदेश के राज्यपाल थे तब 1959 में वह नैनीताल में एक महीने तक उनके अतिथि के रूप में रहे थे।

मुझे बखूबी पता है और मेरा दिल दुख रहा है। खाद्यान्नों की कमी तो जैसे हमेशा ही कहीं न कहीं बनी रहती है। हमें अपनी कमर कस लेनी है और अपने देशवासियों की समृद्धि के इन सभी दुश्मनों से लड़ना है।

''तो आइये, अपने देशवासियों के कष्टों को घटाने के जबर्दस्त काम में जुट जाने के लिए एक बार फिर हम अपने को समर्पित कर दें। मैं इन कामों लिए अपने को एक बार फिर समर्पित करता हूं और कल सुबह सात बजे राजघाट जाकर मैं उस महापुरुष की समाधि पर, जिसने पहलेपहल अपने देशवासियों की सेवा के लिए अपने को समर्पित करने का पाठ मुझे पढ़ाया था, यही करूंगा।

''मैं उम्मीद करता हूं कि आप सभी देश को शक्तिशाली और उसके लोगों को सुखी बनाने के काम में अपने को समर्पित कर देंगे। ईश्वर हममें से हर एक को अपना कर्त्तव्य निभाने की शक्ति दे।''[1]

एक जर्मन अखबार, 'स्यूड्डयूत्श्चे ज्यूटुंग' ने भविष्यवाणी की कि नए राष्ट्रपति की एक स्वतंत्र राजनीतिक भूमिका रहेगी ; दूसरे भी कुछ लोग जरूर ही रहे होंगे जिन्होने आशा की कि वह अधिकारपूर्वक अपनी बात मनवाने की कोशिश करेंगे। उन्होंने ऐसा किया भी जरूर होगा, जो उन संघर्षों से प्रकट है जो उनकी आकस्मिक मृत्यु के बाद उभर कर सामने आ गए। जिन लोगों के साथ उनका वास्ता था उनकी प्रकृति को ही समझ कर ही-और उसे समझ लेना उनके लिए बिलकुल सहज स्वाभाविक था–उन्होंने वह सब किया होगा, क्योंकि बाहर से यह सब कुछ भी नही दिखाई दे रहा था। लेकिन बातचीत के दौरान कभी-कभी वह मुझसे जो कुछ कह डालते थे उससे मुझे यही लगा कि बातें कहने के अपने उस तरीके को कायम रखे हुए थे जिसमें जिज्ञासु श्रोता तो अटकलबाजी ही करता रह जाय, और वह संविधान द्वारा निर्दिष्ट अपनी महान भूमिका को भी पूरा कर सकें। लेकिन उनके जैसे व्यक्ति के लिए अपने को अलग रख सकना मुमकिन हो ही नहीं सकता था। हमें यही मान कर चलना होगा कि अपने सद्भाव द्वारा, जो उनके अंदर प्रचुर मात्रा में था, मेलजोल और सामंजस्य की भावना को बढ़ाना वह अपना एक जरूरी काम मानते होंगे। दूसरी ओर प्रधानमंत्री ने भी, उनके चुनाव के बाद, कहा था कि सेवा में ही समर्पित समूची जिंदगी की बदौलत उन्होंने संपूर्ण राष्ट्र के ही स्नेह, सम्मान, स्वीकृति और सद्भाव को अर्जित कर लिया था।[2] निस्संदेह यह उनका हार्दिक उद्गार था, और उन्हे जिताने के लिए उन्होंने कुछ भी उठा नहीं रखा था। उस उच्च पद पर उन्हें प्रतिष्ठित देख उन्हें बेहद खुशी हुई थी, लेकिन उनकी भी अपनी अलग ही मर्जी थी और वह भी अपनी ही तरीकों से काम करना पसंद करती थीं। फिर भी, उनकी बात सुनने को वह तैयार रहती थीं, और उनकी बात सुनने भर से, जान पड़ता है, उनके लिए और कांग्रेस को अंदर के उनके विरोधियों के लिए काफी फर्क पड़ गया था।

किसी राजनीतिक और संवैधानिक दृष्टि से यह बात निस्संदेह परम महत्त्वपूर्ण थी,

---

[1] ए. जी. नूरानी लिखित, 'प्रेजिडेंट ज़ाकिर हुसैन–ए क्वेस्ट फॉर एक्सेलेंस' पृ. 174

[2] वही, पृ. 104.।

लेकिन इस पर बाहर कोई चर्चा नहीं हुई क्योंकि अखबारवालों को इसका पता ही नहीं चलने पाया। यह बात भी आमतौर पर अज्ञात ही रही आई कि राष्ट्रपति होने के कुछ ही वक्त बाद उनकी गृहमंत्री से मुलाकात हुई थी, और इसलिए, खुद गृहमंत्रालय की सिफारिश पर, वह मृत्युदंडों को आजीवन कारावास के दंडों में परिणत कर देने के अपने अधिकार का भरपूर इस्तेमाल कर सकते थे। जिस बात ने कुछ अनुकूल, और उससे ज्यादा प्रतिकूल, आलोचनाओ को जन्म दिया था वह थी डा. ज़ाकिर हुसैन का श्रृंगेरी के शंकराचार्य और मुनि सुशील कुमार से मिलने के लिए जाना। शनिवार 13 मई के 'स्टेट्समैन' ने निम्नलिखित समाचार प्रकाशित किया था:

''भारत के राष्ट्रपति के पद पर प्रतिष्ठित होने से पूर्व, पी. टी. आई. के समाचार के अनुसार, डा. ज़ाकिर हुसैन शनिवार को दिल्ली में श्रृंगेरी के श्री शंकराचार्य से मिलने के लिए गए और उनसे आशीर्वाद प्राप्त किया।

''जगद्गुरु के चरणों मे फूल और फल रखकर डा. ज़ाकिर हुसैन ने यह कहते हुए उनका आशीर्वाद मांगा, 'आपका आशीर्वाद है।' शंकराचार्य ने निर्वाचित राष्ट्रपति के सिर के ऊपर एक अपना हाथ उठाया और उन्हें आशीर्वाद दिया।

''आशीर्वाद पाने के बाद डा. ज़ाकिर हुसैन ने स्वामी जी के साथ करीब दस मिनट तक बाते की। उसके बाद श्रद्धापूर्वक स्वामी जी के चरण स्पर्श करके डा. ज़ाकिर हुसैन ने बिदा ली।

''जैन मुनि सुशील कुमार का भी आशीर्वाद प्राप्त करने के लिये डा. हुसैन उनसे मिलने गए थे।

''डा. हुसैन एक मामूली दरी पर बैठे जब कि मुनि जी लकड़ी के एक तख्त पर बैठे थे। 20 मिनट तक वे दोनो एक ऐसे कमरे में थे जिसमें कोई पंखा नहीं था।''

इस विवरण में यह बात गलत थी कि उन्होंने शंकराचार्य के पांव छुए थे। खुद डा. ज़ाकिर हुसैन ने एक दोस्त को बताया था कि उन्होंने शंकराचार्य के पांवों में सिर्फ फूल चढ़ाए थे। लेकिन वह वहां गए क्यो थे इसकी उन्होंने कोई सफाई नहीं दी थी। मैंने भी जब यह बात पूछी थी तब भी उन्होंने कोई जवाब नहीं दिया था, और उनकी भावभंगिमा से मैंने यही अंदाज किया कि वह चाहते थे कि इसकी वजह मैं खुद ही समझ लूं।

क्या वह डा. राधाकृष्णन द्वारा शुरू की गई प्रथा का पालन कर रहे थे, जो शंकराचार्य के दिल्ली आने पर हर बार उन्हे मस्तक नवाने जाते थे ? क्या वह बहुसंख्यक संप्रदाय को खुश करना चाहते थे ? क्या यह उनकी अपनी ही आदत थी कि जनता जिन्हें पूजती हो उनके प्रति सम्मान-प्रदर्शन करें ? इनमें से किसी भी सवाल का स्वीकारात्मक जवाब सिर्फ आंशिक रूप में ही सही हो सकता था, पर साथ ही उससे यह भी सूचित होता कि भारत के राष्ट्रपति बनने के बाद उनकी विचार-पद्धति और कार्यपद्धति भी बदली थी। मगर मेरी अपनी राय में, इसकी संभावना कहीं ज्यादा कम थी ; मेरी अपनी राय में वह बिलकुल भी नही बदले थे।

मेरा अपना खयाल यह है कि शंकराचार्य से मिलने के लिये उनके जाने की बात अपने ही संप्रदाय के खिलाफ उनकी उस शिकायत के साथ जुड़ी हुई है जो 1920 व. उस शाम से ही उनके दिल में कसकती रही थी जब कि उन्होंने अपने दोस्तों की भी जबान से महात्मा गांधी के बारे में असम्मानजनक शब्द सुने थे। तब से बराबर ही वह धार्मिक और सांस्कृतिक मामलों में मुसलमानों के विशिष्ट अधिकार का साहसपूर्वक दावा करते आए थे। और वह महसूस करते थे कि इसके बदले में मुसलमान भी हिंदुओं को अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता कायम रखने और उसका दावा करने का अधिकार ईमानदारी के साथ देंगे। मगर उन्होंने ऐसा करने से इंकार कर दिया था। ऐसा करने के लिए निस्संदेह मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और राजनीतिक कारण थे ही, जिनमें सबसे ज्यादा उत्तेजक था, न सिर्फ हिंदुओं के प्रतिक्रियाशील तत्वों द्वारा, बल्कि उन राजनीतिज्ञों द्वारा भी जो यों बहुत ही मैत्रीभाव रखते थे और प्रबुद्ध विचारों वाले थे, इस बात से खुल्लमखुल्ला इंकार करना कि मुसलमानों की कोई पृथक सांस्कृतिक पहचान है। फिर भी, हिंदुओ की सांस्कृतिक सत्ता को स्वीकार करने और उसका सम्मान करने से मुसलमानों का इंकार करना एक इंकार तो है ही और इससे न सिर्फ यह प्रकट हो जाता है कि उनके अंदर उस उदारता का अभाव है जो किसी मुसलमान के लिये करीब-करीब कर्त्तव्य जैसा है, बल्कि यह भी कि उनका दिल सख्त है और उनके अंदर प्रतिशोध की वह भावना है जो खुद उनके लिये भी नुकसानदेह है। डा. ज़ाकिर हुसैन ने अपनी निजी हैसियत मे भी, और जामिया मिल्लिया तथा अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के कुलपति के रूप में भी, मुसलमानों के इस रूप को बदलने के लिये जो कुछ भी मुमकिन था किया। बिहार के राज्यपाल के रूप में उन्हें राज्य के एक उच्च पदाधिकारी की हैसियत से पहली बार हिंदु जीवनपद्धति मे अपनी दिलचस्पी और उसके प्रति अपना गहरा सम्मान दिखाने का मौका मिला था। मुसलमानों को यह बात नापसंद थी, और उनमें काफी लोग यह महसूस करते थे कि एक ऊंचे ओहदे पर पहुंच जाने के बाद उन्हें उससे फायदा उठाकर मुसलमानों को वे सब 'हक' दिलाने चाहिये जिनकी कि वे मांग कर रहे थे। यही उम्मीद उनसे तब की गई जब वह उपराष्ट्रपति हुए। दूसरी ओर, यह बात दिन पर दिन और भी ज्यादा साफ होती गई कि गैर मुसलमान उनके प्रशंसक और विश्वासपात्र बनते जा रहे हैं, क्योंकि वे समझते हैं कि मुस्लिम संस्कृति के वास्तविक मूल्यों का वह सही प्रतिनिधित्व करते हैं। तब फिर वही क्या करते ? उनके गुरु, गांधी जी, ने अपने लोगों द्वारा किये जाने वाले हिंसात्मक कार्यों का प्रायश्चित करने के लिये उपवास किया था। वह उपवास तो कर नहीं सकते थे, इसलिये अपने संप्रदायवालों की संकीर्ण हृदयता के प्रायश्चित स्वरूप वह शंकराचार्य और मुनि सुशील कुमार के पास पहुंचे। आमतौर पर मुसलमानों को यह बात बुरी लगी; कुछ तो गुस्सा भी हुए; कई लोगों ने यह भी कह डाला कि उनके दिल में उनके लिये जो भी इज्जत थी वह भी खत्म हो गई। ईद की नमाज के लिये जब वह पहलेपहल जामा मस्जिद गए तो लोगों ने उन्हें घेर लिया और रस्म के मुताबिक उनसे गले मिले, और भाई चारे का यह इजहार इतने जोश के साथ हुआ कि उनका दिल पिघल गया, मगर आलोचना फिर भी जारी रही। उनके चुनाव के करीब साल भर बाद जब मैं उनसे मिला था तब वह किसी मुसलमान के लिखे एक बड़े ही बेहूदा

खत से तिलमिलाए हुए थे। "लोगबाग अब सिर्फ अपनी जबानों से कोड़े लगाने लगे हैं," वह मुझसे बोले और फिर गालिब का एक शेर कहने लगे-

हक गोयम व नादां ब-ज़बानम देहद आज़ार
यारब चे शुद आं फ़तवः बरदार कशीदन।

अर्थात-

मैं तो सच्ची बात कहता हूं, मगर नादान लोग
अपनी जबानों से मुझे कोड़े लगाते हैं।
या खुदा, क्या मुंसिफ को अब
फांसी के तख्ते और फंदे से परहेज है ?

कोई भारतीय नागरिक जिस उच्चतम पद को प्राप्त करने की आकांक्षा कर सकता है उस पर डा. ज़ाकिर हुसैन के पहुंच जाने के बाद की दास्तान शुरू करने का यह कोई बड़ा अच्छा तरीका जरूर दिखाई नहीं देगा। लेकिन दुर्भाग्यवश उनका वह कार्यकाल इसी घटना से शुरू होता है। इसके अलावा, किसी दूसरे ढंग से इसे शुरू करना एक तरह से डा. ज़ाकिर हुसैन की गलत तस्वीर पेश करना होगा। ऊंचे पदों तक पहुंचने की उनकी तमन्ना यों तो थी ही नहीं, लेकिन अगर वह कभी रही भी हो, तो उसके पूरे होने पर उनके लिये उस पर इठलाना तो बिलकुल नामुमकिन था। ज्यादा इज्जत मिलने का उनके लिये मतलब था औपचारिक प्रतिष्ठा को व्यक्तिगत नम्रता के साथ,[1] अधिकार और प्रभाव को न्याय भावना के प्रति और भी ज्यादा गहरी श्रद्धा के साथ, एक उच्च सार्वजनिक पद पर रहने के बोध को अपनी खुद की सीमाओं के और आम लोगों की अभावग्रस्तताओं के साथ, मिलाकर चलने का और भी बड़ा कर्त्तव्यबोध। इस कर्त्तव्यबोध को सफलतापूर्वक निभाने की वजह से ही वह इतनी ज्यादा प्रतिष्ठा पा सके और सच्चे भारतीय के आदर्श रूप को, जिसे तैयार करने मे वह जिंदगी भर लगे रहे, पूरी तरह रच सके।

27 दिसंबर 1967 को पटियाला में पंजाबी विश्वविद्यालय के गुरुगोविंद सिंह भवन का शिलान्यास करते हुए उन्होंने जो भाषण दिया था वह शायद इस बात का सबसे अच्छा उदाहरण होगा कि इस रूप को रचने के लिये उन्होंने कितने प्रचंड आवेग और कितनी बड़ी निष्ठा के साथ प्रयत्न किये थे। उनका यह भाषण एक गद्यकाव्य जैसा था। इसे लिखते

---

[1]उनकी बेटी सईदा से मुझे पता चला कि फरवरी 1969 मे जब कि वह इनफ्लूएंज़ा के बाद अच्छे हुए थे और उनके चिकित्सकों ने उन्हें कुछ देर तक टहलने की इजाजत दे दी थी, या बीच-बीच में सुस्ता लेने पर ज्यादा देर तक टहलने की भी, तब वह बगीचा देखने के लिये चल दिये। उनके निजी चिकित्सक और 'एडीसी' लोगो के अलावा कुछ और लोग भी उनके साथ थे। रास्ते में जहां-जहां भी कोई बेंच आई, कुछ देर सुस्ता लेने का उनसे अनुरोध किया गया। लेकिन पूछताछ करते और हिदायते देते वह बराबर आगे ही बढ़ते चले गए। जब वह अपने कमरे में वापस आए और उनसे पूछा गया कि बीच-बीच में वह सुस्ताए थे या नहीं, तो बोले, "सुस्ताता कैसे ? सभी जगह तो सिर्फ चार-पांच आदमियो के बैठने की जगह थी, और मेरे साथ थे कुल मिलाकर आठ-दस लोग।"

वक्त़ वह रो रहे थे और उसे सुनते वक्त उनके श्रोताओं की भी आंखे भर आईं थीं ।[1] किसी आदर्श के लिये किसी के उस जबर्दस्त प्यार का यह उदाहरण था जो दिल के बांध को तोड़कर उमड़ पड़ता है और उस प्रेमी की आंखों से मोतियों की नाईं टपकने लगता है।

''आप लोगों के बीच आज की अपनी मौजूदगी को मैं अपने लिये एक बहुत बड़े सौभाग्य की बात मानता हूं और कुलपति का मैं दिल से शुक्रगुजार हूं कि गुरुगोविंद सिंह भवन का शिलान्यास करने के लिये उन्होंने मुझे चुना। लेकिन मुझे कबूल करना होगा कि जब उन्होंने खुदा रसीदा (बड़े पहुंचे हुए संत), आध्यात्मिक ज्ञान के आगार, हजरत मियां मीर बली के ही साथ-साथ, जिनके करकमलों ने अमृतसर के दरबार साहब का शिलान्यास किया था, मुझ जैसे नाचीज का नाम उसी सांस में ले डाला, तो मैं घबराहट और शर्म से गड़ गया। मुझ जैसे अधम प्राणी का नाम इस तरह के पवित्र कामों के साथ भला कैसे जोड़ा जा सकता है ? आध्यात्मिक जगत के साथ भला मुट्ठीभर धूल का क्या संबंध हो सकता है ?'

''लेकिन हां, दीन और मजहब की दुनियां में यह बात आम रही है कि बड़े अपने बड़प्पन के और अपनी अच्छाई के जरिये अधम और पतित लोगों को सहारा दें। अल्लाह से यही दुआ मांगता हूं कि आपने मेरे ऊपर जो मेहरबानी की है उसी की खातिर वह मुझे इस शानशौकत वाली जगह पर वही सच्चाई, ईमानदारी और सेवा भावना दे दे जो किसी भिखारी को नसीब है। कुलपति महोदय, आपने मुझ पर इतनी बड़ी मेहरबानी की है और मुझे इतनी बड़ी इज्जत बख्शी है कि तहे दिल से मैं आपका शुक्रिया अदा करता हूं और महज इतना ही चाहता हूं कि काश मैं किसी हद तक भी अपने को उसके काबिल बना पाता।

''जो भी हो, मेरी हार्दिक बधाई तो स्वीकार करें ही, कि आप लोग एक बड़े और प्रशंसनीय काम में आगे बढ़े। धर्मों के एक तुलनात्मक अध्ययन का काम जितना अच्छा हमारे देश में हो सकता है उतना और कहीं भी नहीं, मगर जहां दूसरे देश इस पर बहुत ज्यादा काम कर रहे हैं, हम सिर्फ शुरुआत कर रहे हैं। लेकिन एक बार शुरुआत करने भर कि देर है, कि हमारे कदम कहीं ज्यादा तेजी से बढ़ेंगे। विभिन्नता में एकता की खोज करने की, विरोधों के बीच समन्वय स्थापित करने की, उद्देश्य का सामंजस्य उत्पन्न करने की बात तो करीब-करीब हमारी प्रकृति में ही समाई हुई है। हमारे देश, हमारे घर, का तो मानो निर्माण ही इसी ढंग से हुआ है। और अपनी मातृभूमे भारत की एक झांकी हमें इस 'भवन' में मिलेगी। मगर मैं समझता हूं कि भारतवासी अपने देश के साथ अपना संबंध तभी समझ सकता है जब कि अपने देश का, अपने घर का, मतलब वह ठीक-ठीक महसूस कर लेता है। बच्चे का घर है मां के गोद की आरामदेह और मीठी गरमी। जब वह बढ़ने लगता है तब उसके मां-बाप जिस झोपड़ी या महल में रहते हैं वही उसका घर

[1]देखिये, 6 जलाई 1969 का 'दि इलेस्ट्रेटेड वीकली ऑफ़ इंडिया'।

हो जाता है । बाद को, पूरा गांव या शहरी पड़ोस, घर जैसा दिखाई देने लगता है । फिर उसके आसपास की चीजें, वे दरख्त, जिन्हें वह पहचानने लगा है, चिड़ियों की चहचहाहट, वे जानवर और लोगों के वे चेहरे, जिन्हें देखने का वह आदी बन चुका है, ये सभी उसके घर का सामान बन जाते हैं । धीरे-धीरे इस घर में न सिर्फ भौतिक चीजों का समावेश होने लग जाता है, बल्कि उनके भी परे, विचारों और आदर्शों तक का । तब तो वह संस्कृति, जिस पर लोगों ने, सभी तरह के लोगों ने अपनी मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियों का प्रभाव डाला है, धर्म और आस्था वाली बातें, कलाएं, साहित्य, इतिहास, लोग जो बातें कह गये हैं, वे जो कुछ कर गये हैं उनकी स्मृतियां, यह सब, और इनके अलावा भी बहुत कुछ, उसके घर के अंश बन जाते हैं । और इस तरह होता यह है कि घर का आंगन ही बढ़कर सारा देश बन जाता है, उसके निवासी एक परिवार के ही सदस्यों नाईं उस घर में उसके साथ-साथ रहते हैं; राष्ट्र, या राज्य, सिद्धांतपूर्ण और ईमानदारी की जिंदगी बिताने वाले लोगों के अपने इतिवृत्त के साथ, इतिहास की अपनी संचित निधि और संस्कृति के कीमती खजाने को लिये हुए, अपने महापुरुषों की महानता और नेक लोगों की अच्छाइयों सहित, इस घर का ही एक हिस्सा बन जाता है । मां की गोद, गांव, या शहरी पड़ोस, निकट का टीला या सोता; फिर, प्रांत, एक ही बोली बोलने वालों और एक ही मजहब को मानने वाले लोग, सभी इस घर में आते हैं, और कौन कह सकता है कि धीरे-धीरे इस घर में क्या-क्या शुमार होने लग जाता है: हिमालय और विंध्य पर्वत श्रेणी, गंगा और यमुना, ब्रह्मपुत्र, कृष्णा और कावेरी, बद्रीनाथ और रामेश्वरम, शंकराचार्य और रामानुज, अशोक और अकबर, नानक और कबीर और गोबिंद सिंह, अजमेर के मुईनुद्दीन और ख्वाजा निजामुद्दीन, सूरदास, तुकाराम और मीराबाई, कालिदास और तुलसीदास, गालिब और अनीस, वल्लथोल और टैगोर, गांधी और अबुलकलाम, जवाहरलाल नेहरू, ये सब, और उनके अलावा भी कितने लोग, अपने नामों और अपनी उपलब्धियों के साथ, घर का रूप ले लेते हैं । और ये सब वही आनंद और वही मीठी गरमी देते हैं, वही दिलासा और वही ताकत, जो पहलेपहल मां की गोद में मिलती है । यह बड़ा घर वही आसक्ति उत्पन्न कर देता है, वही प्यार, और इसकी सेवा और रक्षा करने के लिये दिल के अंदर वही जोश उमड़ पड़ता है जो मां की सेवा और रक्षा करने के लिये उमड़ता है । मुझे पूरी उम्मीद है कि उस बड़े घर के अंदर जिसे कि हम भारत कहते हैं, पंजाब विश्वविद्यालय के अंदर बनने वाला यह घर, यह गुरु गोविंद सिंह भवन, आप लोगों के दिल में और दिमाग में अपने घर की ही भावना को मजबूत करेगा । मुझे यकीन है कि जो लोग यहां काम करते हैं और जो इस संस्था से लाभ उठाते हैं, वे सभी उस व्यक्ति की महानता को चरितार्थ करेंगे जिसके नाम पर यह भवन बन रहा है ।"

"गुरु गोविंद सिंह जी की समूची जिंदगी त्याग, परिश्रम, शिक्षाकार्यों, सामरिक प्रतिभा, संगठनशक्ति, बेजोड़ बहादुरी, असीम कृपालुता और अथाह प्रेम की ही एक अद्वितीय गाथा है । इस गाथा से ऐसी सख्तियों को झेलने की बातें मिलती हैं जो दिल को दहला देती हैं, और सफलता की भी ऐसी बातें जो हमारे अंदर साहस और उम्मीद भर देती

हैं। अगर अपने भोलेपन में कोई शख्स अपने को यह धोखा दे सकता है कि बिना सख्तियां झेले ही सफलताएं मिल सकती हैं तो यह कहानी उसे साफ दिखा देगी कि किसी ईश्वरोपासक का जीवन, कोई सुंदर निर्मल और ऊंचा जीवन, सस्ते दामों पर नहीं खरीदा जा सकता। गुरु गोविंद सिंह जैसी सूक्ष्म दृष्टि, साहस, और निष्ठा वाले लोग हर रोज नहीं पैदा हुआ करते। क्योंकि, ऐसी कौन-सी चीज रह गई थी जिसे ईश्वरोपासक व्यक्ति ने परमात्मा के चरणों में अर्पित न कर दिया हो ? अपने पिता को, अपने प्यारे बेटों को जो उनकी आंखों के तारे थे, अपने दुस्साहसी वीर साथियों को जिनके प्रति वह अपनी संतान से भी बढ़कर कृपालु थे, सभी को तो उन्होंने न्यौछावर कर दिया था। हर तरह की विपत्तियों को झेलते हुए वह खानाबदोश की ही तरह रहे, और सख्त से सख्त मुसीबतें उठाईं; उनके कितने मोह टूटे और कितनों ने ही उनके साथ बेवफाई की, और, आखिरी बलिदान के रूप में, उन्होंने अपनी जान ही दे दी। ऐसी एक भी बात नहीं थी जिसने पल भर के लिए भी उनके साहस को डिगाया हो, या उनके आत्मविश्वास को ही, जो किसी पर्वत की तरह शान के साथ अडिग और ऊंचा खड़ा रहा। अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये जो इस कदर डटा रहे, विरोधों का मुकाबला करने का जिसका संकल्प इतना दृढ़ हो, उसे इतिहास सफल किये बिना नहीं रह सकता। इस सिंह को सभी के खिलाफ मोर्चा लेना पड़ा था—पहाड़ी राजाओं की, बराबर बनी रहने वाली, द्वेषभावना और शत्रुता के खिलाफ, स्थानीय अधिकारियों के कुचक्रों, उनकी प्रतिद्वंद्विताओ, उनकी क्रूरता और कड़ाई के खिलाफ, मुगल साम्राज्य की शक्तिमत्ता, रौबदार शानशौकत, घमंड और हेकड़ी के खिलाफ। लेकिन मनुष्यों के एक ऐसे संप्रदाय को गढ़ने के अपने संकल्प को उन्होंने पूरा करके ही दम लिया जो अच्छाई और सच्चाई के पक्ष में लड़ेंगे, जो क्रूरता और अत्याचार से उनकी भी रक्षा करेंगे, जो उनके अपने संप्रदाय के नहीं हैं, जो एक ही परमात्मा की सर्वोच्चता की घोषणा करेंगे, जो उस परमात्मा को छोड़ और किसी के भी आगे सिर नहीं झुकाएंगे और जिनके दिलो में ईश्वर का ही डर होगा— यह सभी उन्होंने एक टिकाऊ और पक्की नींव पर खालसा की स्थापना करके कर डाला। गुरु गोविंद सिंह का यह काम इतना शानदार था कि उनका नाम इतिहास के पृष्ठों पर हमेशा के लिये लिखा रहेगा। सिर्फ इतिहास के ही पृष्ठों पर नहीं, बल्कि ऐसे अगणित मनुष्यो के हृदयों पर, जिनके लिये उनका नाम शक्ति और बहादुरी का मंत्र बन जाएगा, जिनके अंदर वह धार्मिक जोश और उच्च आकांक्षाएं जाग्रत करेगा, जिन्हें वह सत्य पर अटल रहना, ईश्वर से, और सिर्फ ईश्वर से ही डरना सिखाएगा, और जिनके अंदर वह उनके पदचिह्नों पर चलने के संकल्प पर डटे रहने की शक्ति भर देगा।

"मानव प्रकृति जब तक अन्याय और अत्याचार के प्रति घृणा से अनुप्राणित है, मनुष्यों के अंदर जब तक इस बात का साहस है कि अपने अंतःकरण की धीमी मगर साफ आवाज को वे राजनीतिक सत्ता के भय और आतंक के सामने, चाहे वह कितना ही प्रचंड क्यों न हो, दबने न दें, मनुष्यों के हृदय जब तक नीतिपरायणता और न्याय की रक्षा करने के

जबर्दस्त जोश से आंदोलित होते रहेंगे, राजनीतिक मामलों में पक्षपात और धार्मिक मामलों में बाह्यआडंबर के मोह के खिलाफ भले और सच्चे लोगों के अंदर जब तक नफरत कायम है, तब तक दुनिया गुरु नानक और उनके यशस्वी उत्तराधिकारी गुरु गोविंद सिंह को नहीं भूल सकती।''

''इस संस्था को आपने गुरु गोविंदसिंह के नाम पर बनाया है; तो फिर उन्हीं के गुण इस संस्था के कार्यों को प्रेरणा देते रहें।''

किसी राष्ट्रपति को तो अपने व्यक्तिगत विचारों को सार्वजनिक रूप में प्रकट करने के मामले में, किसी उपराष्ट्रपति या राज्यपाल के मुकाबले भी, कम आजादी रहती है। निजी बातचीत के दौरान भी राज्य के मुख्य की उनकी हैसियत का तकाजा यही है कि वह अधिक-से-अधिक कौशल से काम ले। लेकिन किसी भारतवासी से यह तो कहा ही जा सकता है कि वही अपने देश के लिये आशा-स्वरूप है, और इस तरह की तारीफ अगर किसी राज्य की जाए तो, बिना किसी की कोई क्षति किये, राजनीतिक दृष्टि से यह कारगर भी हो सकती है। बिहार को उन्होंने भारत का हृदय कहा था। मैंने सुना है कि उन्होंने तमिलनाडु के मुख्यमंत्री से कहा था कि उनका राज्य ही भारत के लिये आभास्वरूप है। मैंने सुना कि इसी तरह की तारीफ कुछ समय पूर्व उन्होंने एक मंत्री से बात करते वक्त की थी। अंतर्राष्ट्रीय तमिल सम्मेलन में उन्होंने जो भाषण दिया था उससे निश्चय ही हर तमिलभाषी को अपनी संस्कृति पर, अपने राज्य पर—और अपने देश पर, गर्व हुआ होगा। मेरे पास कोई निश्चयात्मक, वस्तुनिष्ठ, साक्ष्य तो नहीं है जिससे मै अपने मत की पुष्टि कर सकूं, लेकिन मेरा ख्याल है कि एक उत्तर भारतीय राष्ट्रपति द्वारा तमिलनाडु की सांस्कृतिक सत्ता के स्वीकार किये जाने का उत्तर और दक्षिण के बीच की तनातनी को दूर करने मे कुछ-न-कुछ हाथ जरूर रहा होगा।

डा. ज़ाकिर हुसैन अगर अपने पद पर उसकी पूरी अवधि तक रह पाते तो भारत में उसके जिस रूप की रचना के काम में वह लगे हुए थे उसे, अपनी विदेशयात्राओं द्वारा, एक- दूसरे क्षेत्र में भी आगे ले जाते। फिर, जुलाई 1968 में हुई उनकी सोवियत रूस की यात्रा ने एक ऐसी जरूरत भी पूरी की जिसे जवह खुद भी जरूर महसूस करते रहे होंगे। वेर्नर सोंबार्ट के एक विद्यार्थी के नाते उन्होंने आर्थिक विकास और न्याय के प्रति एक ऐसा दृष्टिकोण बना लिया था जिसके कारण पूंजीवादी और मार्क्सवादी दोनों ही विचारधाराओं के निरूपणों के पीछे छिपी वास्तविकता को वह देख सकते थे। समाज के सहकारी, समाजवादी, ढांचे में उनकी पक्की निष्ठा थी, लेकिन उन्हें उस ढीले-ढाले चिंतन का, दोषपूर्ण आयोजन का, और संशयपूर्ण कार्यान्वयन का भी पता था जिसके फलस्वरूप भारत में इस आदर्श पर उस तरह नहीं चला जा रहा था जिस तरह कि चला जाना चाहिये था। मुझे याद नहीं कि सोवियत संघ में उनके मन पर जो छाप पड़ी उसके बारे में उन्होंने मुझे कुछ भी बताया था; दूसरी ओर उन्हें जानने वाले सभी दूसरे व्यक्तियों की तरह मुझे भी यह यकीन है कि बौद्धिक रागद्वेष से वह मुक्त थे और इसलिये सोवियत संघ को मिलने वाली

ठोस और शानदार उपलब्धियों की सिर्फ इसी आधार पर वह उपेक्षा नहीं कर दे सकते थे कि वे उस विचारधारा और कार्यपद्धति का परिणाम थीं जिनके साथ उनका मतैक्य प्रकट नहीं था। भारत में जिन सोवियत वैज्ञानिकों और विद्वानों से उनकी मुलाकात हुई थी उनके वह बड़े प्रशंसक थे, और सोवियत संघ और भारत मे जब-जब वह सोवियत संघ और भारत के बीच सौहार्द और सहयोग की स्थापना के बारे में बोले थे तो साधारणतः जिस अर्थ में राजनीतिज्ञ लोग इस तरह की बातें कहते है उससे कही ज्यादा गंभीर अर्थ में उन्होंने यह बात कही थी।

सरकारी और राजनयिक कामकाज के अलावा भी, उनकी दिनचर्या का प्रमुख भाग, पहले ही की तरह, मुलाकातियों से मिलने-जुलने का रहता था। बल्कि, विभिन्न प्रकारों से सहायता की मांग पहले से और बढ़ी ही दिखाई देती थी। लेकिन डा. ज़ाकिर हुसैन का लचीलापन किसी जादू के चमत्कार जैसा था। कहते वह यही थे—पहले से कहीं ज्यादा बार, और कहीं ज्यादा दर्द के साथ—कि उनका कोई दोस्त नहीं है, लेकिन उत्कृष्टता की उनकी तलाश कायम थी, और जहां भी उन्हें दिखाई पड़ जाती थी, वह उसकी कद्र करते थे।[1] गुलाब के शौकीन वह थे ही, और गुलाब के शौकीनों के अपने दायरे को वह बढ़ाते रहे। श्रीमती कांता डोगरा इकेबाना शैली में फूलों की सजावट करके उनके निजी कमरों को नई ताजगी देती रहती थी। कलाकारों को अपनी कलाकृतियों मे उनकी दिलचस्पी से अब भी प्रोत्साहन मिलता रहता था। नेशनल बुक ट्रस्ट ने अपने द्वारा आयोजित पुस्तक-मेले का उद्घाटन करने का उनसे अनुरोध किया था। प्रदर्शनी में घूमते-घूमते किसी वक्त वह पूछ बैठे, कि मकतबा जामिया का भी कोई प्रदर्शन-कक्ष वहां है क्या ? जब बताया गया कि मकतबा का भी प्रदर्शन-कक्ष है, तो वह वहां जा पहुँचे और यह देख चकित रह गए कि किताबे बड़ी ही खूबसूरती के साथ सजाई गई है। जामिया मिल्लिया के इस प्रकाशन विभाग के ही नहीं जामिया मिल्लिया के भी निर्माण के लिए किए गए संघर्ष की यादें निश्चय ही दिल के अंदर उमड़ उठी होंगी, और उनकी आंखे खुशी के आंसुओ से छलछला रही थीं।

मुझे याद है कि 1947 में, जबकि दंगों की वजह से खतरा पैदा हो गया था कि जामिया मिल्लिया को अपने अहाते से उठ जाना होगा, डा. ज़ाकिर हुसैन ने मुझसे कहा था कि हम लोग सभी चीजों को ऐसी हालत में छोड़कर जाएं कि हमारे बाद जो वहां आकर रहें वे यह समझ सकें कि हम इसे प्यार करते थे, और दो निम्नस्तरीय सहयोगियों के साथ मेरे ही सुपुर्द यह काम हुआ कि बगीचे को ठीक हालत में रखा जाए। जहां कहीं वह खुद कुछ लंबे अरसे तक रहे, उन्होंने भी इसी नियम को निभाया। अलीगढ़ में विश्वविद्यालय का अहाता और कुलपति निवास, ओखला में उनका अपना घर, पटना का राजभवन, नं

[1]अक्टूबर 1918 में नेपाल की अपनी यात्रा पर से लौटते वक्त उन्होंने दूतावास के सचिव और उनके धोबी पर खास तौर से मेहरबानी की नजर रखने की राजदूत से सिफारिश की थी।

6, मौलाना आजाद रोड–ये सभी उनके इस नियम पर चलने के ज्वलंत उदाहरण है। यहां तक राष्ट्रपति भवन भी, जहां कोई भी कमी नहीं दिखाई देती थी, किसी हद तक दूसरा ही लगने लगा था। बगीचा देखकर लगता था कि उनकी उसमें गहरी व्यक्तिगत दिलचस्पी है, गुलाबों की नई-नई क्यारियो की वजह से उनकी बहार में सघनता आ गई थी, और फूलो वाली कितनी ही बेलें भी, और पत्तो की बहार के लिए मशहूर पौधे! उत्तरी बाजू वाले कुछ गलियारों में मैंने देखा कि पुरानी तस्वीरों की मनहूसियत को रोशन खुशनवीसी की खूबसूरती ने दूर कर दिया है।

3 मई 1969 को सबेरे डा. ज़ाकिर हुसैन को लगा कि असम और नेफा के दौरे के कुछ दिन पहले लौटने पर उन्हें जो थकान महसूस हुई थी वह अब दूर हो चुकी है। उन्होंने अपनी हमेशा की दिनचर्या शुरू कर दी, और तभी उनके चिकित्सक लोग भी उनके स्वास्थ्य की परीक्षा के लिए आने वाले थे। करीब पौने ग्यारह बजे तक वे सब-के-सब इकट्ठे हो चुके थे, मगर उन्हें कुछ देर इंतजार करने के लिए कहकर वह गुसलखाने चले गए। वे लोग इंतजार ही करते रहे, मगर वह लौटकर नहीं आए। उनकी निजी नौकर इशाक को, जो करीब बीस साल से बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ उनकी खिदमत करता आया था और उनके साथ कड़ाई से पेश आने वाला अकेला आदमी था, फिक्र हुई और उसने दरवाजा खटखटाया। जब उसे कोई जवाब नहीं मिला तो दूसरी ओर जाकर उसने रोशनदान पर चढ़कर वहां से अंदर झांका। उसने देखा, उसके मालिक दरवाजे के पास ढेर हुए पड़े है। उसे खोलने जाकर वह वही गिर पड़े। चिकित्सको ने कुछ भी उठा नहीं रखा था, लेकिन उनके थके हुए दिल की धड़कन को फिर चालू नहीं कर सके। कुछ ही देर बाद समाचार प्रसारित हो गया कि राष्ट्रपति चल बसे।

मुजदए सुबहः दरीं तीरा शबानम दादंद
शमा कुश्तंदो जे खुर्शीद निशानम दादंद

अर्थात्–

जिंदगी की अंधेरी रात में सुबह की खबर आई–
एक दीया बुझ गया, मगर सूरज आ रहा था

सभी ओर गम छा गया। सभी राज्यों के उच्च अधिकारी और सैकड़ो-हजारो उनके देशवासी उनके शव के समक्ष श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए आने लगे, जिसे सार्वजनिक दर्शन के लिए लिटा रखा गया था। दो दिन बाद उन्हें सामरिक सम्मान के साथ दफनाया गया, और अपार जन समूह ने उसी सुव्यवस्था का परिचय दिया जो खुद उन्हें बेहद पसंद थी। भारतीय इतिहास में ही नहीं शायद मुस्लिम इतिहास मे भी पहली बार, स्त्रियों की एक बड़ी संख्या ने, जो मुसलमान भी थीं और गैर मुसलमान भी, कब्र में तीन मुट्ठी मिट्टी फैंकने की रस्म अदा करके, उनके इस अंतिम संस्कार के वक्त, सभी मानव-संबंधों को विशुद्ध मानवता का रूप देने और धार्मिकता तथा श्रद्धा सम्मान के कृत्यों में सभी को एक करने के दिवंगत राष्ट्रपति के आदर्श को निभाया।

आज भी वह जामिया मिल्लिया के ही अहाते में, करीब एक सौ फुट लंबे और उतने ही चौड़े, प्राकृतिक चबूतरे के नीचे दफ्न हैं, जिनके पूरब में एक स्कूल है, उत्तर में एक मस्जिद, और पश्चिम में एक पुस्तकालय। उन्हें दफ्न करने के लिए इससे अधिक उपयुक्त दूसरी कोई जगह नहीं हो सकती थी। वह उस जगह शांति की नींद में सोए पड़े हैं जिसके चारों ओर ही वह सब था जिसे वह अपने जीवन को सार्थक बनाने वाला समझते थे—विकासोन्मुख मस्तिष्क, ज्ञान और प्रार्थना।

श्री अवतार प्रिन्टिंग प्रैस, निरंकारी कालोनी, दिल्ली-110009 द्वारा मुद्रित